Nav Jyoti, Vol. 13, No. 26, January-June 2025 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

काकोरी ट्रेन एक्शन और समकालीन हिन्दी पत्रकारिता

अनुराग
शोध छात्र–इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा,
उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो0 संतोषा कुमार
इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा,
उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

असहयोग आन्दोलन के पश्चात उत्तर भारत में क्रांतिकारी तत्वों की बिखरी हुई शक्ति के एकत्रीकरण का परिचय एवं उनके द्वारा सशस्त्र क्रांति की दिशा में किए गए प्रयासों की प्रथम परिणति काकोरी ट्रेन एक्शन (पुराना नाम काकोरी ट्रैन षडयंत्र था, 2021ई0 में उत्तर प्रदेश सरकार ने बदल दिया) की घटना थी। यह घटना इतिहास में एक अमिट अध्याय बन गयी। जिसने न केवल औपनिवेशिक सत्ता की नींव हिला दी। इस घटना को लगभग दस क्रांतिकारियों ने अंजाम दिया था जिसका नेतृत्व राम प्रसाद बिस्मिल ने किया था। इस घटना के संदर्भ में व्यापक गिरफ्तारियाँ हुयी। यह घटना भारत की क्रांतिकारी चेतना का सुनियोजित प्रकटीकरण था। इस घटना को एक क्रांतिकारी घटना से एक जन आंदोलन और राष्ट्रीय गौरव में बदलने का श्रेय उस समय के हिन्दी समाचार पत्रों एवं संपादकों को जाता है। इस शोध पत्र का केन्द्रीय विषय उस दौर के प्रमुख हिन्दी समाचार पत्रों– आज, सैनिक, प्रताप, शक्ति, स्वेदश, अभ्युदय, वर्तमान, देशभक्त आदि की भूमिका का गहन विश्लेषण करता है। साथ ही काकोरी घटना के शताब्दी वर्ष पर हिन्दी पत्रकारिता के उस योगदान, साहस और राष्ट्रवादी चेतना का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

1920ई0 देश की राजनीति में युग परिवर्तन का वर्ष था। ब्रिटिश सरकार की दमनकारी नीति और अत्याचार ने गाँधी जी की सोच को बदल दिया था और गाँधी जी सरकार के विरोध में हो गए थे। जलियावाला बाग हत्याकाण्ड और उसके बाद ब्रिटिश सरकार के रवैये से आहत होकर गाँधीजी ने उस समय के उभरते हुए जन–आन्दोलन का नेतृत्व संभाला और ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध अहिंसात्मक असहयोग की योजना तैयार की। सितम्बर 1920 में कलकत्ता कांग्रेस व विशेष अधिवेशन में कांग्रेस ने निवेदन, प्रार्थना और विरोध का मार्ग त्यागकर गाँधी जी वे अहिंसात्मक असहयोग की नीति को स्वीकार किया गया। दिसम्बर 1920 में नागपुर में हुए कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में असहयोग प्रस्ताव के पुनः दोहराया गया और कांग्रेस का लक्ष्य शान्तिमय एवं उचित उपायों से स्वराज प्राप्त करना घोषित किया गया। 1920 देश की राजनीति के साथ–साथ हिन्दी पत्रकारिता के विकास की दृष्टि से भी उल्लेखनीय वर्ष रहा है। ''डॉ0 रामरतन भटनागर के अनुसार यही से राजनीतिक पत्रकारिता का युग शुरू होता है।''[1]

असहयोग आन्दोलन के प्रथम चरण में ब्रिटिश सरकार के प्रति असहयोग का प्रभाव नई कौंसिलों के चुनाव पर पड़ा। ''बहुत सारे प्रत्याशी मैदान से हट गये, लगभग 80 प्रतिशत मतदाताओं ने मतदान का बहिष्कार किया और कई मतदान स्थलों पर मतदान के बक्से खाली मिले।''[2] इस आंदोलन में हिन्दू–मुसलमानों ने समान रूप से भाग लिया था। विद्यार्थी स्कूल–कॉलेज छोड़कर आंदोलन का हिस्सा बन गये। स्वदेशी वस्त्रों का निर्माण और प्रयोग तेजी से होने लगा। कांग्रेस की सदस्य बढ़कर 50 लाख हो गई।[3] इस तरह 1921 में आंदोलन पूरी गतिशीलता के साथ सफल रहा।

असहयोग आंदोलन के दौरान ब्रिटिश सरकार की दमनात्मक नीति का सबसे क्रूर परिचय 19 नवम्बर 1921 को दिखा, जब युवराज प्रिंस ऑफ वेल्स का भारत आगमन हुआ। कांग्रेस ने इस आगमन के विरोध में युवराज के स्वागत का बहिष्कार तथा देशव्यापी हड़ताल का प्रस्ताव पारित किया। इस समय के सभी प्रमुख पत्र–पत्रिकाओं ने देशव्यापी हड़ताल और बहिष्कार का समर्थन किया। फलस्वरूप जनमानस ने इसका समर्थन किया। 17 नवम्बर को पूरे देश में विभिन्न स्थानों पर विदेशी वस्त्रों की होली चलाई। बम्बई में 17 से 21 नवम्बर के बीच भीषण दंगे हुए। जिसमें बहुत सारे लोगों की मृत्यु हुई और बहुत से लोग घायल भी हुए। ब्रिटिश सरकार ने बम्बई में 5 दिनों तक भीषण ताण्डव किया।

पंडित नेहरू के शब्दों में अहिंसात्मक असहयोग आंदोलन सिर्फ निष्क्रिय प्रतिरोध ही नही अपितु एक सक्रिय आंदोलन था। इस आंदोलन के दबे हुए, पिछड़े तथा बटे हुए किसान को भी उनके अधिकारों के प्रति जाग्रत किया। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ क्षेत्रों के किसानों ने अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए ताल्लुकेदारों के विरूद्ध विद्रोह कर दिया। ब्रिटिश सरकार द्वारा इस विद्रोह को दबाने के लिए की दमनात्मक कार्यवाहियों से अनेकों किसानों को अपनी जान गवांनी पड़ी। 1921 के अन्त तक इस आंदोलन से सम्बद्ध हिंसात्मक घटनाओं की संख्या लगभग 40 हो गयी थी और 1922 के अन्त तक राजनीतिक बंदियों की संख्या 30 हजार हो गयी थी। इसी वातावरण में दिसम्बर 1921 में अहमदाबाद में हुए कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में आंदोलन को और तीव्र करने का निर्णय लिया गया। फलस्वरूप 1922 में अहिंसात्मक आंदोलन ने हिंसात्मक रूप धारण कर लिया।

ब्रिटिश सरकार के दमन और अत्याचार के खिलाफ पूरे देश में हिंसात्मक घटनाएँ हो रही थी। ''इसी क्रम में 5 फरवरी 1922 को गोरखपुर जिले के चौरी–चौरा थाने में असहयोगी स्वयंसेवकों की क्रूद्ध भीड़ ने आग लगा दी जिसमें पुलिस के दो सब इंस्पेक्टर, 18 सिपाहियों और एक चौकीदार जलकर राख हो गये।'' चौरी–चौरा की इस घटना ने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को एक नये मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया। गांधी जी ने 12 फरवरी 1922 को बारडोली की कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक में जनता की इस अमानवीय हरकत को देखते हुए आंदोलन को स्थगित करने का निर्णय लिया। उग्र रूप से चल रहे आंदोलन के स्थगन से कुछ कांग्रेस नेता क्रुद्ध हो गये। चितरंजन दास, सुभाषचंद्र बोस, उत्तर भारत में मोतीलाल नेहरू और दक्षिण में एन0सी0 कलेकर जैसे नेताओं ने आंदोलन के स्थगन के विरोध में असंतोष व्यक्त किया। अनिश्चितता के इस वातावरण में कांग्रेसी नेताओं में पुनः दो विचारधाराएँ प्रकट हुयी।

असहयोग आंदोलन की असफलता ने क्रांतिकारियों की बिखरी हुई शक्ति को पुनः सजीवता प्रदान की। देश में क्रांतिकारी गतिविधियाँ तेज हो गयी। बंगाल क्रांतिकारी आंदोलन का प्रमुख केन्द्र बन चुका था। वहाँ दिसम्बर 1923 में छोटी–मोटी घटनाओं के अतिरिक्त आसाम–बंगाल रेलवे की 17 हजार रूपये की सम्पत्ति की लूट चार सशस्त्र युवकों द्वारा की गई। 1924 में गोपी मोहन साहा नामक एक क्रांतिकारी ने एक अंग्रेजी अधिकारी की हत्या कर दी। बाद में साहा को फाँसी हो गयी। इस तरह की बहुत सारी क्रांतिकारी गतिविधियों बंगाल में हुयी। ब्रिटिश सरकार ने क्रांतिकारी गतिविधियाँ पर अंकुश लगाने के लिए पुनः दमनकारी कानूनों का आश्रय लिया। इस अध्यादेश के विरोध में पूरे देश ने एक स्वर से निंदा की तथा विरोध सभाएं आयोजित की।

असहयोगेत्तर उत्तर भारत में क्रान्तिकारी तत्त्वों की बिखरी हुई शक्ति के एकीकरण का परिचय एवं उनके द्वारा सशस्त्र क्रान्ति की दिशा में किए गए प्रयासों की प्रथम परिणति इतिहास प्रसिद्ध काकोरी ट्रेन एक्शन की घटना थी। लखनऊ जिला के काकोरी नामक स्थान पर क्रान्तिकारियों के एक दल ने पं० राम प्रसाद बिस्मिल के नेतृत्व में 9 अगस्त, 1925 को एक यात्री गाड़ी पर धावा बोलकर सरकारी खजाने को लूट लिया। क्रांतिकारियों के इस कार्य में उक्त गाड़ी में बैठे अंग्रेजी शासन के हथियार बन्द सैनिकों ने कोई प्रतिरोध नहीं किया, परन्तु क्रांतिकारियों के न चाहते हुए भी एक साधारण यात्री की इस घटना में मृत्यु हो गई। यह घटना ब्रिटिश शासन के लिए क्रांतिकारियों द्वारा दी गयी चुनौती थी। इससे सरकारी तन्त्र का चौकन्ना होना स्वाभाविक था। इस घटना के सन्दर्भ में व्यापक आधार पर गिरफ्तारियों और तलाशियों का क्रम जारी हो गया। यद्यपि इस षडयंत्र में लगभग दस क्रान्तिकारियों ने ही भाग लिया था, परन्तु जब गिरफ्तारियाँ हुई तो 40 से भी अधिक व्यक्ति गिरफ्तार हुए। हिन्दी पत्र–पत्रिकाओं में इन गिरफ्तारियों की व्यापक प्रतिक्रिया हुई।

'आज' ने अपने कई अंकों में मोटे शीर्षकों में इन गिरफ्तारियों के समाचार प्रकाशित किए। काकोरी ट्रेन एक्शन के सन्दर्भ में हुई गिरफ्तारियों की कटु निन्दा और गिरफ्तार व्यक्तियों के साथ जेल में हो रहे व्यवहार की पत्र–पत्रिकाओं ने निन्दा करते हुए सम्पादकीय लेख प्रकाशित किए। अधिकांश पत्र–पत्रिकाओं ने असहमति व्यक्त की कि जिन व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया है, वे इस प्रकार का गम्भीर अपराध कर सकते हैं। इन पत्रों का विचार था कि ये गिरफ्तारियाँ राजनीतिक गतिविधियों को दबाने और विशेषकर कानपुर काँग्रेस के प्रस्तावित अधिवेशन को ध्यान में रखकर की गई हैं।

इस अवसर पर 'आज' ने लिखा कि, "अफसरशाही यह सोचती है कि भारत में राजनीतिक कार्यकर्ताओं के विरुद्ध आपराधिक कानूनों का उपयोग कर उन्हें परेशान करना उसका जन्मगत और पवित्र अधिकार है। इस बीसवीं सदी की यह निकम्मी सरकार जिस प्रकार से सम्मानित और शान्तिप्रिय काँग्रेस कार्यकर्ताओं के विरुद्ध भारतीय दण्ड संहिता की हत्या और डकैती के अनुच्छेदों को धाराएँ उपयोग में ला रही हैं, बड़ी मुश्किल से इस पर कोई विश्वास कर पायेगा। आगे इस पत्र ने गिरफ्तार व्यक्तियों को तनहाई में रखने, उनसे मिलने–जुलने पर रोक लगाने तथा उनके साथ हो रहे अन्य दुर्व्यवहारों पर रोष व्यक्त किया तथा यह कहा कि अब यह बात स्पष्ट हो गई है कि इस देश में कोई कानून नहीं है, अधिकारों की इच्छा ही कानून है।[3]

'भारत जीवन' ने भी गिरफ्तारियों पर टिप्पणी करते हुए कहा कि, "गिरफ्तार व्यक्तियों की स्थिति, शिक्षा, और चरित्र को देखते हुए यह असम्भव लगता है कि षडयंत्र में इन लोगों का हाथ रहा होगा। 'सैनिक' ने लिखा कि "गिरफ्तार व्यक्तियों को बेड़ियाँ पहनाने तथा उन्हें तनहाई में रखने का अधिकारियों का कार्य अत्यन्त अमानवीय, बर्बर एवं निन्दनीय है। सैनिक' ने शासन से अनुरोध किया कि जब तक अपराध प्रमाणित नहीं हो आता इन पर कोई रोक न लगाकर इन्हें जमानत पर छोड़ दिया जाना चाहिए।[4]

'प्रेम' ने अपनी टिप्पणी में लिखा कि, "कानून और व्यवस्था को ऊँची– ऊँची घोषणाएँ करने वाली भारत की विदेशी सभ्य सरकार में ही यह सम्भव हो सकता है कि किसी को बिना उसका अपराध बताये गिरफ्तार कर लिया जाए और यहाँ तक कि बच्चों और स्त्रियों के कपड़ों तक को न छोड़ा जाए। हम ऐसे दमन का स्वागत करते हैं। पुलिस की इस विवेकशून्य कार्यवाही से लोगों में जागृति आएगी और ये अपने मतभेदों को भुलाकर इसके प्रतिरोध में उठ खड़े होंगे।[5] 'प्रताप' ने भी गिरफ्तारियों की निन्दा करते हुए लिखा कि, "गिरफ्तारियाँ करने में जिस प्रकार का निरंकुश, गैर जम्मेदार और क्रूर तरीका अपनाया जा रहा है, हम उसकी कड़े शब्दों में निन्दा करते हैं। 'आनन्द' ने गिरफ्तारियों को अनुचित बताते हुए लिखा कि ऐसा लगता है कि वास्तविक अपराधियों को पकडने में विफल होने पर पुलिस ने इस छल का सहारा लिया है।"[6] 'शक्ति' ने गिरफ्तारियों की कटु निन्दा करते हुए विचार व्यक्त किया कि ट्रेन षडयंत्र को राजनीतिक रंग देकर कानपुर काँग्रेस के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित की जा रही हैं।[7]

उक्त टिप्पणियों का लक्ष्य स्पष्टतः क्रान्तिकारियों के प्रति शासन का क्रोध घटाना तथा निरपराध जनता को व्यर्थ के कष्टों से बचाना था।

हिन्दी के दैनिक एवं साप्ताहिक पत्रों का इस प्रकार की टीका–टिप्पणी ने जहाँ सरकार की दमन नीति की निन्दा कर क्रान्तिकारियों के प्रति सुरक्षात्मक दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया, वहीं मासिक पत्रिकाओं ने कारागार बन्दियों की प्रशस्ति एवं सहानुभूति में अनेक तरह की रचनाएँ प्रकाशित की।

काकोरी के अभियुक्त फाँसी के तख्ते पर

स्मरणीय है कि काकोरी काण्ड के सन्दर्भ में अनेक ऐसे व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया था, जिनका उक्त काण्ड से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। ऐसे लोग धीरे–धीरे मुक्त कर दिए गए। कुछ सरकारी गवाह भी बन गए। तदुपरान्त सरकार ने 'काकोरी षड्यंत्र केस' के नाम जो मुकदमा चलाया, उस पर सरकार का दस लाख रुपयों से अधिक का खर्चा हुआ। अभियुक्तों पर धारा 120, 121, 302 और 396 के अन्तर्गत मुकदमे चलाये गए। गिरफ्तारी के पहले चरण में अशफाकउल्ला, शचीन्द्रनाथ बख्शी और चन्द्रशेखर 'आजाद' गिरफ्तार नहीं किए जा सके। बाद में 'आजाद' को छोड़कर शेष दोनों अभियुक्त भी गिरफ्तार हो गए। अतः उन पर पूरक मुकदमा चलाया गया। अठारह माह तक चलने वाले इस मुकदमें की परिणति सर्वश्री रामप्रसाद बिस्मिल, राजेन्द्र लाहिणी और रोशन सिंह जैसे क्रान्तिकारियों को फाँसी की सजा से हुई। पूरक मुकदमें में अशफाकउल्ला को फाँसी और शचीन्द्र नाथ बख्शी को फाले पानी की सजा मिली। अन्य अभियुक्तों में शचीन्द्र नाथ सान्याल

को काले पानी का दण्ड मिला। श्री मन्मथनाथ गुप्त को चौदह वर्ष कैद की और सर्वश्री योगेश चन्द्र चटर्जी, मुकुन्दी लाल, गोविन्द चरण कर, राजकुमार सिंह तथा रामकृष्ण खत्री को दस–दस वर्ष, मेरठ के विष्णु शरण दुबलिस और सुरेश चन्द्र भट्टाचार्य को सात–सात वर्ष तथा भूपेन्द्रनाथ सान्याल, रामकृष्ण त्रिवेदी एवं प्रेम कृष्ण खन्ना को पाँच–पाँच वर्ष के कारावास का दण्ड मिला। प्रणवेश चटर्जी को चार वर्ष और इकबाली गवाह बनवारी लाल को पाँच वर्ष का कारावास दण्ड मिला।[8] बाद में सरकारी पक्ष से अपील होने पर दस वर्ष की सजा बालों को काला पानी तथा सात वर्ष वालों को दस वर्ष का कारावास का दण्ड दिया गया। स्वतन्त्रता संग्राम में सशस्त्र क्रान्ति के ध्वज को फहराने वाले इन क्रान्ति–कारियों को फाँसी और कारावास की सजा सुनाये जाने के बाद देश में इसकी तीखी प्रतिक्रिया हुई। उत्तर प्रदेश की हिन्दी पत्र–पत्रिकाओं ने देशव्यापी तीखी प्रतिक्रिया को जन स्वर प्रदान किया।

इस स्वर में सजा के निर्णय के प्रति क्षोभ, क्लेश और ब्रिटिश सरकार के प्रति तिरस्कार की भावना का समावेश था। इस प्रसंग में उत्तर प्रदेश की हिन्दी पत्र–पत्रिकाओं की तीखी प्रतिक्रिया का मुख्य कारण उक्त अभियुक्तों में से अधिकांश का उत्तर प्रदेश से सम्बद्ध होना था। फैसले पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उग्र विचारधारा के पत्र 'वर्तमान' ने लिखा कि, "सजा का निर्णय सामान्यतः चोट पहुंचाने वाला है। यह केवल इसी अभागे देश में हो सकता है कि दिगभ्रमित देशभक्त को फाँसी पर लटका दिया जाएं।

आनन्द ने टिप्पणी की कि "यद्यपि निर्णय हो चुका है, किन्तु जो लोग कतिपय अभियुक्तों के चरित्र से परिचित है, वे जानते हैं कि वे कितने अबोध थे। अभ्युदय ने लिखा कि "उत्तेजित युवकों को यद्यपि के मार्ग से हट गए थे. प्राणदण्ड देना उचित नहीं माना जा सकता। सजा में कमी की जानी चाहिए। 'प्रताप' ने अभियुक्तों की सजा से उनके स्वजनों को होने वाली बेदना का मार्मिक वर्णन करते हुए लिखा "ओ, आदर्श! तुम बहुत दूर और आतंककारी करना पडेगा। लेकिन जागरूकता का जन्म मात्र बलिदान से ही होता है। हो ! कोई नहीं जानता कि तुम्हारे लिए कितनी बहनों और भाइयों को विलाप करना पड़ेगा, माताओं और बहनों की आँखों से निकला आँसू गंगा और यमुना की तरह पवित्र है और यह कायरता और दास मनोवृत्ति को निश्चित ही धो देगा। 'भारत धर्म ने इस देश के लिए शर्मनाक और अपमानजनक मानते हुए यह प्रश्न किया कि क्या यह न्याय की क्रूरता नहीं है? परन्तु परतन्त्र भारत के पराधीन समाचार पत्रों की इन टिप्पणियों का ब्रिटिश सरकार के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और न ही सरकार ने जनरोष पर कोई ध्यान दिया। और अन्ततः जनभावना की उपेक्षा कर ब्रिटिश सरकार ने सर्वप्रथम राजेन्द्र नाथ लाहिड़ी को 17 दिसम्बर, 1927 को गोंडा जेल में फाँसी पर लटका दिया। लाहिड़ी को मृत्यु की गोद में भेजने के बाद 19 दिसम्बर को गोरखपुर जेल में पं० रामप्रसाद बिस्मिल को, फैजाबाद जेल में अशफाकउल्ला को तथा प्रयाग के जिला जेल में रोशन सिह को फाँसी दे दी गई।

काकोरी काण्ड के इन वीर क्रान्तिकारियों के प्राणोत्सर्ग की घटना ने सम्पूर्ण देश को शोक संतप्त कर दिया। क्रान्तिकारियों से सहानुभूति रखने वाले 'प्रताप' ने फाँसी की राजा मिलने के बाद जो टिप्पणी की वह द्रष्टव्य है–"कितना क्रूर समापन रहा? इन्हें मार्गच्युत कहा जा सकता है। लेकिन इनका अपराध क्या था, सिवा इसके कि वे आवेश और देशभक्ति की भावना से भरे हुए युबक थे। यह जानते हुए भी कि ये युबक गलत मार्ग पर थे, काकोरी कांड के मुकदमे के स्वाँग का अध्ययन करने के बाद एक बात विचारणीय हो जाती है, कि इस देश में नौजवान होना एक महान अपराध है।

काकोरी के शहीदों को फाँसी से बचाने के प्रयासों की विफलता पर दुःख व्यक्त करते हुए 'आज' ने लिखा– 'एक मित्र लिखते हैं आज हम कितने नपुंसक हो गए हैं इसका पता काकोरी केस के चार अभियुक्तों को फांसी होने से चलता है। हमारा कितना पतन है। जिन असेम्बली और कौसिलों क चुनाव के लिए देश का करोड़ों रुपया बर्बाद होता है, हजारों आदमी एक–दूसरे के लिए तू–तू मैं–मैं करते हैं, उन्हीं कौंसिलों और असेन्बली के मेम्बरों कोहमारी नेकनियत सरकार किस निगाह से देखती है इसका पता काकोरी के मामले में अच्छी तरह लग चुका है। सरकार टस से मस नहीं हुई। इसका कारण कुछ नहीं, हमारी नपुंसकता है। पर क्या अब भी हमारी आंखें नहीं खुलेगी।[9] क्रान्तिकारी आन्दोलन के प्रति हिन्दी पत्रकारिता की जागरूकता का परि–चम इससे भी मिलता है कि काकोरी के शहीदों के फाँसी के बाद उत्तर प्रदेश के प्रायः सभी प्रमुख हिन्दी पत्रों ने फाँसी के समाचारों को मोटे शीर्षकों में अपने मुखपृष्ठ पर प्रकाशित किया और मर्मस्पर्शी एवं भाषा

प्रधान टिप्पणियाँ लिखी। गोरखपुर से प्रकाशित 'स्वदेश' का फाँसी के बाद जो अंक निकला, वह पूरी तरह क्रान्तिकारियों के फाँसी के समाचारों, राष्ट्र के नाम उनके सन्देश तथा अन्य टिप्पणियों से भरा हुआ है। 'फाँसी पाने वालों की फाँसी कैसे हुई?', खुश रहो अहले वतन हम तो सफर करते हैं आदि शीर्षक टिप्पणियाँ इस अंक की विशेषता हैं। अगले अंक में 'सरकार का रुख' शीर्षक सम्पादकीय में 'स्वदेश' की अन्तिम पंक्तियों द्रष्टव्य हैः क्या हुआ यदि उनका मार्ग हमसे अलग था, क्या मुजायका है यदि परदेशी शासन ने उन्हें डाकू और हत्यारा घोषित कर दिया, उनके हृदय में असीम देश–भक्ति तो थी, बस केवल यह ही हमारे लिए स्तुत्य तथा उपासना के लिए पर्याप्त है। यह स्थिति पैदा हो आने और उनको उस मार्ग का पथिक बनाने की जिम्मेदारी भी थोड़ी बहुत हम शान्तिप्रिय लोगों के सर जरूर है। किन्तु अब क्या? अब तो बाकी है उन बोरों का आत्मोत्सर्ग, हमारी कायरता और सरकार की हृदय हीनता।"

क्रान्तिकारियों के प्रति 'स्वदेश' और 'स्वदेश' के प्रति क्रान्तिकारियों के पारस्परिक सम्बन्धों का परिचय इस तथ्य से भी होता है कि फाँसी के पूर्व गोरखपुर कारागार में लिखित अपनी आत्मकथा के पाण्डुलिपि को पं० राम–प्रसाद बिस्मिल ने जेल अधिकारियों की दृष्टि से बचाकर 'स्वदेश' सम्पादक श्री दशरथ प्रसाद द्विवेदी के पास भेजा था, जिसे बाद में श्री गणेश शंकर विद्यार्थी ने प्रताप प्रेस, कानपुर से 'काकोरी के शहीद' नामक पुस्तक के अग्रभाग में प्रकाशित किया था।[10] उग्र विचारधारा के समर्थक हिन्दी के अन्य पत्रों ने भी काकोरी काण्ड के बन्दियों को फांसी देने के विरुद्ध भाव प्रधान लेखों एवं टिप्पणियों को प्रकाशित करना जारी रखा। वर्तमान' ने क्रान्तिकारियों का पक्ष समर्थन करते हुए लिखा, "शान्ति और व्यवस्था के नाम पर हमारी आशाओं का मटियामेट कर दिया गया और हमारे आजादी के दीवाने सैनिकों को फाँसी पर लटका दिया गया। ओह! कैसी निष्ठुरता! कैसी निर्ममता है यह। भयानक क्रूरता। मनुष्य का हृदय टूटता जा रहा है और सहानुभूति समाप्त होती जा रही है।

'शक्ति' ने अपनी टिप्पणी में लिखा, "निश्चित ही ये गलत हाथों में पड़ गए थे। परन्तु क्या उन्हें इस अपराध के लिए फाँसी की सजा दी जानी चाहिए थी? अन्याय! नृशंसता! क्या आजीयन कालापानी की सजा पर्याप्त नहीं होती।[11] क्या नौकरणाही अपनी जेलों, जेलरों और बन्दी रक्षकों पर विश्वास खो चुकी है
'प्रताप' में 'प्रयाण कर चुके वीरों को श्रद्धांजलि' शीर्षक लेख में कहा गया, "यद्यपि तुम गलत मार्ग पर थे, फिर भी तुमने हमारे दिलों पर अधिकार कर लिया है। हम सच्चाई को कुचलकर कुछ भी तो नहीं प्राप्त कर सके। हम तुम्हारे बलिदानी तरीकों को पसन्द करते है। हमने तुम्हें उजाले में देखा है। तुम हम सबमें अग्रणी हो। हम सभी कायर हैं। अपनी लम्बी टिप्पणी में 'श्रीकृष्ण' नामक समाचार पत्र ने भाव प्रधान एवं मर्मस्पर्शी शब्दों में क्रान्तिकारियों के बलिदान की प्रशंसा करते हुए अन्त में लिखा "ओ! महापथानुगामी! हँसी खुशी जाओ, और यदि तुम्हें सुदर्शन चक्रधारी मुरलीधर से मिलने का सौभाग्य मिले तो उन्हें बताना कि उनकी भारत माता दासता की कठोर बेड़ियों में बंधी तड़प रही है। उसका शरीर ढाँचा मात्र रह गया है। और उनसे पूछना कि भारत में पुनः अवतार लेने की शपथ अब कब निभाएँगे? प्रिय बच्चो, मैंने तुम्हें नहीं देखा, में कभी तुमसे परिचित नहीं हुआ। ठीक है, विदा, तुम्हारी पवित्र आत्माओं को हमारा सपूर्ण आदर। ईश्वर से प्रार्थना है कि वे तुम सबको भारत में पुनः भेजें।

'देशभक्त ने उनकी राष्ट्रभक्ति की बंदना की परन्तु उनकी कार्य प्रणाली से असहमति व्यक्त करते हुए लिखा, "हमें विश्वास है कि भारत की आजादी चाहने वाला दल आज नहीं तो कल देश को किसी भी सम्भव तरीके से आजाव कराने के अपने आदर्श की घोषणा करेगा और सभी विचारों के कार्यकर्ता उसमें भाग लेंगे।

भारत का युवक बलिदानी देशभक्तों को सर्वदा आदर देता रहेगा और उनके बलिदानों को दृष्टिगत रखकर भारत माँ की स्वतन्त्रता के लिए प्राणों को न्योछावर कर देना, उसके लिए खेल होगा। हमें विश्वास है कि रामप्रसाद बिस्मिल और अन्य देशभक्तों का बलिदान अमर रहेगा और अन्ततः भारत को दासता से मुक्ति दिलाने में सफल होगा। "काकोरी बन्दियों की फाँसी पर 'चांद' का स्वर अन्य पत्रों की अपेक्षा अधिक उग्र, भाव प्रधान एवं संवेदनशील है। 'चाँद' ने न केवल सरकारी पत्रों की टीका टिप्पणी की आलोचना कर उनका कड़ा विरोध किया, वरन् काँग्रेस और सरकारी व्यवस्था को फटकारते हुए अनेक प्रश्न भी उपस्थित किए। काकोरी के शहीदों के प्रति समाज का दायित्व' शीर्षक 'चाँद के अग्रलेख की पंक्तियाँ हिन्दी पत्रकारिता के

गौरवशाली इतिहास के स्वर्णजटित पृष्ठ हैं जिनमें इन बलिदानियों के प्रति समाज के कर्तव्यों का बोध कराया गया है।[12]

क्रान्तिकारी आन्दोलन से सम्बद्ध उत्तर प्रदेश की हिन्दी पत्र–पत्रिकाओं की उक्त टिप्पणियों की प्रस्तुति का उद्देश्य मात्र इस तथ्य को प्रमाणित करना है कि प्रदेश की राष्ट्रवादी हिन्दी पत्रकारिता क्रान्तिकारी आन्दोलन के प्रति भी जागरूक रही है। एक ओर जहाँ पत्र–पत्रिकाएँ कॉंग्रेस के अहिंसात्मक आन्दोलन को भरपूर समर्थन देकर उसे जन–जीवन में लोकप्रिय बनाने की माध्यम बनी वहीं दूसरी तरफ उन्होंने कानूनी शिकंजे से बचते हुए क्रान्तिकारियों और उनके हिंसात्मक कार्यों से असहमति प्रकट करते हुए उन्हें ब्रिटिश सरकार के कोप से बचाने और उन्हें निर्दोष सिद्ध करने का अथक प्रयास भी करती रही। इस दिशा में उन्होंने क्रान्तिवादियों की देशभक्ति एवं उनके बलिदानों की प्रशंसा कर उन्हें अप्रत्यक्ष समर्थन भी प्रदान किया। आज, जब हम इस घटना की शताब्दी वर्ष मना रहे हैं तो यह घटना हमें उन क्रांतिकारियों की आजादी के प्रति समर्पण को याद दिलाती है कि किस तरह उन्होंने ब्रिटिश सत्ता को चुनौती दी और इतिहास में अपने आपको अमर कर दिया।

संदर्भ सूची

1. भटनागर, रामरतन, द राइट एण्ड ग्रोथ ऑफ हिन्दी जर्नलिज्म किताब महल, इलाहाबाद 1947, पृ0–357
2. रामगोपाल, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास, पुस्तक केन्द्र लखनऊ, 1974, पृ0–311
3. कान्फिडेंसियल नोट ऑन द प्रेस यूनाइटेड प्राविसेंज ऑफ आगरा, एण्ड अवध, सप्ताहांत, 17 अक्टूबर, 1925
4. वही
5. वही
6. वही
7. वही
8. गुप्त, मन्मथ नाथ, भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन का इतिहास
9. आज 23 दिसम्बर 1927
10. माहौर, भगवानदास, रामप्रसाद बिस्मिल, आत्मकथा
11. का0नो0प्रेस यू0पी0 सप्ताहांत 14 जनवरी 1928
12. चाँद, फरवरी 1928, पृ0–434–36

Nav Jyoti, Vol. 13, No. 26, January-June 2025 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

भारतीय सामाजिक संस्थाओं पर वैश्विक संस्कृति का प्रभाव : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

अंकिता मिश्रा
शोधार्थी, समाजशास्त्र

डॉ जय प्रकाश यादव
एसोसिएट प्रोफेसर, समाजशास्त्र
समाजशास्त्र विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ
वाराणसी २२१००२ (उत्तर प्रदेश)

सारांश :–
वैश्विक संस्कृति जिसमें मीडिया, टेक्नोलॉजी,उपभोगवादी प्रतिमान और मूल्यों का पारराष्ट्रीय प्रवाह (ट्रांसनेशनल फ्लो) होता है– ने भारत के सामाजिक संस्थाओं पर काफी असर डाला है, जिससे बदलाव लाने वाले और विवादित, दोनों तरह के नतीजे मिले हैं। यह अध्ययन भारतीय परिवार की संरचना, शिक्षा व्यवस्था, धार्मिक रीति–रिवाजों, आर्थिक संस्था और राजनैतिक प्रक्रियाओं पर वैश्विक संस्कृति के प्रभावों को देखती है। इसका मुख्य उद्देश्य यह अध्ययन करना है कि वैश्विक संस्कृति कैसे सामाजिक मूल्यों, रोजमर्रा के तौर–तरीकों और संस्थागत व्यवस्थाओं को नया आकार देती है, साथ ही वैश्विक संस्कृति ऐसी संकर (हाइब्रिड) पहचान बनाती है जो परम्परा को आधुनिकता के साथ मिलाती हैं।

गुणात्मक व्याख्यात्मक दृष्टिकोण का प्रयोग करते हुए प्रस्तुत शोध पत्र का अध्ययन किया गया है। प्रस्तुत शोध पत्र इस बात का अध्धयन कर रहा है कि भारतीय परिवार संयुक्त से एकाकी की ओर, बढ़ते व्यक्तिवादिता की ओर, बदलती लिंग भूमिकाएं और विवाह से पहले के रिश्तों और लिव–इन पार्टनरशिप पर वैश्विक संस्कृ ति का क्या प्रभाव हो रहा है। डिजिटल लर्निंग, मूल भाषा पर अंग्रेजी भाषा का दबाव, अंतरराष्ट्रीय पाठ्यक्रम और व्यवसाय उन्मुखता पर जोर देने से शिक्षा वैश्विक हो गई है, हालांकि यह सामाजिक–आर्थिक असमानताओं को भी बढ़ाती है।

शोध पत्र में यह प्रस्तुत किया गया है कि वैश्विक संस्कृति भारतीय परंपराओं की जगह नहीं लेती बल्कि, यह संकर (हाइब्रिड) रूप बनती है जहाँ वैश्विक जीवन शैली और स्थानीय मूल्य साथ–साथ रहते हैं हालाँकि, पीढ़ियों के बीच टकराव होता है। वैश्विक संस्कृति भारतीय सामाजिक संस्थाओं को कई तरह से नया आकार देती है–आधुनिकता, सशक्तिकरण और संयोजकता को बढ़ावा देती है, साथ ही साथ सांस्कृतिक असमानताएं भी पैदा करती है।

मुख्य शब्द :– वैश्विक संस्कृति, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, परिवार, विवाह, शिक्षा, उपभोग।

परिचय :–

वैश्विक संस्कृति का अर्थ है साझा मूल्य, साझा जीवनशैली, साझा प्रौद्योगिकी ,मीडिया का साझा प्रवाह, उपभोग और साझा प्रतीकात्मक वस्तुएं जो देश की सीमाओं को पार करते हैं।

वैश्वीकरण की ताकतों से खासकर डिजिटल मीडिया, प्रवास, अंतरराष्ट्रीय बाजार और वैश्विक उपभोक्तावादी संस्कृति ने भारत के सामाजिक संस्थाओं में बड़ा बदलाव किया है इन संस्थानों में परिवार, शिक्षा, धर्म, अर्थव्यवस्था और राजनीति शामिल है जो रोजमर्रा के सामाजिक जीवन को बनाती हैं।

वैश्विक संस्कृति से अभिप्राय उन विचारों, मूल्यों, जीवन–शैलियों, तकनीकों, प्रतीकों तथा उपभोग सम्बन्धी प्रवृत्तियों से है, जो राष्ट्रीय सीमाओं से परे जाकर विश्व के विभिन्न समाजों को प्रभावित करती हैं। संचार प्रौद्योगिकी की तीव्र प्रगति, वैश्विक बाजार, अंतरराष्ट्रीय प्रवासन, डिजिटल मीडिया, पर्यटन तथा फिल्म–संगीत–फैशन जैसे सांस्कृतिक उद्योग–इन सभी के माध्यम से वैश्विक संस्कृति तीव्र गति से फैल रही

है। आज की परस्पर जुड़ी हुई दुनिया में व्यक्ति निरन्तर वैश्विक मानकों और जीवन–शैलियों से सम्पर्क में रहता है– चाहे वह सोशल मीडिया हो, बहुराष्ट्रीय ब्रांड हों, ऑनलाइन शिक्षा हो या वैश्विक मनोरंजन माध्यम। परिणामस्वरूप, संस्कृति अब भौगोलिक सीमाओं तक सीमित नहीं रह गई है, बल्कि यह प्रवाहित होकर, मिश्रित होकर, और परिवर्तित होकर सामाजिक पहचानों का पुनर्निर्माण कर रही है। यह वैश्विक सांस्कृतिक प्रवाह लोगों की सोच, व्यवहार, सामाजिक संपर्क, आकांक्षाओं और जीवन–मूल्यों को गहराई से प्रभावित करता है।

भारत, अपनी प्राचीन सांस्कृतिक विरासत और बहुविध सामाजिक संरचना के साथ, वैश्विक संस्कृति के प्रभावों का अध्ययन करने के लिए एक महत्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करता है। भारतीय समाज का निर्माण परिवार, शिक्षा, धर्म, अर्थव्यवस्था और राजनीति जैसे दीर्घकालिक सामाजिक संस्थानों पर आधारित है, जो सामाजिक व्यवस्था और व्यक्तिगत पहचान को आकार देते हैं। ये संस्थान स्थिर नहीं होतेय समय के साथ–साथ वे आन्तरिक परिवर्तनों और बाह्य प्रभावों के अनुसार स्वयं को ढालते रहते हैं। वर्तमान समय में वैश्विक संस्कृ ति भारतीय समाज के लिए सबसे प्रभावी बाह्य शक्तियों में से एक है। महानगरों से लेकर छोटे शहरों और ग्रामीण क्षेत्रों तक खान–पान, परिधान, युवा आकांक्षाएँ, कार्य–संस्कृति, शिक्षा तथा लैंगिक भूमिकाओं जैसे अनेक क्षेत्रों में वैश्विक प्रभाव स्पष्ट दिखाई देते हैं।

वैश्विक संस्कृति और भारतीय सामाजिक संस्थानों के मध्य यह संबंध एकतरफा नहीं है, बल्कि बहुआयामी और जटिल है। एक ओर, वैश्विक संस्कृति व्यक्ति–स्वातंर्त्य, लैंगिक समानता, तकनीकी प्रगति, वैश्विक नागरिकता और आधुनिक जीवन–शैलियों जैसे मूल्यों को प्रोत्साहित करती है। दूसरी ओर, भारतीय सामाजिक संस्थान परंपरा, सामुदायिकता, संयुक्त परिवार व्यवस्था, आध्यात्मिकता, बड़े–बुजुर्गों के प्रति सम्मान तथा सांस्कृ तिक निरन्तरता को प्रमुखता देते हैं। जब ये दोनों मूल्य–प्रणालियाँ एक–दूसरे से मिलती हैं, तब एक सांस्कृ तिक वार्तालाप प्रारम्भ होता है, जिसमें कुछ तत्व स्वीकार किए जाते हैं, कुछ को संशोधित किया जाता है और कुछ का प्रतिरोध किया जाता है। इस प्रकार, भारत पूर्णतः पश्चिमीकृत नहीं होता, बल्कि एक संकर (हाइब्रिड) सांस्कृतिक रूप का निर्माण करता है, जिसमें स्थानीय परम्पराएँ वैश्विक प्रभावों के साथ सह–अस्तित्व में रहती हैं।

भारत जैसे सांस्कृतिक विविधता वाले समाज में, वैश्विक संस्कृति केवल स्थानीय संस्कृति की जगह नहीं लेती इसके बजाय यह एक संवाद की प्रक्रिया में शामिल हो जाती है जहां कुछ मूल्य को अपनाया जाता है उन मूल्यों में परिवर्तन किया जाता है या उन मूल्यों का विरोध किया जाता है। उदाहरणतः, भारतीय परिवारों में एकाकी परिवारों की प्रवृत्ति बढ़ रही है, परन्तु संयुक्त परिवारों के भावनात्मक और आर्थिक संबंध अभी भी सुदृढ़ हैं। शिक्षा में वैश्विक पाठ्यचर्या, डिजिटल शिक्षण तथा अंग्रेजी भाषा का वर्चस्व बढ़ रहा है, किन्तु सांस्कृ तिक मूल्यों और नैतिक शिक्षा को भी बनाए रखा गया है। धर्म के क्षेत्र में वैश्विक संचार माध्यमों से बहुलवाद एवं संवाद बढ़ा है, परन्तु साथ ही पारंपरिक धार्मिक प्रथाओं का पुनरुत्थान भी देखा जा रहा है। आर्थिक संस्थान वैश्विक बाजार, डिजिटल उद्यमिता और बहुराष्ट्रीय कार्य–शैली को अपनाते हुए भी स्थानीय कौशल और सामाजिक नेटवर्क पर आधारित हैं। राजनीति में वैश्विक लोकतांत्रिक मूल्यों का प्रभाव बढ़ा है, परन्तु भारतीय राजनीतिक संस्कृति की स्थानीय विशेषताएँ भी मजबूत बनी हुई हैं।

अतः भारतीय सामाजिक संस्थानों पर वैश्विक संस्कृति के प्रभाव का अध्ययन आधुनिक भारत के सांस्कृ तिक परिवर्तनों को समझने के लिए आवश्यक है। यह अध्ययन न केवल यह बताता है कि समाज में क्या बदल रहा है, बल्कि यह भी स्पष्ट करता है कि लोग इन परिवर्तनों को कैसे समझते, स्वीकारते या परिभाषित करते हैं। आधुनिक भारत इस प्रकार सांस्कृतिक निरन्तरता, परिवर्तन और संकरण का एक जीवंत उदाहरण बनकर उभर रहा है।

उद्देश्य :–

1. भारतीय सामाजिक संस्थाओं पर वैश्विक संस्कृति के प्रभावों का अध्ययन करना।

शोध विधि :–

प्रस्तुत शोध पत्र का अध्ययन गुणात्मक व्याख्यात्मक दृष्टिकोण से किया गया है। इस दृष्टिकोण का उद्देश्य किसी घटना की गहराई, सन्दर्भ और अर्थ को समझना होता है, न कि केवल सांख्यिकीय आंकड़ों का संग्रह करना। इस पद्धति का चयन इसलिए किया गया क्योंकि वैश्वीकरण केवल संरचनात्मक परिवर्तन नहीं लाता,

बल्कि मान्यताओं, व्यवहारों, विश्वासों, मूल्यों और जीवन–शैलियों को सूक्ष्म स्तर पर प्रभावित करता है। ऐसे परिवर्तन संख्यात्मक आँकड़ों से पूरी तरह समझे नहीं जा सकते इसके लिए अनुभवों, अर्थों और सांस्कृतिक व्याख्या की आवश्यकता होती है।

आंकड़ों का संकलन :–

प्रस्तुत शोध पत्र में मुख्य रूप से द्वितीयक स्रोतों का उपयोग किया गया, जिनमें शामिल हैं – प्रतिष्ठित समाजशास्त्रीय पुस्तकों, शोध–लेखों एवं, रिपोर्ट एवं नीति दस्तावेज, भारतीय परिवार, विवाह, शिक्षा, युवा संस्कृ ति और उपभोक्तावाद पर आधारित शोध लेख एवं शोध पत्र। इन स्रोतों का उद्देश्य यह जानना है कि वैश्विक संस्कृति कैसे भारतीय सामाजिक संस्थाओं के ढाँचे, भूमिकाओं, अपेक्षाओं और सांस्कृतिक अर्थों को बदल रही है। प्रस्तुत शोध पत्र का विश्लेषण व्याख्यात्मक दृष्टिकोण से किया गया है।

साहित्य समीक्षा :–

• **अर्जुन अप्पादुरई (1996) "आधुनिकता बड़े पैमाने पर : वैश्वीकरण के सांस्कृतिक आयाम"** अप्पादुरई ने वैश्वीकरण को 'स्केप्स'कृजैसे मीडिया–स्केप, आइडियो–स्केप, फाइनैन्स–स्केपकृके रूप में विश्लेषित किया है। उनके अनुसार, मीडिया वैश्विक संस्कृति के प्रसार का सबसे शक्तिशाली माध्यम है, जो लोगों की आकांक्षाओं, कल्पनाओं और सांस्कृतिक व्यवहारों को गढ़ता है। भारतीय प्रसंग में, सोशल मीडिया, वैश्विक मनोरंजन, फैशन और डिजिटल संस्कृति ने युवा पीढ़ी में नई जीवन–शैली, नए संबंध–मानदंड और नई उपभोक्ता आकांक्षाएँ विकसित की हैं। यह साहित्य इस शोध को यह समझने में सहायक है कि भारतीय सामाजिक बहुआयामी स्वैच्छिक परिवार और शिक्षा में हो रहे परिवर्तन सूचना–प्रवाहित वैश्विक संस्कृति के कारण तीव्र गति से विकसित हैं।

• **उलरिच बेक (2000) "वैश्वीकरण क्या है"** बेक ने वैश्वीकरण को 'जोखिम समाज' और 'परस्पर निर्भरता' की अवधारणाओं से जुड़ते हुए बताया कि आधुनिकता का वैश्विक रूप पारंपरिक समाजों में नई चुनौतियाँ और अवसर दोनों उत्पन्न करता है। बेक के अनुसार, वैश्विक संस्कृति स्थानीय परंपराओं के साथ निरंतर संवाद में रहती है, जिसके परिणाम स्वरूप नई संकर पहचानों का निर्माण होता है। भारतीय सामाजिक साक्षरता पर यह दृष्टिकोण लागू होता है, जहाँ संयुक्त परिवार, विवाह, धार्मिक परंपराएँ तथा शिक्षा संस्था परंपरा और आधुनिकता के बीच संतुलन बनाती दिखाई देती हैं। यह समीक्षा पर्यवेक्षक है कि भारत में सांस्कृतिक परिवर्तन न तो पूर्णतः प्रतिरोधात्मक है और न ही पूर्णतः स्वीकार्य, बल्कि परिवहनवादी है।

• **जोसेफ स्टिग्लिट्ज (2003) "वैश्वीकरण और उसके असंतोष"** स्टिग्लिट्ज ने वैश्वीकरण को आर्थिक ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक परिवर्तन की एक व्यापक प्रक्रिया बताई। हालाँकि यह अध्ययन मुख्यतः आर्थिक वैश्वीकरण पर केंद्रित है, लेकिन लेखक स्पष्ट करते हैं कि बाजार–संचालित वैश्वीकरण पारिवारिक संरचना, उपभोक्ता व्यवहार और जीवन–शैली पर गहरा प्रभाव डालता है। भारतीय सन्दर्भ में यह विचार महत्वपूर्ण है, क्योंकि बाजार और मीडिया के बढ़ते प्रभाव ने उपभोग–आधारित संस्कृति तथा व्यक्तिगत निर्णय स्वतंत्रता को बढ़ावा दिया है। यह साहित्य इस शोध को यह समझने में सहायता करता है कि भारतीय सामाजिक बहुआयामी में आए परिवर्तन केवल सांस्कृतिक संपर्कों का नहीं, बल्कि वैश्विक आर्थिक नीतियों का भी परिणाम हैं।

• **योगेन्द्र सिंह (2004) "भारत में सांस्कृतिक परिवर्तनरू पहचान और वैश्वीकरण"** योगेन्द्र सिंह का अध्ययन भारतीय सामाजिक परिवर्तन को वैश्विक संदर्भ में देखने का एक महत्वपूर्ण प्रयास है। वे दलीलें हैं कि भारतीय समाज में वैश्वीकरण के प्रभाव चयनात्मक (चयनात्मक) रूप से स्वीकार किए जाते हैं। उदाहरणतः शिक्षा, तकनीक और रोजगार के क्षेत्र में आधुनिक मूल्य जल्दी स्वीकार किए जाते हैं, लेकिन परिवार, विवाह और धर्म जैसे क्षेत्रों में परंपरा अभी भी प्रमुख शक्ति है। उनके अनुसार भारतीय समाज में दो प्रक्रियाएँ समानांतर चलती हैं परंपरा का संरक्षण और आधुनिकता का अनुकूलन। यह साहित्य स्पष्ट करता है कि भारतीय सामाजिक संस्थाएँ अपने मूल ढाँचे को बनाए रखते हुए वैश्विक सांस्कृतिक धाराओं को मिश्रित रूप में आत्मवान करती हैं।

व्याख्यात्मक विश्लेषण :–

प्रस्तुत शोध से प्राप्त साहित्य एवं व्याख्यात्मक विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि वैश्विक संस्कृति भारतीय सामाजिक संस्थाओं को न केवल संरचनात्मक रूप से प्रभावित कर रही है, बल्कि उनके मूल्यों, प्रतीकों, व्यवहारों और भूमिकाओं के अर्थ को भी परिवर्तित कर रही है। अध्ययन में यह पाया गया कि परिवार, विवाह, शिक्षा और उपभोक्ता संस्कृति जैसे संस्थागत क्षेत्रों में परिवर्तन चयनात्मक, संदर्भानुकूल और बहुस्तरीय हैं। भारतीय परिवार में वैश्विक संस्कृति का प्रभाव मुख्यतः युवा पीढ़ी के मूल्य–बोध में देखा गया जैसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता, लैंगिक समानता, निजी करियर–प्राथमिकता और तकनीकी निर्भरता। तथापि, संयुक्त परिवार की भावनात्मक संरचना अब भी सामाजिक सुरक्षा तथा निर्णय–प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है, जिससे स्पष्ट होता है कि परिवर्तन पूर्णतः विघटनकारी न होकर संकर रूप (hybrid form) ग्रहण करता है।

विवाह संस्था में ऑनलाइन मंचों, प्रेम–विवाहों और देर से विवाह की प्रवृत्ति बढ़ी है, परंतु परिवार की सहमति और सामाजिक प्रतिष्ठा अभी भी निर्णायक महत्व रखती है। इससे यह संकेत मिलता है कि वैश्विक आधुनिकता पारंपरिक मानदंडों के साथ सह–अस्तित्व की प्रक्रिया में है।

शिक्षा के क्षेत्र में वैश्विक पाठ्यचर्या, डिजिटल शिक्षण, अंग्रेजी माध्यम तथा करियर–केंद्रित दृष्टिकोण ने भारतीय युवाओं की आकांक्षाओं को रूपांतरित किया है। वहीं, मूल्य–शिक्षा, नैतिकता और सांस्कृतिक संवेदनशीलता की आवश्यकता भी समानांतर रूप से रेखांकित होती है। उपभोक्ता संस्कृति में वैश्विक ब्रांडों का प्रभाव बढ़ने के बावजूद स्थानीय उत्पादों का पुनर्मूल्यांकन यह दर्शाता है कि भारतीय समाज आर्थिक वैश्वीकरण को भी अपने सांस्कृतिक ढाँचे के अनुसार अपनाता है।

समग्रतः विश्लेषण यह इंगित करता है कि भारतीय सामाजिक संस्थाएँ परिवर्तनशील हैं, परंतु अपनी सांस्कृतिक निरंतरता को बनाए रखते हुए वैश्विक प्रभावों को समाहित करती हैं। यह प्रक्रिया न तो पूर्णतः पश्चिमीकरण है और न ही परंपरा का कठोर संरक्षण, बल्कि एक गतिशील सांस्कृतिक पुनर्निर्माण है। भारतीय समाज आज उस मोड़ पर खड़ा है जहाँ वैश्विक संस्कृति और स्थानीय परंपरा दोनों एक साथ सक्रिय रूप से मौजूद हैं। न तो वैश्वीकरण स्थानीय सामाजिक संस्थाओं को पूरी तरह समाप्त कर पाया है, और न ही भारतीय परंपराएँ वैश्विक प्रभावों के सामने पूरी तरह झुक गई हैं, बल्कि इन दोनों के बीच एक जटिल, गतिशील और बहुस्तरीय अंतःक्रिया विकसित हुई है। इस शोध के माध्यम से यह स्पष्ट रूप से सामने आता है कि भारतीय सामाजिक संस्थाएँ विशेषकर परिवार, विवाह, शिक्षा तथा उपभोक्ता व्यवहार अपने मूल ढाँचे को बनाए रखते हुए बदलती दुनिया से संवाद भी कर रही हैं। वैश्विक संस्कृति को केवल 'प्रभाव' के रूप में देखने से भारतीय समाज की वास्तविकता समझ में नहीं आती। सही समझ तब बनती है जब इसे परस्पर संवाद, पुनर्निर्माण और सांस्कृतिक वार्तालाप (cultural negotiation) की प्रक्रिया के रूप में देखा जाए। भारतीय सामाजिक संस्थाएँ किसी बाहरी शक्ति से प्रभावित होकर परिवर्तित नहीं होतीं, बल्कि वे स्वयं सक्रिय रूप से चयन करती हैं कि क्या अपनाना है और क्या नहीं। इस स्वायत्तता ने भारतीय समाज को टूटने से बचाया है और उसे जीवंत बनाया है।

युवा पीढ़ी इस परिवर्तन की वाहक भी है और प्रयोगकर्ता भी। युवाओं के जीवन में वैश्विक मनोरंजन, संगीत, फैशन, करियर मॉडल, डिजिटल नेटवर्क और अंतरराष्ट्रीय संवाद महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। फिर भी, भारतीय युवा भावनात्मक रूप से परिवार से जुड़े रहते हैं, अपने रिश्तों में भारतीय मूल्य खोजते हैं और जीवन के महत्वपूर्ण निर्णयों में अक्सर परंपरा का सहारा लेते हैं। यह विरोधाभास नहीं, बल्कि भारतीयता की विशिष्टता है– जहाँ आधुनिकता को अपनाया जाता है परंतु अपनी जड़ों को छोड़े बिना।

शिक्षा क्षेत्र में वैश्वीकरण का प्रभाव सबसे तेज दिखाई देता है। प्रतिस्पर्धा, कौशल आधारित सीख, इंग्लिश मीडियम का विस्तार, डिजिटल शिक्षा और करियर–उन्मुखता ने संस्थागत ढाँचे को पुर्न परिभाषित किया है। किंतु साथ ही नैतिक शिक्षा, सांस्कृतिक पहचान, मातृभाषा के प्रति आग्रह और भारतीय मूल्य–शिक्षा को भी नए रूप में पुनर्जीवित किया जा रहा है। यह द्वैत दर्शाता है कि वैश्विक और स्थानीय का संबंध विरोधी न होकर सह–अस्तित्व की दिशा में विकसित हो रहा है।

उपभोक्ता संस्कृति में परिवर्तन सर्वाधिक दृश्य है। वैश्विक ब्रांड, फास्ट फूड, ऑनलाइन शॉपिंग, सोशल मीडिया संस्कृति और आकर्षक जीवनशैली युवाओं में तेजी से लोकप्रिय हुई है। परंतु इस बदलाव के समानांतर

'स्वदेशी उत्पाद', 'हैंडलूम', 'आयुर्वेद', 'योग' और 'स्थानीय बाजारों' का महत्व भी लगातार बढ़ा है। यह सम्मिश्रण दर्शाता है कि भारतीय उपभोक्ता न तो पूर्णतः पश्चिमीकृत है, और न ही पूर्णतः पारंपरिकय बल्कि वह अपनी सुविधानुसार चयन कर रहा है– कभी आधुनिकता को चुनता है, तो कभी परंपरा को।

भारतीय परम्परा और आधुनिकता के संबंध को समझना आज के समाजशास्त्रीय विश्लेषण का एक अनिवार्य पक्ष बन गया है। बदलते वैश्विक परिदृश्य में भारतीय समाज न तो पूरी तरह परम्पराओं का त्याग कर रहा है और न ही अंधाधुंध आधुनिकता को अपना रहा है, बल्कि वह दोनों के बीच एक नई, संतुलित सामाजिक संरचना का निर्माण कर रहा है। सामाजिक संस्थाएँ विशेषकर परिवार, शिक्षा और समुदाय तेजी से बदलती जीवन–शैलियों के अनुरूप खुद को पुनर्गठित कर रही हैं। इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज की शक्ति उसकी अनुकूलन क्षमता और बहुलतावादी दृष्टिकोण में निहित है। अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि आधुनिक मूल्यों, तकनीकी प्रगति और वैश्विक प्रभावों ने व्यक्ति की सोच, आकांक्षाओं और सामाजिक भूमिकाओं में परिवर्तन लाया है, परन्तु सांस्कृतिक जड़ों से जुड़ाव अब भी मजबूत बना हुआ है। यही द्वंद्वात्मक प्रक्रिया भारतीय समाज को विशिष्ट बनाती है। परम्परा और आधुनिकता के इस निरंतर संवाद में नई सामाजिक पहचानें विकसित हो रही हैं, जो न केवल समाज की आवश्यकताओं को पूरा करती हैं, बल्कि भविष्य के लिए एक अधिक समावेशी, संवेदनशील और मूल्याधारित दिशा भी प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार, भारत का सामाजिक परिवर्तन एक निरंतर चलने वाली, बहुस्तरीय और रचनात्मक प्रक्रिया के रूप में उभर कर सामने आता है।

निष्कर्ष :–

सबसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि भारतीय संस्कृति की पहचान 'स्थिरता' में नहीं, बल्कि 'अनुकूलनशीलता' (adaptability) में निहित है। वैश्वीकरण ने संचार, तकनीक, उपभोक्तावाद, फास्ट लाइफस्टाइल, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और विचारों की खुली अभिव्यक्ति को बढ़ावा दिया है। परंतु इन नए तत्वों को भारतीय समाज ने पूरी तरह आयात नहीं कियाय बल्कि अपनी सामाजिक संरचनाओं, नैतिक धारणाओं और पारिवारिक अपेक्षाओं के अनुरूप ढालकर अपनाया है। उदाहरणार्थकृपरिवार संस्था अभी भी भारतीय समाज का केंद्र बनी हुई है, किंतु उसके भीतर व्यक्तिगत स्वतंत्रता, लिंग समानता और आधुनिक निर्णय लेने की प्रवृत्तियाँ बढ़ी हैं। विवाह संस्था में लव मैरिज, ऑनलाइन मैचमेकिंग और देरी से विवाह जैसे वैश्विक प्रभाव शामिल हुए, परंतु अधिकांश मामलों में वैवाहिक संबंध अभी भी सामाजिक मानदंडों और पारिवारिक स्वीकृति से नियंत्रित रहते हैं।

सार रूप में कहा जाए तो भारतीय सामाजिक संस्थाएँ न तो वैश्वीकरण के दबाव में ढही हैं और न ही सांस्कृतिक कठोरता में जमी हुई हैं। बल्कि उन्होंने एक संकर सांस्कृतिक मॉडल (ीलइतपक बनसजनतंस उवकमस) विकसित किया है जिसमें भारतीय मूल्य और वैश्विक आधुनिकता एक–दूसरे में समाहित होकर नई सामाजिक संरचनाएँ बना रहे हैं। इस शोध का अंतिम निष्कर्ष यह है कि वैश्विक संस्कृति भारतीय समाज को कमजोर नहीं करतीय बल्कि उसे पुनर्गठित करती है, नए विकल्प देती है और पारंपरिक संस्थाओं को आधुनिक समय के अनुकूल होने का अवसर प्रदान करती है। यही कारण है कि भारतीय समाज परिवर्तन को भय की दृष्टि से नहीं, बल्कि संतुलन, चयन और सामंजस्य की दृष्टि से अपनाता है।

सुझाव :–

- आधुनिकता को अपनाते समय यह सुनिश्चित किया जाए कि मूल सांस्कृतिक पहचान और नैतिक मूल्य कमजोर न पड़ेंय इसके लिए नीति–निर्माताओं, शिक्षकों और अभिभावकों को संवेदनशील भूमिका निभानी होगी।
- आधुनिक तकनीक का उपयोग करते हुए डिजिटल लेख संग्रह बनाया जाए जिसमें भारतीय परम्पराओं से संबंधित ग्रंथ, चित्र, संगीत और मौखिक इतिहास सुरक्षित रखे जाएँ।
- समाज में बढ़ते वैश्वीकरण के प्रभाव के बीच स्थानीय संस्कृति के संरक्षण हेतु सामुदायिक संग्रहालय, सांस्कृतिक केंद्र और प्रशिक्षण संस्थान स्थापित किए जाएँ।

सन्दर्भ सूची :–

- अप्पादुरई, ए. (1996), मॉडर्निटी एट लार्ज : कल्चरल डाइमेंशन्स ऑफ ग्लोबलाइजेशन, यूनिवर्सिटी ऑफ मिनेसोटा प्रेस.
- बेक, उल्रिक.(2000), ग्लोबलाइजेशन क्या है?, पॉलिटी प्रेस.
- स्टिग्लिट्ज, जे. ई. (2003), ग्लोबलाइजेशन और उससे जुड़ी परेशानियाँ, डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन एंड कंपनी.
- सिंह, वाई. (2004), भारत में सांस्कृतिक परिवर्तन : पहचान और वैश्वीकरण, रावत पब्लिकेशन्स
- सिंह, वाई. (1973), भारतीय परंपरा का आधुनिकीकरण : सामाजिक परिवर्तन का एक व्यवस्थित अध्ययन, थॉमसन प्रेस.
- श्रीनिवास, एम. एन. (1966), आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस.
- फर्नांडीस, एल. (2006), इंडियाज न्यू मिडिल क्लास : इकोनॉमिक रिफॉर्म के दौर में डेमोक्रेटिक पॉलिटिक्स, यूनिवर्सिटी ऑफ मिनेसोटा प्रेस.
- पटोले, जे. (2018), भारत में नए मिडिल क्लास परिवार पर ग्लोबलाइजेशन का असर, आईओएसआर जर्नल ऑफ ह्यूमैनिटीज एंड सोशल साइंस.
- माथुर, एन. (2011), शहरी भारत में उपभोक्ता संस्कृति, आधुनिकता और जीवनशैली परिवर्तन, कल्चरल डायनेमिक्स.

Nav Jyoti, Vol. 13, No. 26, January-June 2025 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

शिक्षित महिलाओं पर सोशल मीडिया का प्रभाव: एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

डॉ. रीना जया कुमारी
असिस्टेंट प्रोफेसर,नीड बेस्ड समाजशास्त्र विभाग
डॉ श्यामा प्रसाद मुखर्जी विश्वविद्यालय,रांची

सारांश
सोशल मीडिया का उद्भव और व्यापक प्रसार शिक्षित महिलाओं के जीवन और सामाजिक व्यवहार में महत्वपूर्ण परिवर्तन लेकर आया है। प्रस्तुत लेख में शिक्षित महिलाओं पर सोशल मीडिया के बहुआयामी प्रभाव का अध्ययन किया गया है, जिसमें उनके सामाजिक जागरूकता, आत्म-अभिव्यक्ति, पेशेवर नेटवर्किंग और सामुदायिक भागीदारी पर ध्यान केंद्रित किया गया है। वैश्विक स्तर पर 2025 तक लगभग 2.15 बिलियन महिलाएँ सक्रिय रूप से सोशल मीडिया प्लेटफ़ॉर्म जैसे व्हाट्सएप्प, फेसबुक, इन्स्टाग्राम, टिकटॉक और स्नेपचैट का उपयोग कर रही हैं, जो डिजिटल क्षेत्र में उनके प्रभाव और भागीदारी को दर्शाता है। भारत में लगभग 34.5% सोशल मीडिया उपयोगकर्ता महिलाएँ हैं, जो मुख्यतः इन्स्टाग्राम, व्हाट्सएप्प एवं यूट्यूब का उपयोग करती हैं। ये प्लेटफ़ॉर्म न केवल संवाद के साधन हैं, बल्कि ज्ञान साझा करने, कौशल विकास और सामाजिक सशक्तिकरण के अवसर भी प्रदान करते हैं। लेख यह दर्शाता है कि सोशल मीडिया महिलाओं को पारंपरिक सामाजिक सीमाओं को चुनौती देने, अपने सामाजिक नेटवर्क का विस्तार करने और शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक मुद्दों पर सक्रिय संवाद में भाग लेने का अवसर देता है। ऑनलाइन समुदाय, पेशेवर समूह और ज्ञान साझा करने वाले मंच सहयोग, मार्गदर्शन और सामाजिक समर्थन के अवसर प्रदान करते हैं, जिससे महिलाओं की निर्णय क्षमता और सामाजिक सक्रियता बढ़ती है। हालांकि, डिजिटल असमानता, गोपनीयता संबंधी चिंताएँ, साइबरबुलिंग और मानसिक तनाव जैसी चुनौतियाँ भी स्पष्ट रूप से देखी जा रही हैं। अतः यह स्पष्ट है कि सोशल मीडिया शिक्षित महिलाओं के सामाजिक और व्यक्तिगत विकास के लिए एक महत्वपूर्ण साधन बन चुका है, जो उन्हें सशक्तिकरण, जागरूकता और समाज में सक्रिय भागीदारी के अवसर प्रदान करता है। डिजिटल साक्षरता, लैंगिक समावेशी नीतियाँ और सुरक्षित ऑनलाइन वातावरण इस प्रभाव को और मजबूत कर सकते हैं।

मुख्य शब्द: *शिक्षित महिलाएँ, सोशल मीडिया, सामाजिक सशक्तिकरण, डिजिटल भागीदारी, लैंगिक समानता*

भूमिका

मानव समाज के विकास में महिलाओं की भूमिका सदैव आधारभूत और निर्णायक रही है। वे केवल परिवार की संरचना और दैनिक जीवन की निरंतरता का केंद्र नहीं हैं, बल्कि सामाजिक मूल्यों, सांस्कृतिक परंपराओं और सामुदायिक संबंधों को आगे बढ़ाने वाली महत्वपूर्ण धुरी भी हैं। इतिहास के विभिन्न चरणों में महिलाओं ने परिस्थितियों की कठोरता और सामाजिक प्रतिबंधों के बावजूद अपने अस्तित्व, क्षमता और रचनात्मकता को निरंतर सिद्ध किया है। महिलाओं का जीवन अनुभव बहुआयामी होता है, जिसमें भावनात्मक संवेदनशीलता, सामाजिक उत्तरदायित्व और मानवीय संबंधों की गहराई एक विशिष्ट संतुलन के साथ उपस्थित होती है। वे परिवार, समुदाय और व्यापक समाज में अपने योगदान के माध्यम से स्थिरता और सामंजस्य का निर्माण करती हैं। शिक्षा और जागरूकता बढ़ने के साथ महिलाओं की दृष्टि और व्यापक हुई है, जिससे वे न केवल अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं को आकार देती हैं बल्कि समाज में न्याय, समानता और मानवता के मूल्यों को आगे बढ़ाने में भी सक्रिय भूमिका निभाती हैं। सामाजिक संरचना में महिलाओं का स्थान केवल उनकी जैविक भूमिका से निर्धारित नहीं होता; यह उनके ज्ञान, कौशल, निर्णयक्षमता और जीवन अनुभवों से भी निर्मित होता है। उनकी सहभागिता परिवार से लेकर सामाजिक संस्थाओं तक, और सांस्कृतिक परंपराओं से लेकर आर्थिक क्रियाकलापों तक विस्तारित रहती है। इसी बहुआयामी भागीदारी के कारण महिलाएं समाज की निरंतरता, परिवर्तन और प्रगति का अभिन्न अंग मानी जाती हैं। इस प्रकार, महिलाएं समाज की वह शक्ति हैं, जो मानव संबंधों में संवेदनशीलता, सहयोग, संतुलन और नैतिकता का संचार करती हैं, और समय के साथ बदलती परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं को पुनर्गठित करते हुए समाज को नए दिशा-निर्देश प्रदान करती हैं।

भारतीय समाज में शिक्षित महिलाओं की भूमिका निरंतर बदलती हुई सामाजिक संरचनाओं और सांस्कृतिक गतिशीलताओं के बीच विकसित होती रही है। पिछले एक दशक में सोशल मीडिया का तीव्र विस्तार इस परिवर्तन को और अधिक जटिल तथा व्यापक बनाता है। डिजिटल मंच अब केवल मनोरंजन या संचार के साधन नहीं रहे; वे ज्ञान, आत्म-अभिव्यक्ति, सामाजिक भागीदारी और पेशेवर उन्नति के महत्वपूर्ण स्थल बन चुके हैं। शिक्षित महिलाओं के लिए यह डिजिटल संसार नए अवसरों और नई चुनौतियों दोनों का द्वार खोलता है। सोशल मीडिया ने शिक्षित महिलाओं को अपनी आवाज को व्यापक स्तर पर व्यक्त करने, सामाजिक मुद्दों पर सक्रिय भूमिका निभाने और विविध समुदायों से जुड़ने का एक सहज माध्यम प्रदान किया है। इन प्लेटफ़ॉर्मों के माध्यम से वे अपने अनुभव साझा कर सकती हैं, समान विचारधारा वाले समूहों से सहयोग प्राप्त कर सकती हैं और सामाजिक-आर्थिक अवसरों के नए रूपों तक पहुँच बना सकती हैं। इस प्रकार सोशल मीडिया उनकी सामाजिक उपस्थितियों को बहुआयामी बनाता है और उन्हें सार्वजनिक क्षेत्र में अधिक दृश्यता प्रदान करता है।

इसके समानांतर, यह भी सत्य है कि डिजिटल मंचों की संरचना और उपयोग से उत्पन्न कुछ प्रभाव उनके सामाजिक अनुभवों को चुनौतीपूर्ण बना देते हैं। तुलना की संस्कृति, आदर्श छवि गढ़ने का दबाव, ऑनलाइन आलोचना या लैंगिक पूर्वाग्रह कई बार उनकी आत्मविश्वास, मानसिक संतुलन और सामाजिक स्वतंत्रता को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार सोशल मीडिया एक ऐसा क्षेत्र बन जाता है, जहाँ सशक्तिकरण और सामाजिक दबाव दोनों साथ-साथ सक्रिय रहते हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखा जाए तो सोशल मीडिया शिक्षित महिलाओं की पहचान, उनके सामाजिक संबंधों और उनकी भूमिका के बारे में समाज की धारणा को पुनर्संयोजित करता है। यह केवल व्यक्तिगत अनुभवों तक सीमित नहीं रहता, बल्कि व्यापक सामाजिक धारणाओं, शक्ति-संबंधों और सांस्कृतिक मानदंडों को भी प्रभावित करता है। इसलिए सोशल मीडिया और शिक्षित महिलाओं के बीच संबंध को समझना समकालीन समाज की बदलती संरचना को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है।

वैश्विक एवं भारतीय महिलाओं की शैक्षणिक स्थिति

विश्व स्तर पर महिलाओं की शिक्षा संबंधी स्थिति सामाजिक परिवर्तन, मानव विकास और लैंगिक समानता का एक महत्वपूर्ण संकेतक मानी जाती है। शिक्षा केवल ज्ञान प्रदान करने वाली प्रणाली नहीं है, बल्कि यह सामाजिक गतिशीलता, आत्मनिर्णय, और सामुदायिक प्रगति के लिए एक सशक्त माध्यम के रूप में कार्य करती है। इसलिए महिलाओं की शैक्षणिक उपलब्धियों, अवसरों और चुनौतियों को समझना किसी भी समाज की समग्र प्रगति को समझने के लिए अपरिहार्य है। वैश्विक और भारतीय दोनों संदर्भों में महिलाओं की शिक्षा का परिदृश्य उल्लेखनीय उपलब्धियों और स्थायी चुनौतियों के मिश्रण के रूप में सामने आता है। वैश्विक स्तर पर पिछले तीन दशकों में महिला शिक्षा में हुए सुधार अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहे हैं। यूनेस्को के नवीनतम अनुमानों के अनुसार, विश्व में लगभग 739 मिलियन वयस्क अभी भी अशिक्षित हैं, और इनमें दो-तिहाई से अधिक महिलाएँ हैं। यह आँकड़ा स्पष्ट करता है कि लैंगिक असमानता शिक्षा उपलब्धि के क्षेत्र में अब भी गहराई से मौजूद है। कई निम्न-आय वाले देशों में किशोरियों की शिक्षा अक्सर गरीबी, बाल विवाह, घरेलू श्रम और सांस्कृतिक प्रतिबंधों के कारण बाधित होती है। इसके बावजूद, दुनिया के कुछ क्षेत्रों में आशाजनक परिवर्तन सामने आए हैं।

भारत का परिप्रेक्ष्य इस वैश्विक परिदृश्य से जुड़ा हुआ है, परंतु अपनी विशिष्ट सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के कारण इसमें कई भिन्नताएँ भी दिखाई देती हैं। भारत में महिलाओं की शिक्षा का विकास एक लंबी और जटिल प्रक्रिया से होकर गुजरा है। 1951 में जहाँ देश की महिला साक्षरता दर केवल 8.86% थी, वहीं 2011 की जनगणना में यह बढ़कर 65.46% हो गई। यह सुधार निश्चित रूप से ऐतिहासिक उपलब्धि है। समकालीन आँकड़े स्थिति को और अधिक स्पष्ट करते हैं: आवधिक श्रम बल सर्वेक्षण (2023–24) के अनुसार, भारत की समग्र साक्षरता दर 80.9%, पुरुष साक्षरता 87.2%, और महिला साक्षरता 74.6% है। यह अंतर बताता है कि प्रगति के बावजूद लैंगिक शिक्षा-अंतर अब भी मौजूद है। भारत के राज्यों के भीतर भी उल्लेखनीय विषमता दिखाई देती है। उदाहरण के लिए, केरल में महिला साक्षरता अधिक है, जबकि कुछ राज्यों जैसे बिहार, राजस्थान, झारखंड और उत्तर प्रदेश में अपेक्षाकृत कम है। यह अंतर केवल सांख्यिकीय विभाजन नहीं है यह दर्शाता है कि सामाजिक-आर्थिक अवसरों, भौगोलिक परिस्थितियों, सांस्कृतिक दृष्टिकोणों और नीतिगत प्रभावशीलता ने महिला शिक्षा को अलग-अलग रूपों में प्रभावित किया है।

एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि भारत में लड़कियों का प्राथमिक और माध्यमिक स्तर पर नामांकन पिछले वर्षों में तेजी से बढ़ा है। सरकारी रिपोर्टों के अनुसार, प्राथमिक स्तर एवं माध्यमिक स्तर पर लड़कियों का सकल नामांकन अनुपात बढ़ा है। यह सुधार 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ', सर्व शिक्षा अभियान, मध्याह्न-भोजन योजना, साइकिल वितरण योजनाएँ और छात्रवृत्ति कार्यक्रमों जैसी नीतियों

का प्रत्यक्ष परिणाम है। परंतु उच्च शिक्षा के स्तर पर यह प्रगति रुक जाती है। अनेक क्षेत्रों में सामाजिक बाधाएँ, आर्थिक बोझ, विवाह-दबाव और सुरक्षा संबंधी चिंताएँ लड़कियों को उच्च शिक्षा से दूर कर देती हैं। ग्रामीण क्षेत्रों की स्थिति विशेष ध्यान देने योग्य है। ग्रामीण भारत में महिला साक्षरता दर, शहरी क्षेत्रों की तुलना में औसतन 15–20 प्रतिशत कम पाई जाती है। इसके पीछे कई कारक कार्य करते हैं जैसे विद्यालयों की दूरी, परिवहन की कमी, परिवार की आर्थिक प्राथमिकताएँ, घरेलू कार्यभार, तथा शिक्षा के प्रति पारंपरिक धारणाएँ। विशेषकर दलित, आदिवासी और अल्पसंख्यक समुदायों की महिलाओं की शिक्षा-स्थिति में विषमताएँ अधिक स्पष्ट दिखाई देती हैं। इन वर्गों की लड़कियों के पास न तो गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की नियमित उपलब्धता होती है और न ही सामाजिक-सांस्कृतिक प्रोत्साहन।

भारत में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भी मिश्रित तस्वीर उभरती है। विश्वविद्यालयों में महिलाओं का प्रवेश पिछले कुछ वर्षों में बढ़ा है और अब कई विषयों जैसे कला, शिक्षा, चिकित्सा में महिला छात्राओं का अनुपात 50% से अधिक तक पहुँच चुका है। फिर भी, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, इंजीनियरिंग और गणित जैसे क्षेत्रों में उनकी उपस्थिति अभी भी सीमित है। यूनेस्को की एक रिपोर्ट के अनुसार, भारत में विज्ञान अनुसंधान में कार्यरत महिलाओं का अनुपात लगभग 14% है, जो वैश्विक औसत से काफी नीचे है। इससे यह संकेत मिलता है कि उच्च शिक्षा के कुछ क्षेत्रों में लैंगिक अंतर अब भी गहराई से मौजूद है। महिला शिक्षा का सामाजिक प्रभाव अत्यंत व्यापक है। अनेक अध्ययनों से स्पष्ट हुआ है कि जब महिलाएँ शिक्षित होती हैं, तो उनका आत्मविश्वास बढ़ता है, निर्णय-क्षमता मजबूत होती है और वे परिवार के स्वास्थ्य, पोषण, और आर्थिक स्थिरता में अधिक सकारात्मक भूमिका निभाती हैं। शिक्षित महिलाओं के बच्चों की शैक्षिक उपलब्धि और स्वास्थ्य न्यून शिक्षित परिवारों की तुलना में बेहतर पाए गए हैं। इसके अलावा, महिला शिक्षा में वृद्धि से बाल विवाह की दर में कमी, प्रजनन दर में गिरावट और महिलाओं के श्रम-बल में भागीदारी में वृद्धि देखी गई है। इन उपलब्धियों और चुनौतियों का सम्मिलित विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि महिलाओं की शैक्षणिक स्थिति किसी भी समाज के विकास का सटीक दर्पण है। वैश्विक स्तर पर सुधार के बावजूद, बड़ी संख्या में महिलाएँ शिक्षा के अवसरों से वंचित हैं, जबकि भारत में प्रगति के बाद भी सामाजिक-सांस्कृतिक प्रतिबंध, आर्थिक असमानताएँ और क्षेत्रीय विषमताएँ शिक्षा की समानता को बाधित करती हैं। इसलिए नीति-निर्माताओं, समाजशास्त्रियों, शिक्षाविदों और समुदायों को यह स्वीकार करना होगा कि महिलाओं की शिक्षा केवल व्यक्तिगत उन्नति का माध्यम नहीं है; यह राष्ट्र की सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति की आधारशिला है।

सोशल मीडिया का उद्भव एवं विकास

समकालीन संचार-प्रणालियों में सोशल मीडिया का उद्भव एक अत्यंत महत्वपूर्ण ऐतिहासिक और तकनीकी मोड़ के रूप में देखा जाता है। इसके विकास की प्रक्रिया केवल इंटरनेट के प्रसार का परिणाम नहीं थी, बल्कि यह वैश्विक सामाजिक संरचनाओं, संचार व्यवहारों और तकनीकी नवाचारों के संयुक्त प्रभाव से विकसित हुआ एक व्यापक सांस्कृतिक परिवर्तन था। 20वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब डिजिटल तकनीक ने गति पकड़नी शुरू की, तब मानव संचार के पारंपरिक माध्यम पत्र, रेडियो, टेलीफोन और टेलीविज़न धीरे-धीरे ऐसे परिवेश की ओर बढ़ने लगे, जहाँ संवाद अधिक त्वरित, बहुआयामी और परस्पर-सक्रिय होने लगा। इसी पृष्ठभूमि से सोशल मीडिया की वैचारिक नींव निर्मित हुई। सोशल मीडिया के प्रारंभिक रूप 1980 के दशक में बुलेटिन बोर्ड सिस्टम और यूज़नेट जैसे प्लेटफ़ॉर्मों के माध्यम से दिखाई देने लगे, जहाँ उपयोगकर्ता पहली बार डिजिटल समुदायों में संवाद स्थापित कर रहे थे। यह काल ऑनलाइन सामाजिक संपर्क का प्रारंभिक गठन काल माना जाता है। 1990 के दशक में इंटरनेट के विस्तार और वर्ल्ड वाइड वेब के विकास ने संचार प्रणालियों को एक नई दिशा प्रदान की। इस दशक में सिक्सडिग्री (1997) जैसे प्लेटफ़ॉर्मों ने पहली बार आधुनिक सोशल नेटवर्किंग की अवधारणा प्रोफ़ाइल निर्माण, मित्र सूची और नेटवर्क इंटरैक्शन को साकार किया। हालांकि यह आरंभिक प्रयास व्यापक सफलता प्राप्त नहीं कर पाए, लेकिन इन्होंने सोशल मीडिया के भावी स्वरूप के लिए आधार तैयार कर दिया।

21वीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में सोशल मीडिया ने नई गति प्राप्त की। फ्रेंडस्टर (2002), मायस्पेस (2003) और उसके पश्चात फेसबुक (2004) ने वैश्विक स्तर पर सामाजिक संबंधों, पहचान-निर्माण और संवाद के तरीकों को पूरी तरह बदल दिया। इन प्लेटफ़ॉर्मों ने संवाद को निजी और सामूहिक दोनों स्तरों पर अधिक सहज, दृश्यात्मक और गतिशील बनाया। उपयोगकर्ताओं को अपनी पहचान प्रस्तुत करने, नेटवर्क बनाने, विचार साझा करने और सामाजिक संवाद में भागीदारी का एक नया माध्यम प्राप्त हुआ। यह परिवर्तन केवल तकनीक का परिणाम नहीं था; यह सामाजिकता के नए रूप का उद्भव था—एक ऐसा रूप जो समय और स्थान की सीमाओं को पार कर सकता था। इसके बाद ट्विटर (2006) जैसे माइक्रो-ब्लॉगिंग प्लेटफ़ॉर्म, यूट्यूब (2005) जैसे वीडियो-साझाकरण मंच, और इन्स्टाग्राम (2010) जैसे दृश्य-आधारित नेटवर्क सामने आए, जिन्होंने अभिव्यक्ति, सूचना-वितरण और सांस्कृतिक विनिमय के नए प्रतिमान स्थापित किए। इन

माध्यमों ने सामाजिक जीवन की गति और विस्तार को अभूतपूर्व स्तर तक बढ़ाया। विचार, भावनाएँ, रचनात्मकता और ज्ञान—अब केवल एक क्लिक की दूरी पर उपलब्ध थे। 2010 के दशक के उत्तरार्ध में व्हाट्सएप्प, स्नेपचैट और टिकटॉक जैसे प्लेटफ़ॉर्मों ने सोशल मीडिया के स्वरूप को और अधिक विविध और व्यापक बना दिया, जिससे संचार केवल संदेशों तक सीमित न रहकर बहु-रूपीय हो गया जिसमें पाठ, ध्वनि, चित्र, वीडियो और त्वरित प्रतिक्रियाएँ सम्मिलित थीं।

सामाजिक विज्ञान के दृष्टिकोण से देखा जाए तो सोशल मीडिया का विकास केवल एक तकनीकी यात्रा नहीं है; यह मानव व्यवहार, सामाजिक संरचनाओं, शक्ति-संबंधों और सांस्कृतिक प्रथाओं में आए गहन परिवर्तनों का प्रतिबिंब है। यह मंच उपयोगकर्ताओं को स्वयं के विचारों और अनुभवों को साझा करने, सामाजिक नेटवर्कों का विस्तार करने, और सामूहिक चर्चाओं में भाग लेने का अवसर प्रदान करता है। इसके कारण समाज में ज्ञान-साझाकरण, सामाजिक जागरूकता, सक्रिय नागरिकता और सांस्कृतिक पहचान के नए आयाम विकसित हुए हैं। इस प्रकार, सोशल मीडिया का उद्भव और विकास एक दीर्घकालिक सामाजिक-तकनीकी प्रक्रिया है, जिसने मानव संचार को पुनर्परिभाषित किया है। यह केवल तकनीकी नवाचार का परिणाम नहीं, बल्कि बदलते सामाजिक मूल्य, वैश्विक संपर्कों का विस्तार और व्यक्तिगत अभिव्यक्ति के नए अवसरों का समन्वित प्रतिफल है। आज सोशल मीडिया आधुनिक समाज के ताने-बाने का अभिन्न हिस्सा बन चुका है, और इसका प्रभाव जीवन के लगभग हर क्षेत्र व्यक्तिगत, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक तक विस्तृत हो चुका है।

सोशल मीडिया का समाज पर प्रभाव

आधुनिक सामाजिक जीवन में सोशल मीडिया एक ऐसी शक्ति बनकर उभरा है, जिसने मानवीय व्यवहार, संपर्क के तौर-तरीकों और सामुदायिक संरचना को नई दिशा दी है। यह केवल तकनीकी बदलाव का परिणाम नहीं है, बल्कि समाज की मानसिकता, विचार प्रक्रिया और सांस्कृतिक मानकों पर गहरी छाप छोड़ने वाला माध्यम बन चुका है। इसके प्रसार ने मानवीय संबंधों, संवाद शैली और सामाजिक व्यवस्था को पुनर्गठित किया है, जिससे परंपरागत संरचनाएँ नए स्वरूप में परिवर्तित हो रही हैं। सबसे पहले, सामाजिक संबंधों के स्वरूप में आए परिवर्तन उल्लेखनीय हैं। पहले बातचीत प्रत्यक्ष मुलाकात पर आधारित होती थी, जिसमें भावनात्मक गहराई और व्यक्तिगत जुड़ाव स्पष्ट होते थे। अब संचार अधिक त्वरित, व्यापक और संक्षिप्त हो गया है। लोग कई परिचितों से जुड़े रहते हैं, लेकिन इन रिश्तों की स्थायित्व और गहराई अक्सर सतही रह जाती है। फिर भी अलग-अलग क्षेत्रों और संस्कृतियों के लोग सरलता से संवाद स्थापित कर पा रहे हैं, जिससे वैश्विक समझ और परस्पर सहयोग को बढ़ावा मिल रहा है।

सामाजिक संरचना पर प्रभाव विचारधारा, जनमत और ज्ञान के प्रसार के स्तर पर भी दिखाई देता है। पारंपरिक सूचना माध्यम जहाँ सीमित दायरे में काम करते थे, वहीं अब सामान्य व्यक्ति भी सूचना प्रसारित कर सकता है। इससे ज्ञान-साझाकरण का दायरा विस्तृत हुआ है, परंतु असत्य सामग्री और भ्रम फैलाने वाली सूचनाओं का प्रसार भी बढ़ा है। इससे समाज में संशय, वैचारिक टकराव और विश्वसनीयता संबंधी संकट उत्पन्न होते हैं। कई बार लोग केवल अपनी पसंद के विचारों तक सीमित रह जाते हैं, जिससे सोच का दायरा संकुचित हो जाता है। संस्कृतिक जीवन में भी व्यापक बदलाव देखने को मिलते हैं। फैशन, भाषा, मनोरंजन, जीवन शैली और मूल्य-धारणाएँ नई दिशा ग्रहण कर रही हैं। विशेष रूप से युवा वर्ग की पहचान और उनके सामाजिक अनुभवों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। इससे कई संस्कृतियों को अभिव्यक्ति के नए मंच मिले हैं, लेकिन तुलना, आत्म-प्रदर्शन और उपभोक्तावादी प्रवृत्तियों में वृद्धि भी देखी जा रही है। राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में भी प्रभाव स्पष्ट है। विभिन्न संगठन, समूह और नागरिक पहल इसी माध्यम के सहारे अभियान चलाते हैं, जागरूकता बढ़ाते हैं और सहभागिता को प्रोत्साहित करते हैं। इससे आम नागरिकों को सार्वजनिक मामलों में आवाज़ मिली है, तथा कई सामाजिक आंदोलन इसी मार्ग से गति पकड़ते हैं। इसके विपरीत भ्रामक सामग्री, उत्तेजक संदेश और घृणात्मक वक्तव्य जैसी चुनौतियाँ भी उभर रही हैं, जो सामाजिक सद्भाव को प्रभावित कर सकती हैं। मानसिक जीवन पर भी इसका असर गंभीर माना जा रहा है। निरंतर तुलना, मान्यता की इच्छा और आत्म-प्रदर्शन के दबाव से तनाव, चिंता और असुरक्षा बढ़ सकती है। अनेक शोध संकेत करते हैं कि आत्म-छवि और आत्मसम्मान पर इसका प्रभाव विशेष रूप से किशोरों और युवा महिलाओं में अधिक देखा गया है। संपूर्णता में देखा जाए तो सोशल मीडिया समाज के लिए संभावनाओं और चुनौतियों दोनों का स्रोत है। यह संवाद, अभिव्यक्ति और ज्ञान-साझाकरण के मार्ग खोलता है, परंतु साथ ही सावधानी, विवेक और जिम्मेदार उपयोग की आवश्यकता भी उत्पन्न करता है। समाज इन्हीं पहलुओं के संतुलन के माध्यम से इसके लाभों को मजबूत और हानिकारक प्रभावों को नियंत्रित कर सकता है।

सम्बंधित साहित्य की समीक्षा

गोपाल कृष्ण अग्रवाल, जे. एस. राठौर (2024), लेखक बताते हैं कि सोशल मीडिया ने महिलाओं को सूचना, नेटवर्क और आत्म-अभिव्यक्ति के अवसर प्रदान करके उनके सशक्तिकरण और सामाजिक जागरूकता को बढ़ाया है। वहीं, मास मीडिया और डिजिटल प्लेटफ़ॉर्मों में महिलाओं का यथार्थ प्रतिनिधित्व अक्सर सीमित या वस्तुपरक होता है, जिससे शोषण और सामाजिक दबाव जैसी चुनौतियाँ उत्पन्न होती हैं। लेखक स्पष्ट करते हैं कि सोशल मीडिया महिलाओं के लिए सशक्तिकरण और चुनौती दोनों का साधन है, और लैंगिक असमानताओं और महिला अनुभवों को समझने के लिए यह अत्यंत प्रासंगिक दृष्टिकोण प्रदान करती है।

दिलीप मंडल, गीता यादव (2021), लेखक के अनुसार सोशल मीडिया ने महिलाओं को अपनी आवाज़, विचार और पहचान व्यक्त करने के अवसर दिए हैं, जिससे उनका सशक्तिकरण और सामाजिक जागरूकता बढ़ी है। वहीं, प्लेटफ़ॉर्म की संरचनात्मक कमियाँ, डेटा असुरक्षा, एल्गोरिदमिक नियंत्रण और सामाजिक-आर्थिक असमानताएँ महिलाओं की वास्तविक भागीदारी और स्वतंत्रता को सीमित करती हैं। लेखक चेतावनी देते हैं कि सोशल मीडिया केवल संवाद और सूचना का माध्यम नहीं, बल्कि शक्ति, नियंत्रण और सामाजिक संरचनाओं का हिस्सा भी बन चुका है।

सविता भदौरिया (2025), लेखिका ने सोशल मीडिया के महिलाओं पर पड़ने वाले प्रभाव का समग्र विश्लेषण प्रस्तुत किया है। यह दर्शाता है कि डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म महिलाओं को संवाद, सामाजिक भागीदारी और आत्म-अभिव्यक्ति के नए अवसर प्रदान करते हैं, जिससे उनका आत्मविश्वास और सामाजिक जागरूकता बढ़ती है। ऑनलाइन नेटवर्किंग और पेशेवर समूह महिलाओं के व्यक्तिगत और पेशेवर विकास में सहायक साबित होते हैं। हालांकि, महिलाओं का ऑनलाइन प्रतिनिधित्व अक्सर सीमित और वस्तुपरक होता है, जिससे शोषण, भेदभाव और मानसिक दबाव जैसी चुनौतियाँ उत्पन्न होती हैं। लेखिका ने सोशल मीडिया के सकारात्मक और नकारात्मक आयामों को संतुलित दृष्टि से प्रस्तुत किया है।

संतोष कुमार (2025), वर्तमान सूचना प्रौद्योगिकी के युग में सोशल मीडिया दैनिक जीवन का अभिन्न हिस्सा बन गया है और समाज के प्रत्येक वर्ग को गहराई से प्रभावित कर रहा है। भारतीय महिलाओं के सशक्तिकरण में सोशल मीडिया ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, क्योंकि यह लिंग-आधारित मान्यताओं, रूढ़ियों और सामाजिक असमानताओं को चुनौती देने का मंच प्रदान करता है। डिजिटल प्लेटफ़ॉर्मों के माध्यम से महिलाएँ सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों पर संवाद कर रही हैं, आर्थिक गतिविधियों में भाग ले रही हैं और आधुनिक जीवन शैली एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान में सक्रिय हैं। यह शोध पत्र सोशल मीडिया के माध्यम से महिलाओं में जागरूकता, सक्रियता और समानता को बढ़ावा देने तथा संबंधित चुनौतियों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यदि इसका सही दिशा में उपयोग किया जाए, तो सोशल मीडिया डिजिटल साक्षरता और समावेशी समाज के निर्माण में एक सशक्त साधन बन सकता है।

उद्देश्य

1. शिक्षित महिलाओं पर सोशल मीडिया के प्रभाव का अध्ययन करना।

उपकल्पना

1. शिक्षित महिलाओं पर सोशल मीडिया का प्रभाव पड़ा है।

शोध विधि

प्रस्तुत अध्ययन में केवल द्वितीयक स्रोतों का उपयोग किया गया है। जानकारी और निष्कर्ष विभिन्न शोध पत्र, पुस्तकें, सरकारी रिपोर्ट, जर्नल लेख, डिजिटल डेटाबेस और विश्वसनीय ऑनलाइन स्रोतों से एकत्रित किए गए। इन स्रोतों के माध्यम से शिक्षित महिलाओं पर सोशल मीडिया के प्रभाव का विश्लेषण किया गया और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से व्याख्या की गई। डेटा का विश्लेषण गुणात्मक दृष्टिकोण से किया गया, ताकि विषय की गहन समझ और निष्कर्षों की वैधता सुनिश्चित की जा सके।

सोशल मीडिया का शिक्षित महिलाओं पर प्रभाव

सोशल मीडिया ने शिक्षित महिलाओं के जीवन और सामाजिक व्यवहार पर गहरा और बहुआयामी प्रभाव डाला है। यह केवल संवाद का माध्यम नहीं रह गया है, बल्कि उनके सामाजिक व्यवहार, मानसिक दृष्टिकोण, निर्णय लेने की क्षमता, करियर और व्यक्तिगत विकास का एक निर्णायक साधन बन चुका है। वैश्विक स्तर पर 2025 के आँकड़ों के अनुसार लगभग 2.15 बिलियन महिलाएँ सोशल मीडिया प्लेटफ़ॉर्म का उपयोग कर रही हैं, जिसमें व्हाट्सएप्प पर 46-48%, फेसबुक पर 43% और इन्स्टाग्राम पर लगभग 49% महिलाएँ सक्रिय हैं। यह आंकड़ा स्पष्ट करता है कि महिलाएँ डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म के माध्यम से केवल संवाद नहीं करतीं, बल्कि अपने विचार,

अनुभव और सामाजिक पहचान को साझा करके समाज में अपनी उपस्थिति और भूमिका को प्रभावी ढंग से स्थापित कर रही हैं। भारत में भी सोशल मीडिया का प्रभाव तेजी से बढ़ा है। 2025 के आंकड़ों के अनुसार भारत में लगभग 34.5% सोशल मीडिया उपयोगकर्ता महिलाएँ थीं, और वे मुख्य रूप से इंस्टाग्राम, व्हाट्सएप और यूट्यूब का उपयोग करती हैं। उनका डिजिटल व्यवहार शिक्षा, करियर, स्वास्थ्य, सामाजिक जागरूकता और व्यक्तिगत रुचियों के इर्द-गिर्द केंद्रित रहता है। यह दर्शाता है कि सोशल मीडिया ने महिलाओं को पारंपरिक सामाजिक और भौगोलिक सीमाओं से बाहर निकलकर सीखने, संवाद करने और समाज में सक्रिय भूमिका निभाने के अवसर प्रदान किए हैं।

शिक्षित महिलाओं पर सोशल मीडिया का प्रभाव कई सामाजिक और सांस्कृतिक आयामों में देखा जा सकता है। सबसे पहले, यह सामाजिक जागरूकता और सक्रियता को बढ़ावा देता है। महिलाएँ ऑनलाइन मंचों के माध्यम से अपने अधिकारों, शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक मुद्दों पर जानकारी प्राप्त करती हैं, इसे साझा करती हैं और अपने समुदायों में जागरूकता फैलाती हैं। इसके परिणामस्वरूप, समाज में उनकी सोच और दृष्टिकोण की स्वीकार्यता बढ़ती है और सामाजिक नीतियों और कार्यक्रमों में उनकी भागीदारी भी प्रभावशाली बनती है। इसके साथ ही सोशल मीडिया महिलाओं के लिए अपनी सामाजिक पहचान और आत्म-अभिव्यक्ति का मंच बन गया है। प्रोफ़ाइल, पोस्ट, ब्लॉग और वीडियो के माध्यम से महिलाएँ अपने विचार, उपलब्धियाँ और रुचियाँ साझा करके पारंपरिक सामाजिक भूमिकाओं से परे अपनी स्वतंत्र पहचान स्थापित करती हैं। इसके अलावा, सोशल मीडिया महिलाओं को समान विचारधारा वाले समूहों, पेशेवर नेटवर्क और ऑनलाइन समुदायों के माध्यम से सहयोग और ज्ञान-साझाकरण के अवसर प्रदान करता है। इससे न केवल पेशेवर और शैक्षिक विकास बढ़ता है, बल्कि सामाजिक समर्थन और संसाधनों तक उनकी पहुँच भी सुदृढ़ होती है। हालांकि, इसका प्रभाव केवल सकारात्मक नहीं है। लगातार ऑनलाइन उपस्थिति, तुलना संस्कृति और 'लाइक्स' या 'फॉलोअर्स' पर आधारित मान्यता की आवश्यकता मानसिक दबाव, चिंता और असुरक्षा को बढ़ा सकती है। इसके अलावा, फर्जी समाचार, ट्रोलिंग, साइबरबुलिंग और अफवाहें महिलाओं के दृष्टिकोण और निर्णय प्रक्रिया पर नकारात्मक प्रभाव डाल सकती हैं।

ग्रामीण और पिछड़े क्षेत्रों की महिलाएँ डिजिटल और आर्थिक असमानताओं के कारण सोशल मीडिया तक सीमित पहुँच रखती हैं। इसके बावजूद, शहरी और शिक्षित महिलाएँ प्लेटफ़ॉर्म का उपयोग सक्रिय रूप से कर रही हैं, जिससे उनके करियर, सामाजिक जागरूकता और व्यक्तिगत विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिखाई देता है। सोशल मीडिया ने महिलाओं को पारंपरिक सांस्कृतिक ढाँचों से परे जाकर अपनी पहचान, रुचियाँ और विचार व्यक्त करने का अवसर दिया है। यह पारंपरिक सीमाओं को चुनौती देता है, महिलाओं को आत्मनिर्भर और जागरूक बनाता है और सांस्कृतिक आदान-प्रदान के नए अवसर प्रदान करता है।

निष्कर्ष

अध्ययन से स्पष्ट होता है कि सोशल मीडिया ने शिक्षित महिलाओं के जीवन और समाज में उनकी भूमिका को गहराई से प्रभावित किया है। यह केवल संवाद या जानकारी साझा करने का साधन नहीं रह गया है, बल्कि उनके सामाजिक जागरूकता, आत्म-अभिव्यक्ति, निर्णय क्षमता और नेतृत्व कौशल को विकसित करने का एक प्रभावशाली प्लेटफ़ॉर्म बन गया है। वैश्विक और भारतीय संदर्भों में आंकड़े यह दर्शाते हैं कि महिलाएँ सोशल मीडिया का उपयोग शिक्षा, करियर, स्वास्थ्य, सामाजिक जागरूकता और व्यक्तिगत विकास के लिए कर रही हैं, जिससे उनका सामाजिक दृष्टिकोण और सक्रिय भागीदारी लगातार विस्तारित हो रही है। शिक्षित महिलाएँ ऑनलाइन प्लेटफ़ॉर्म के माध्यम से अपने विचार, अनुभव और उपलब्धियाँ साझा करके पारंपरिक सामाजिक सीमाओं और लैंगिक बाधाओं को चुनौती दे रही हैं। साथ ही, ये प्लेटफ़ॉर्म उन्हें सामाजिक समर्थन, नेटवर्किंग और ज्ञान-साझाकरण के अवसर भी प्रदान करते हैं, जो उनके व्यक्तिगत और पेशेवर विकास में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। इससे उनकी सामाजिक पहचान सशक्त होती है और वे समुदाय में अधिक प्रभावी भूमिका निभाने में सक्षम बनती हैं। हालाँकि, सोशल मीडिया के उपयोग के साथ चुनौतियाँ भी जुड़ी हैं, जैसे मानसिक दबाव, डिजिटल असमानताएँ, गोपनीयता व सुरक्षा संबंधी जोखिम, और सामाजिक अपेक्षाओं का दबाव। इन सीमाओं के बावजूद, यह स्पष्ट है कि सोशल मीडिया ने शिक्षित महिलाओं के सामाजिक, सांस्कृतिक और व्यक्तिगत अनुभवों को बहुआयामी और स्थायी रूप से प्रभावित किया है। अतः सोशल मीडिया शिक्षित महिलाओं के सशक्तिकरण, सामाजिक भागीदारी और व्यक्तिगत विकास का एक महत्वपूर्ण साधन बन चुका है। यह उन्हें नए विचार, अवसर और नेटवर्क प्रदान करता है, जिससे वे न केवल अपने जीवन को समृद्ध बना रही हैं, बल्कि समाज में सकारात्मक परिवर्तन लाने में भी सक्रिय भूमिका निभा रही हैं। सामाजिक नीतियाँ, डिजिटल समावेशन और लैंगिक

न्याय की पहलें इस प्रभाव को और मजबूत कर सकती हैं, जिससे महिलाओं की स्थिति में स्थायी सुधार और समाज में समानता को बढ़ावा मिल सके।

References-

1. प्रगति (2022), टुवर्ड्स इक्वलिटी: मल्टीदडीस्सिप्लिन्री पर्सपेक्टिव ऑन वीमेन एम्पावरमेंट, कृष्णा पब्लिशिंग हाउस, गुजरात
2. आवधिक श्रम बल सर्वेक्षण (2023–24)
3. ठाकुर प्रदीप (2023), भारत में डिजिटल क्रांति, प्रभात प्रकाशन, न्यू दिल्ली, पृ.सं.-02-07
4. मांगलिक, रोहित (2024), सोशल मीडिया और सामाजिक विकास की अवधारणा, एडुगोरिल्ला प्रकाशन, उत्तर प्रदेश, पृ.सं.-50-53
5. अग्रवाल, गोपाल कृष्ण, राठौर जे. एस. (2024), लिंग एवं समाज (सिधान्त तथा व्यवहार में), एसबीपीडी पब्लिशिंग हाउस, न्यू दिल्ली, पृ.सं-198
6. मंडल दिलीप, यादव गीता (2021), अनसोशल नेटवर्क, राजकमल प्रकाशन, न्यू दिल्ली, पृ.सं-75

Nav Jyoti, Vol. 13, No. 26, January-June 2025 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

झारखण्ड में सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों का उद्यमशीलता पर प्रभाव: एक समाजशास्त्रीय अध्ययन (बोकारो जिला के चास प्रखण्ड के विशेष संदर्भ में)

लक्ष्मी कुमारी
जेआरएफ, स्नातकोत्तर समाजशास्त्र विभाग
राँची विश्वविधालय, राँची

सारांश

प्रस्तुत अध्ययन चास प्रखण्ड (जिला–बोकारो, झारखण्ड) में उद्यमशीलता पर सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों के प्रभाव की समाजशास्त्रीय समझ को विकसित करता है। अनुसंधान में वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग किया गया, जिसमें वर्णनात्मक शोध डिज़ाइन अपनाया गया। तथ्य संग्रह हेतु 80 उत्तरदाताओं का चयन उद्देश्यपूर्ण निदर्शन द्वारा किया गया। असहभागी अवलोकन तथा साक्षात्कार अनुसूची का प्रयोग कर प्राथमिक तथ्य संकलित किया गया। आँकड़ों का विश्लेषण सांख्यिकीय तथा व्याख्यात्मक दोनों तरीकों से किया गया, जिससे स्थानीय सामाजिक संरचना और उद्यमशीलता के संबंधों को अधिक स्पष्टता मिल सकी। प्रमुख निष्कर्षों से ज्ञात होता है कि चास प्रखण्ड में उद्यमशीलता का विकास सामाजिक–सांस्कृतिक वातावरण से गहरे रूप में नियंत्रित होता है। परिवार, समुदाय और सामाजिक नेटवर्क उद्यमियों के लिए प्रेरक तत्वों की तरह कार्य करते हैं, जो समर्थन, संसाधन और सामाजिक स्वीकृति प्रदान करते हैं। इसके विपरीत परंपरागत मूल्य–व्यवस्था, जोखिम–विमुखता, लिंग आधारित मानदंड, आर्थिक संसाधनों की कमी तथा संस्थागत सहायता का अभाव प्रमुख अवरोधक कारकों के रूप में सामने आए। शोध यह भी दर्शाता है कि आधुनिकता और परंपरा का समांतर प्रभाव उद्यमशील मानसिकता को मिश्रित लेकिन विशिष्ट स्वरूप प्रदान करता है। सैद्धांतिक रूप से यह अध्ययन सामाजिक पूँजी सिद्धांत, सांस्कृतिक सिद्धांत और संरचनात्मक–क्रियात्मक दृष्टिकोण की प्रासंगिकता को क्षेत्रीय उद्यमशीलता की वास्तविक प्रक्रियाओं से जोड़ते हुए एक महत्वपूर्ण योगदान प्रस्तुत करता है। व्यावहारिक स्तर पर यह शोध नीति–निर्माताओं, स्थानीय संस्थानों और सामुदायिक संगठनों को उन आयामों की ओर संकेत करता है, जिन पर ध्यान देकर स्थानीय उद्यमशील वातावरण को अधिक सक्षम और समावेशी बनाया जा सकता है।

मुख्य शब्द: सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य, उद्यमशीलता, सामाजिक पूँजी, समुदाय, परिवार, लिंग मानदंड

प्रस्तावना

झारखण्ड का सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य विविधताओं से परिपूर्ण है, जहाँ आदिवासी, किसान, प्रवासी समुदायों और औद्योगिक श्रमिकों की जीवनशैली परस्पर प्रभाव डालते हुए एक विशिष्ट सामाजिक संरचना का निर्माण करती है। ऐसी संरचना में उद्यमशीलता के विकास की प्रक्रिया केवल आर्थिक या तकनीकी कारकों पर निर्भर नहीं रहती, बल्कि सामाजिक मूल्यों, सांस्कृतिक मान्यताओं, परंपरागत अभ्यासों और सामुदायिक जीवन के गहरे प्रभाव में विकसित होती है। वर्तमान समय में, जब भारत के अनेक राज्यों में स्थानीय उद्यमों को प्रोत्साहन देने, ग्रामीण अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने और आत्मनिर्भरता को बढ़ावा देने पर व्यापक बल दिया जा रहा है, तब झारखण्ड के भीतर उद्यमशीलता के सामाजिक आयामों का विश्लेषण अत्यंत आवश्यक हो जाता है। विशेषकर बोकारो जिले का चास प्रखण्ड, जो औद्योगिक आधुनिकता तथा ग्रामीण पारंपरिक जीवन के संगम का क्षेत्र है, सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों और उद्यमशीलता के अंतर्संबंधों को समझने के लिए एक महत्वपूर्ण अध्ययन-क्षेत्र प्रस्तुत करता है। भारत के सामाजिक ढाँचे में समुदाय आधारित मूल्य-व्यवस्था उद्यमशीलता के स्वरूप को दिशा प्रदान करती आई है। परिवार, समुदाय, जातीय संरचना, स्थानीय परंपराएँ और सामूहिक कार्य-संस्कृति

किसी व्यक्ति के उद्यमशील व्यवहार को आकार देने में निर्णायक भूमिका निभाते हैं। कुछ समुदायों में उद्यमशीलता को सामाजिक प्रतिष्ठा और स्वतंत्रता का स्रोत माना जाता है, जबकि कुछ में जोखिम लेने को हतोत्साहित किया जाता है। इसी प्रकार, सांस्कृतिक विश्वदृष्टि, लोकाचार, अनुष्ठानिक व्यवहार और जीवन-निर्वाह के परंपरागत तरीके यह निर्धारित करते हैं कि लोग किस प्रकार के आर्थिक उपक्रमों को स्वीकारते या अस्वीकारते हैं। अतः उद्यमशीलता को केवल आर्थिक गतिविधि के रूप में नहीं, बल्कि एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में समझना आवश्यक है।

उद्यमशीलता के समाजशास्त्रीय अध्ययन में यह तथ्य निरंतर उभर रहा है कि किसी भी समुदाय में उद्यम शुरू करने और उसे स्थायी स्वरूप देने की प्रक्रिया मूल्य-आधारित सामाजिक संरचनाओं से अत्यंत गहराई से जुड़ी होती है। उदाहरण के लिए, समूहवाद, सामूहिक निर्णय-प्रक्रिया, पारिवारिक संयुक्तता और पारंपरिक व्यवसाय विरासत कुछ समुदायों में उद्यमशीलता के अनुकूल वातावरण तैयार करते हैं, जबकि नये प्रयोगों, जोखिम लेने की प्रवृत्ति और व्यक्तिगत आर्थिक उन्नति की आकांक्षा ऐसे सांस्कृतिक संदर्भों में अधिक दिखाई देती है जहाँ आधुनिकता प्रभावशाली हो चुकी है। झारखण्ड, विशेषकर बोकारो का चास प्रखण्ड, इन दोनों प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण प्रस्तुत करता है एक ओर उद्योगों की उपस्थिति से आधुनिक आर्थिक अवसर उपलब्ध हुए हैं, वहीं दूसरी ओर ग्रामीण संस्कृति, स्थानीय विश्वास-प्रणालियाँ और सामुदायिक निकटता अब भी जीवन के निर्णयों को प्रभावित करती हैं। यही मिश्रित सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि इस अध्ययन को और अधिक महत्वपूर्ण बनाती है।

झारखण्ड की अर्थव्यवस्था परंपरागत रूप से कृषि, वनोपज संग्रहण, हस्तशिल्प और लघु उद्यमों पर आधारित रही है, लेकिन राज्य गठन के बाद औद्योगिक विस्तार, शहरीकरण और आर्थिक विविधीकरण के कारण उद्यमशीलता के लिए नये अवसर उभरे हैं। इसके बावजूद, अनेक क्षेत्रों में उद्यमशील गतिविधियों के विकास की गति अपेक्षाकृत धीमी है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य, जो लोगों की व्यवहारगत प्रवृत्तियों को निर्देशित करते हैं, अभी भी परिवर्तनशील अवस्था में हैं। कुछ परंपरागत मान्यताएँ उद्यमिता को समर्थन देती हैं, लेकिन कई स्थानीय सामाजिक संरचनाएँ जोखिम, नवाचार और आर्थिक स्वतंत्रता के प्रति पर्याप्त प्रोत्साहन प्रदान नहीं करतीं। वर्तमान समय में, जब राष्ट्रीय स्तर पर स्टार्टअप संस्कृति का विस्तार हो रहा है और ग्रामीण अर्थव्यवस्था को उद्यमशीलता के माध्यम से सशक्त बनाने की नीतिगत पहलें तेज हो रही हैं, ऐसे में झारखण्ड के स्थानीय परिप्रेक्ष्य को समझना अत्यंत आवश्यक हो जाता है। यह अध्ययन इसी समकालीन आवश्यकता की पूर्ति का प्रयास करता है।

उद्यमशीलता के अध्ययन में सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की भूमिका

उद्यमशीलता के समाजशास्त्रीय विमर्श में यह स्थापित है कि उद्यम केवल आर्थिक गतिविधि नहीं, बल्कि सामाजिक व्यवहार का परिणाम है। इसमें व्यक्ति की मानसिकता, उसके परिवार की अपेक्षाएँ, समुदाय के मूल्य, सांस्कृतिक मानदंड और सामाजिक स्वीकृति की संरचनाएँ महत्वपूर्ण होती हैं। समाजशास्त्रीय सिद्धांत बताते हैं कि सामाजिक पूँजी, सांस्कृतिक पूँजी और परंपरागत मूल्य-प्रणाली किसी भी उद्यम की शुरुआत, उसके विकास तथा उसकी निरंतरता को प्रभावित करती है।

झारखण्ड जैसे राज्य में सामुदायिक जीवन की परंपराएँ, पारंपरिक उत्सव, श्रम-साझेदारी की संस्कृति, आपसी सहयोग, स्थानीय संस्थाओं का प्रभाव तथा सामूहिक निर्णय-प्रक्रिया व्यक्ति की उद्यमशील आकांक्षाओं को या तो प्रोत्साहित करती हैं या कई बार सीमित भी कर देती हैं। उदाहरणतः

- जोखिम लेने को संदेह की दृष्टि से देखना,
- सामूहिक श्रम-संस्कृति का दबाव,
- परिवार की आजीविका सुरक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता,
- पारंपरिक व्यवसायों से विचलन को अस्वीकार करना, इन सभी तत्वों के कारण कई लोग उद्यमशील पहल करने से हिचकिचाते हैं। वहीं दूसरी ओर, सामाजिक एकजुटता, सहयोग नेटवर्क, रिश्तेदारी तंत्र और समुदाय की सामूहिक सहायता उद्यम शुरू करने

के लिए मजबूती भी प्रदान करती है। इस प्रकार सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य उद्यमशीलता के समर्थक और अवरोधक दोनों रूपों में दिखाई देते हैं।

यद्यपि चास प्रखण्ड में आर्थिक अवसरों का विस्तार हुआ है, फिर भी स्थानीय जनसंख्या के बीच उद्यमशील गतिविधियाँ अपेक्षाकृत कम दिखाई देती हैं। यह स्पष्ट संकेत है कि केवल आर्थिक संभावनाओं की उपलब्धता उद्यमशीलता को बढ़ाने के लिए पर्याप्त नहीं होती। अनेक सामाजिक और सांस्कृतिक मान्यताएँ अब भी लोगों के निर्णयों को निर्देशित करती हैं कौन से व्यवसाय स्वीकार्य हैं, परिवार क्या समर्थन करता है, समुदाय किस गतिविधि को सम्मान देता है और कौन से जोखिम सामाजिक रूप से अस्वीकार्य माने जाते हैं। इस शोध की मुख्य समस्या यह है कि चास प्रखण्ड के सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य किस प्रकार स्थानीय लोगों की उद्यमशीलता को प्रभावित करते हैं वे किन स्थितियों में सहयोगी भूमिका निभाते हैं और किन परिस्थितियों में बाधा बन जाते हैं। यह अध्ययन इस अंतर्विरोध को स्पष्ट करने का प्रयास करता है ताकि उद्यमशीलता को क्षेत्रीय सामाजिक संरचना के संदर्भ में बेहतर ढंग से समझा जा सके।

शोध के उद्देश्य

1. चास प्रखण्ड के सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों का स्थानीय उद्यमशीलता की प्रवृत्तियों, निर्णय-प्रक्रियाओं और व्यावसायिक व्यवहार पर पड़ने वाले प्रभाव का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करना।

शोध के मुख्य प्रश्न

1. चास प्रखण्ड की सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य-व्यवस्था किस प्रकार स्थानीय लोगों की उद्यमशील प्रवृत्ति और निर्णय-प्रक्रिया को प्रभावित करती है?

साहित्य समीक्षा

एस. के. सिंह, संजय गुप्ता (2023), उद्यमशीलता पर प्रस्तुत समीक्षा दर्शाती है कि लेख में इसे केवल आर्थिक गतिविधि नहीं, बल्कि एक व्यापक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में व्याख्यायित किया गया है। लेखक के अनुसार उद्यमशीलता व्यक्ति की सामाजिक पृष्ठभूमि, सांस्कृतिक मूल्यों, परिवार, समुदाय और सामाजिक नेटवर्क से गहराई से प्रभावित होती है। जोखिम लेने की प्रवृत्ति, नवाचार, अनुशासन और परिवर्तन-अनुकूलता जैसे गुण सामाजिकरण के माध्यम से विकसित होते हैं। समीक्षा यह भी रेखांकित करती है कि आधुनिक और पारंपरिक मूल्यों का अंतर्संबंध उद्यमशीलता के वास्तविक स्वरूप का निर्माण करता है। सामाजिक पूँजी जैसे विश्वास, सहयोग और नेटवर्क उद्यमी के लिए संसाधनों तथा अवसरों तक पहुँच को संभव बनाती है। संक्षेप में, उद्यमशीलता को समझने के लिए आर्थिक दृष्टिकोण से अधिक जरूरी है कि उसके सामाजिक, सांस्कृतिक और सामुदायिक संदर्भों का गहन विश्लेषण किया जाए।

अमीर एन. लिक्ट और जॉर्डन आई. सीगल (2006), प्रस्तुत समीक्षा यह दर्शाती है कि उद्यमशीलता को एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में समझना आवश्यक है, क्योंकि उद्यमी अपने सामाजिक परिवेश, सांस्कृतिक मान्यताओं और कानूनी ढाँचों से गहरे रूप में प्रभावित होते हैं। इस विचार के अनुसार उद्यमशील गतिविधियों का स्तर केवल आर्थिक कारकों पर निर्भर नहीं करता, बल्कि सांस्कृतिक मूल्यों और संस्थागत व्यवस्था द्वारा निर्देशित होता है। जब औपचारिक संस्थान कमजोर होते हैं, तब उद्यमी सामाजिक नेटवर्क और प्रतिष्ठा–आधारित संबंधों पर निर्भर होकर संसाधन जुटाने और जोखिम प्रबंधन का कार्य करते हैं। इस प्रकार सामाजिक पूँजी उद्यम को सहारा देती है और अवसरों तक पहुँच को सुगम बनाती है। संक्षेप में, उद्यमशीलता सामाजिक संस्कृति, संस्थागत संरचना और नेटवर्क संबंधों के सम्मिलित प्रभाव से आकार लेती है, जिससे यह केवल आर्थिक क्रिया न रहकर एक बहुआयामी सामाजिक घटना बन जाती है।

मूरत सेनतुर्क, एनवर मेंगु (2019), लेखक का विचार दर्शाता है कि सामाजिक उद्यमशीलता सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु उद्यमशील तकनीकों के उपयोग पर आधारित एक परिवर्तनकारी प्रक्रिया है। विचारों के अनुसार यह क्षेत्र सामाजिक कल्याण नीतियों से विकसित होकर अब व्यापक सामाजिक–आर्थिक विमर्श का एक महत्वपूर्ण अंग बन चुका है। सामाजिक मिशन, सामूहिक कल्याण,

और समुदाय केंद्रित हस्तक्षेप इसकी मुख्य विशेषताएँ हैं, जिनके माध्यम से यह सामाजिक पूँजी का निर्माण करती है और समुदायों में परिवर्तन की प्रक्रियाओं को सशक्त करती है। सामाजिक उद्यमशीलता केवल आर्थिक क्रिया के रूप में सीमित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक संरचना, नेटवर्क और सामूहिक कार्रवाई के लिए प्रेरक शक्ति बनती है। संक्षेप में, सामाजिक उद्यमशीलता समाजशास्त्रीय दृष्टि से अत्यंत प्रासंगिक है, क्योंकि यह सामाजिक परिवर्तन और सामुदायिक विकास में निर्णायक भूमिका निभाती है।

राम सागर सिंह (1985), प्रस्तुत लेख में ग्रामीण अभिजात वर्ग, उद्यमशीलता और सामाजिक परिवर्तन के पारस्परिक संबंधों को केंद्र में रखकर ग्रामीण समाज की गहन पड़ताल की गई है। विचारों के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में उभरने वाले आर्थिक उपक्रम केवल व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा का परिणाम नहीं होते, बल्कि वे सामाजिक प्रतिष्ठा, शक्ति-संतुलन और परंपरागत ढाँचों से गहराई से जुड़े रहते हैं। विश्लेषण यह दर्शाता है कि ग्रामीण अभिजात वर्ग अक्सर संसाधनों, नेटवर्क और प्रभाव के आधार पर उद्यमशील अवसरों पर नियंत्रण स्थापित करता है, जिससे स्थानीय अर्थव्यवस्था का ढाँचा और सामाजिक गतिशीलता दोनों प्रभावित होते हैं। लेखक स्पष्ट करते हैं कि ग्रामीण उद्यमशीलता सामाजिक परिवर्तन का संभावित माध्यम है, परंतु यह परिवर्तन समान रूप से वितरित नहीं होता। जहाँ एक ओर आर्थिक अवसरों के विस्तार से नए सामाजिक वर्ग उभरते हैं, वहीं दूसरी ओर पारंपरिक शक्तियाँ स्वयं को पुनर्गठित करके प्रभाव बनाए रखती हैं। इस प्रकार ग्रामीण उद्यमशीलता सामाजिक संरचना में निरंतर परिवर्तन, संघर्ष, अनुकूलन और पुनर्संरचना की प्रक्रिया को प्रतिबिंबित करती है।

समाजशास्त्रीय अवधारणाएँ

(क) संस्कृति: संस्कृति किसी समाज के सोचने, व्यवहार करने और दुनिया को अर्थ देने की प्रक्रिया का समग्र रूप है। इसमें विश्वास, परंपराएँ, रीति-रिवाज, जीवनशैली, कार्य-संबंधी दृष्टिकोण और समष्टिगत व्यवहार सम्मिलित होते हैं। उद्यमशीलता के संदर्भ में संस्कृति यह निर्धारित करती है कि लोग किस प्रकार के कार्य को प्रतिष्ठित मानते हैं, जोखिम लेने को कैसे देखते हैं, आर्थिक स्वतंत्रता को कितनी स्वीकृति प्रदान करते हैं, तथा नवाचार को कितना प्रोत्साहन देते हैं। चास प्रखण्ड जैसे क्षेत्र में, जहाँ ग्रामीण-आधारित परंपराएँ और औद्योगिक आधुनिकता दोनों साथ-साथ मौजूद हैं, संस्कृति दोहरी भूमिका निभाती है एक ओर परंपरा आधारित सामूहिकता है, दूसरी ओर उभरती हुई आधुनिक कार्य-संस्कृति। यही सांस्कृतिक मिश्रण उद्यमशील व्यवहार को एक विशिष्ट दिशा देता है।

(ख) मूल्य: मूल्य वे आदर्श हैं जो लोगों के व्यवहार को दिशा प्रदान करते हैं और यह तय करते हैं कि समाज में किस प्रकार का आचरण 'उचित' या 'अनुचित' माना जाएगा। उद्यमशीलता का विकास उन मूल्यों पर निर्भर करता है जो समाज में जोखिम, नवाचार, आत्मनिर्भरता, प्रतिस्पर्धा और आर्थिक प्रगति को समर्थन या विरोध करते हैं।

(ग) मानदंड: मानदंड व्यवहार संबंधी वे अनलिखित नियम हैं जो किसी समाज में स्वीकार्य आचरण को निर्धारित करते हैं।

(घ) सामाजिक पूँजी: सामाजिक पूँजी से आशय उन नेटवर्क, संबंधों, विश्वास और पारस्परिक सहयोग से है जो किसी व्यक्ति या समुदाय को सामाजिक एवं आर्थिक गतिविधियों में सहायक बनाते हैं। इसमें शामिल हैं- रिश्तेदारी तंत्र, मित्रता, सामुदायिक संगठनों की भूमिका, स्थानीय नेतृत्व, भरोसा और सहयोग की संस्कृति

उद्यमशीलता सामाजिक पूँजी पर अत्यधिक निर्भर होती है, क्योंकि नए उद्यम के लिए आवश्यक संसाधन, जानकारी, सामाजिक स्वीकृति और सहयोग का बड़ा हिस्सा सामाजिक नेटवर्क से ही प्राप्त होता है। चास प्रखण्ड की सामुदायिक एकजुटता, पारिवारिक समर्थन और स्थानीय नेटवर्क उद्यमशीलता के लिए एक आधार प्रदान करते हैं, परन्तु परंपरागत संबंध कभी-कभी नवाचार या बाहरी विचारों को स्वीकार करने में बाधा भी बन सकते हैं।

उद्यमशीलता पर प्रभाव डालने वाले प्रमुख सिद्धांत

(क) सांस्कृतिक सिद्धांत: सांस्कृतिक सिद्धांत का मूल विचार यह है कि उद्यमशीलता केवल आर्थिक आवश्यकता या बाजार की स्थिति का परिणाम नहीं है, बल्कि यह सांस्कृतिक मूल्य-व्यवस्था पर गहराई से आधारित होती है। इस सिद्धांत के अनुसार जिन संस्कृतियों

में कार्य, अनुशासन, उपलब्धि, जोखिम-लेने और नवाचार को मूल्य प्राप्त है, वहाँ उद्यमशीलता अधिक विकसित होती है। जिन संस्कृतियों में आजीविका सुरक्षा, स्थिरता, परंपरा और सामूहिक निर्णय प्रमुख हैं, वहाँ उद्यमशीलता अपेक्षाकृत कम होती है।

(ख) सामाजिक पूँजी सिद्धांत: सामाजिक पूँजी सिद्धांत यह मानता है कि उद्यमशीलता का विकास केवल वित्तीय पूँजी या कौशल पर निर्भर नहीं है, बल्कि सामाजिक संबंध, नेटवर्क और सामूहिक विश्वास इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इस सिद्धांत के अंतर्गत यह माना जाता है कि परिवार, रिश्तेदार और घनिष्ठ समूह जैसे निकटवर्ती संबंध व्यक्ति को भावनात्मक, सामाजिक और प्राथमिक आर्थिक सहायता प्रदान करते हुए आंतरिक समर्थन की भूमिका निभाते हैं। इसके अतिरिक्त, बाहरी समूहों के साथ स्थापित संबंध व्यक्ति को नए अवसरों, व्यापक बाजारों और विविध संसाधनों तक पहुँच उपलब्ध कराते हैं, जिससे उद्यमशीलता का विस्तार संभव होता है। वहीं, सरकारी योजनाओं, बैंकिंग संस्थाओं और स्थानीय प्रशासन जैसे संस्थागत संबंध उद्यमी को नीतिगत सहयोग, वित्तीय पहुँच और प्रशासनिक सुविधा प्रदान करते हैं, जो उसके व्यवसाय को स्थिरता और वैधता प्रदान करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

(ग) संरचनात्मक-क्रियात्मक दृष्टिकोण: यह दृष्टिकोण समाज को विभिन्न संरचनाओं का तंत्र मानता है, जहाँ प्रत्येक संरचना समाज के समग्र कार्य में अपना योगदान देती है। उद्यमशीलता के संदर्भ में यह दृष्टिकोण बताता है कि परिवार, समुदाय, शिक्षा, अर्थव्यवस्था, धर्म और स्थानीय संस्थान ये सभी सामाजिक संस्थाएँ उद्यमशील व्यवहार को आकार देती हैं। समाज में संतुलन और स्थिरता बनी रहे, इसके लिए प्रत्येक संरचना कुछ क्रियाएँ संपन्न करती है। यह दृष्टिकोण इस अध्ययन के लिए विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि यह दिखाता है कि उद्यमशीलता केवल व्यक्तिगत गुण या आकांक्षा का परिणाम नहीं है, बल्कि एक सामूहिक सामाजिक तंत्र का हिस्सा है।

अनुसंधान पद्धति

वर्तमान अध्ययन में सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों और उद्यमशीलता के संबंध को समझने के लिए एक सुव्यवस्थित, तार्किक और वैज्ञानिक शोध-पद्धति को अपनाया गया है। प्रस्तुत शोध में वैज्ञानिक पद्धति को आधार बनाते हुए तथ्यों का संग्रह, विश्लेषण तथा निष्कर्षों का निर्माण वस्तुनिष्ठ और प्रणालीबद्ध रूप से किया गया है। अध्ययन के उद्देश्यों और प्रकृति को ध्यान में रखते हुए वर्णनात्मक अनुसंधान रूपरेखा का चयन किया गया, जिससे चास प्रखण्ड की सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक वास्तविकताओं का विस्तृत और सटीक चित्र प्रस्तुत करना संभव हुआ। उत्तरदाताओं के चयन हेतु उद्देश्यपूर्ण नमूनाकरण विधि का उपयोग किया गया, जिसके माध्यम से 80 ऐसे व्यक्तियों को सम्मिलित किया गया जो सीधे उद्यमशील गतिविधियों से जुड़े हैं और जिनके अनुभव सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभावों को समझने में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। सामाजिक व्यवहारों, कार्य-पद्धतियों और उद्यम संबंधी गतिविधियों का वास्तविक अवलोकन प्राप्त करने के लिए असहभागी अवलोकन तकनीक को अपनाया गया, जिससे शोधकर्ता बिना हस्तक्षेप किए स्थानीय परिस्थितियों और उद्यमियों के व्यवहारगत पैटर्नों को समझ सका। इसके अतिरिक्त, गहन और व्यवस्थित सूचनाएँ प्राप्त करने हेतु साक्षात्कार अनुसूची का प्रयोग किया गया, जिसमें सामाजिक मूल्यों, पारिवारिक और सामुदायिक प्रभावों, आर्थिक व्यवहार, संस्थागत पहुँच और उद्यमशील निर्णयों से संबंधित प्रश्न शामिल थे। इन सभी विधियों के संयोजन ने अध्ययन की विश्वसनीयता, वैधता और गहराई को सुनिश्चित किया, तथा चास प्रखण्ड में उद्यमशीलता के समाजशास्त्रीय आयामों को समझने के लिए एक मजबूत अनुभवजन्य आधार प्रदान किया।

अध्ययन क्षेत्र

वर्तमान अध्ययन झारखण्ड के बोकारो जिले के चास प्रखण्ड पर केंद्रित है, जो सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों और उद्यमशीलता के संबंध को समझने के लिए एक उपयुक्त क्षेत्र प्रस्तुत करता है। बोकारो जिला 1 अप्रैल 1991 को धनबाद और गिरिडीह के कुछ भागों को मिलाकर बनाया गया था। 2883 वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल, 751 गाँवों और 20,62,330 की जनसंख्या वाला यह जिला औद्योगिक और ग्रामीण जीवन के अनोखे मिश्रण का प्रतीक है। यहाँ हिन्दी प्रमुख भाषा है और जनसंख्या में 10,72,802 पुरुष एवं 9,89,523 महिलाएँ हैं। चास प्रखण्ड जिले का एक महत्वपूर्ण सामाजिक एवं आर्थिक केंद्र है, जिसकी कुल जनसंख्या 8,13,402 (पुरुष 4,27,453 और महिलाएँ 3,85,949) है। यह क्षेत्र ग्रामीण-शहरी क्षेत्र का उत्कृष्ट उदाहरण है, जहाँ एक ओर पारंपरिक ग्रामीण मूल्य, सामाजिक एकता

और सामुदायिक जीवन विद्यमान हैं, वहीं दूसरी ओर औद्योगिक प्रभाव, व्यापारिक गतिविधियाँ और शहरी व्यावसायिक प्रवृत्तियाँ तेजी से विकसित हो रही हैं।

चास में कृषि, लघु उद्योग, व्यापार, सेवा एवं परिवहन जैसे विविध आर्थिक क्षेत्र मौजूद हैं। स्थानीय बाजार, परिवार और समुदाय उद्यमशील गतिविधियों पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। परंपरा और आधुनिकता के बीच संतुलित सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण उद्यमशीलता को प्रोत्साहित भी करता है और कई बार सीमित भी। अध्ययन क्षेत्र के रूप में चास प्रखण्ड का चयन इसलिए उपयुक्त है क्योंकि यहाँ सामाजिक पूँजी, सांस्कृतिक मानदंड, परिवार और समुदाय की भूमिका उद्यमशीलता के व्यवहार में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। यह क्षेत्र सामाजिक संरचना और आर्थिक परिवर्तन के बीच संबंधों को समझने के लिए एक प्रतिनिधिक संदर्भ प्रदान करता है।

तथ्य विश्लेषण

तालिका:-1 सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों से संबंधित (N = 80)

क्रम	सामाजिक-सांस्कृतिक पैटर्न	सहमति (संख्या)	सहमति (%)	असहमति (संख्या)	असहमति (%)
1	परिवार उद्यम का मुख्य सहायक तत्व है	66	82.5%	14	17.5%
2	समुदाय उद्यम की सफलता को प्रभावित करता है	61	76.2%	19	23.8%
3	परंपरागत मूल्य जोखिम लेने की प्रवृत्ति कम करते हैं	47	58.7%	33	41.3%
4	सामाजिक नेटवर्क अवसर और संसाधन उपलब्ध कराते हैं	67	83.7%	13	16.3%
5	आधुनिक और पारंपरिक मूल्यों का मिश्रण उद्यम को प्रभावित करता है	52	65%	28	35%

तालिका–1 का यह दर्शाता है कि चास प्रखण्ड में उद्यमशीलता पर सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों का प्रभाव अत्यंत मजबूत है। अधिकांश उत्तरदाताओं ने माना कि परिवार (82.5%), समुदाय (76.2%), और सामाजिक नेटवर्क (83.7%) उद्यम को सक्रिय रूप से समर्थन और अवसर प्रदान करते हैं। लगभग 58.7% उत्तरदाताओं के अनुसार परंपरागत मूल्य जोखिम लेने की प्रवृत्ति कम करते हैं, जबकि 65% का मानना है कि आधुनिक और पारंपरिक मूल्यों का मिश्रण उद्यम के निर्णयों और दिशा को प्रभावित करता है। संक्षेप में, उद्यमशीलता को स्थानीय सामाजिक–सांस्कृतिक ताने-बाने से अलग नहीं समझा जा सकता; यह परिवार, समुदाय, नेटवर्क और मूल्य-व्यवस्था से गहराई से जुड़ी हुई प्रक्रिया है।

तालिका:- 2 उद्यमशीलता को प्रभावित करने वाले सकारात्मक और नकारात्मक कारक

सकारात्मक कारक

क्रम	सकारात्मक कारक	हाँ (संख्या)	हाँ (%)	नहीं (संख्या)	नहीं (%)
1	परिवार का सहयोग उद्यम को बढ़ावा देता है	64	80%	16	20%
2	सामाजिक नेटवर्क नए अवसर प्रदान करते हैं	69	86.2%	11	13.8%
3	समुदाय का समर्थन उद्यम की सफलता बढ़ाता है	58	72.5%	22	27.5%
4	स्थानीय बाजार और औद्योगिक निकटता उद्यम को प्रोत्साहित करती है	55	68.7%	25	31.3%

क्रम	सकारात्मक कारक	हाँ (संख्या)	हाँ (%)	नहीं (संख्या)	नहीं (%)
5	स्थानीय स्तर पर उपलब्ध श्रमिक समर्थन सहायक है	51	63.7%	29	36.3%

चास प्रखण्ड में उद्यमशीलता को प्रोत्साहित करने वाले सकारात्मक कारकों का सार यह दर्शाता है कि स्थानीय उद्यम विकास मुख्यतः सामाजिक सहयोग पर आधारित है। अधिकांश उत्तरदाताओं ने माना कि परिवार का सहयोग (80%), सामाजिक नेटवर्क (86.2%), और समुदाय का समर्थन (72.5%) उद्यम के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण प्रेरक तत्व हैं। इसके साथ ही स्थानीय बाजार एवं औद्योगिक निकटता (68.7%) तथा स्थानीय श्रमिक उपलब्धता (63.7%) भी उद्यमों को संचालित और विस्तारित करने में सहायक सिद्ध होते हैं। संक्षेप में, उद्यमशीलता का सकारात्मक वातावरण सामाजिक पूँजी, सामुदायिक सहयोग और उपलब्ध संसाधनों के सम्मिलित प्रभाव से निर्मित होता है।

नकारात्मक कारक

क्रम	नकारात्मक कारक	हाँ (संख्या)	हाँ (%)	नहीं (संख्या)	नहीं (%)
1	परंपरागत मूल्य जोखिम लेने से रोकते हैं	49	61.2%	31	38.8%
2	आर्थिक संसाधनों की कमी उद्यम को बाधित करती है	57	71.2%	23	28.8%
3	महिलाओं को सामाजिक मानदंडों के कारण बाधाएँ मिलती हैं	52	65%	28	35%
4	बैंकिंग और संस्थागत सहायता की कमी	46	57.5%	34	42.5%
5	बाजार जानकारी और तकनीकी ज्ञान का अभाव	54	67.5%	26	32.5%

उपलब्ध आँकड़ों से स्पष्ट होता है कि स्थानीय उद्यमशीलता पर कई नकारात्मक सामाजिक और संरचनात्मक प्रतिबंध प्रभाव डालते हैं। सर्वप्रथम, परंपरागत मूल्य जोखिम उठाने की क्षमता को सीमित करते हैं, जिसे 61.2% उत्तरदाताओं ने स्वीकार किया। यह दर्शाता है कि सांस्कृतिक रूप से स्थिरता और सुरक्षित विकल्पों को प्राथमिकता देने की प्रवृत्ति नई पहल और नवाचार को स्वभावतः बाधित करती है। इसके अतिरिक्त, आर्थिक संसाधनों की कमी सबसे प्रबल अवरोधक के रूप में सामने आती है, क्योंकि 71.2% उत्तरदाताओं ने माना कि पूँजी और वित्तीय साधनों की अनुपलब्धता उद्यम की शुरुआत और विस्तार को धीमा कर देती है। सामाजिक संरचना के स्तर पर देखा जाए तो महिलाओं के लिए पारंपरिक लिंग मानदंड अभी भी बाधक बने हुए हैं; 65% लोगों का मानना है कि महिलाओं के उद्यमशील प्रयासों को सामाजिक अपेक्षाएँ और घरेलू भूमिकाएँ सीमित करती हैं। दूसरी ओर, बैंकिंग और संस्थागत सहायता का अभाव भी एक गंभीर समस्या है, जिसे 57.5% प्रतिभागियों ने मान्यता दी। यह दर्शाता है कि औपचारिक वित्तीय और प्रशासनिक संरचनाओं के साथ कमजोर संपर्क उद्यमियों के लिए योजनाओं और ऋण सुविधाओं तक पहुँच को कठिन बनाता है। अंततः, बाजार जानकारी और तकनीकी ज्ञान की कमी, जिसे 67.5% उत्तरदाताओं ने रेखांकित किया, स्थानीय उद्यमों को प्रतिस्पर्धी बाजार परिस्थितियों में पिछड़ा बना देती है। संपूर्ण रूप से, तालिका यह प्रदर्शित करती है कि उद्यमशीलता केवल आर्थिक मुद्दों से नहीं, बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक प्रतिबंधों, ज्ञान के अभाव और संस्थागत कमजोरी के संयोजन से प्रभावित होती है, जो सामूहिक रूप से उद्यम विकास की गति को अवरुद्ध करते हैं।

निष्कर्ष

वर्तमान अध्ययन ने चास प्रखण्ड के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश को उद्यमशीलता की दृष्टि से गहराई से समझने का प्रयास किया, और इसके परिणाम अत्यंत महत्वपूर्ण व बहुआयामी रूप में सामने आए। शोध से यह तथ्य स्पष्ट हुआ कि उद्यमशीलता केवल

आर्थिक प्रेरणा या लाभ की आकांक्षा का परिणाम नहीं होती, बल्कि यह व्यक्ति और उसके सामाजिक परिवेश के बीच स्थापित जटिल संबंधों की उपज है। सबसे उल्लेखनीय निष्कर्ष यह है कि परिवार उद्यमशीलता का सबसे मजबूत स्तंभ बनकर उभरता है। परिवार न केवल भावनात्मक समर्थन प्रदान करता है, बल्कि जोखिम उठाने के लिए आवश्यक मनोवैज्ञानिक प्रेरणा और प्रारंभिक संसाधन भी उपलब्ध कराता है। अध्ययन में अधिकांश उत्तरदाताओं ने माना कि परामर्श, सहयोग और विश्वास जैसे तत्व पारिवारिक संरचना से ही प्राप्त होते हैं। यह भी स्पष्ट हुआ कि सामाजिक नेटवर्क चाहे वे रिश्तेदारी आधारित हों या व्यावसायिक उद्यमियों के लिए अवसरों के नए द्वार खोलते हैं, जिससे जानकारी, बाजार पहुँच और संसाधनों का प्रवाह सुचारू होता है। दूसरी ओर, परंपरागत मूल्य और लिंग-आधारित सामाजिक मानदंड उद्यमशीलता के विकास में प्रमुख बाधाओं का कार्य करते पाए गए। विशेषकर महिलाओं के लिए सामाजिक अपेक्षाएँ, घरेलू दायित्व तथा सार्वजनिक क्षेत्र में भागीदारी को लेकर मौजूद संकोच उद्यम विकास को सीमित करते हैं। इसी प्रकार आर्थिक संसाधनों की कमी, बैंकिंग संस्थाओं से सीमित सहायता, तथा तकनीकी ज्ञान की न्यूनता ने कई उद्यमियों की प्रगति में अवरोध उत्पन्न किए। यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि सामाजिक-सांस्कृतिक परिधि कई मामलों में व्यक्ति की निर्णय क्षमता, जोखिम लेने की प्रवृत्ति तथा उद्यम के विस्तार संबंधी योजनाओं को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। अध्ययन से प्राप्त अंतर्दृष्टियाँ संकेत करती हैं कि सामाजिक-सांस्कृतिक पूँजी जैसे विश्वास, नेटवर्क, सामुदायिक समर्थन और साझा मूल्य उद्यम विकास के लिए आर्थिक पूँजी जितनी ही महत्वपूर्ण है। इस संदर्भ में, यदि स्थानीय प्रशासन, वित्तीय संस्थाएँ, समुदाय और परिवार सभी एक सहयोगी संरचना तैयार करें, तो उद्यमशीलता को प्रोत्साहित करने के लिए अनुकूल वातावरण निर्मित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, अध्ययन यह भी दर्शाता है कि आधुनिकता और परंपरा के बीच उत्पन्न संतुलन उद्यमियों को नयापन व नवाचार की ओर प्रेरित करता है। जहाँ एक ओर परंपरागत मूल्य पहचान और सामुदायिक जुड़ाव को मजबूत करते हैं, वहीं आधुनिक मूल्य जोखिम लेने, नवाचार और प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देते हैं। यह मिश्रित मूल्य प्रणाली विशेष रूप से चास प्रखण्ड के उद्यमशील परिदृश्य को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। समग्र रूप से कहा जा सकता है कि यह शोध इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उद्यमशीलता का विकास केवल व्यक्तिगत प्रयासों पर निर्भर नहीं करता, बल्कि यह एक संगठित सामाजिक प्रक्रिया है, जिसमें परिवार, समुदाय, सामाजिक मानदंड, नेटवर्क, शिक्षा और संसाधनों की उपलब्धता सभी मिलकर निर्णायक भूमिका निभाते हैं। इसलिए, उद्यमशीलता के सतत विकास के लिए यह आवश्यक है कि सामाजिक-सांस्कृतिक अवरोधों को पहचानकर उन्हें कम किया जाए, और साथ ही उन सामाजिक तत्वों को सुदृढ़ किया जाए जो उद्यमों को प्रोत्साहित करते हैं।

References-

1. मांगलिक, रोहित (2024), उद्यमिता का आधारभूत, एडुगोरिल्ला प्रकाशन, न्यू दिल्ली, पृ-सं-26
2. प्रकाश, प्रेम (2020), झारखंड की राजनीति: औद्योगिकीकरण के संदर्भ में, रेडशाइन पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, महाराष्ट्र, पृ.सं-39
3. भट्टार, राकेश (1995), जनजातीय उद्यमिता का विकास, हिमांशु पब्लिकेशंस, राजस्थान, पृ-सं-52
4. सिंह, एस. के., गुप्ता, संजय (2023), उद्यमिता, एसबीपीडी प्रकाशन, न्यू दिल्ली, पृ.सं.-44
5. लिक्ट, अमीर, एन., सीगल, जॉर्डन आई. (2006), ऑक्सफ़ोर्ड हैंडबुक ऑफ़ इंटरप्रुनेअर्शिप, ऑक्सफ़ोर्ड: ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2006, पृ.सं-01
6. सेनतुर्क, मूरत, मेंगु, एनवर (2019), सोशल इंटरप्रुनेअर्शिप फ्रॉम सोशियोलॉजिकल पर्सपेक्टिव, जर्नल ऑफ इकॉनोमिक कल्चर एंड सोसाइटी, पृ.सं-354
7. सिंह, राम, सागर (1985), रूरल इलीट, इंटरप्रुनेअर्शिप, एंड सोशल चेंज, रावत प्रकाशन, पृ.सं-94

Nav Jyoti, Vol. 13, No. 26, January-June 2025 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

जनजातीय विकास योजनाओं का कोरवा जनजाति के सामाजिक जीवन पर प्रभाव: एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण (गुमला जिला के चैनपुर प्रखण्ड के विशेष संदर्भ में)

गुलाम समदानी
शोध छात्र, स्नातकोत्तर समाजशास्त्र विभाग
राँची विश्वविधालय, राँची

सारांश

प्रस्तुत लेख गुमला जिले के चैनपुर प्रखण्ड में निवासरत कोरवा जनजाति के सामाजिक जीवन पर विभिन्न जनजातीय विकास योजनाओं के प्रभाव का समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अध्ययन का मुख्य उद्देश्य यह समझना है कि किस प्रकार राज्य और केंद्र सरकार द्वारा संचालित विकास कार्यक्रम जैसे प्रधानमंत्री जनमन योजना, डाकिया योजना, एकलव्य मॉडल आवासीय विद्यालय, खाद्य सुरक्षा योजनाएँ, स्वास्थ्य पहल और आजीविका समर्थन कार्यक्रम कोरवा समुदाय की आर्थिक स्थिति, सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक व्यवहार, शिक्षा एवं स्वास्थ्य में परिवर्तन ला रहे हैं। शोध में 70 उत्तरदाताओं से प्राप्त आंकड़ों ने यह स्पष्ट किया कि योजनाओं ने बुनियादी सुविधाओं तक पहुँच को बढ़ाया है तथा आजीविका, शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में सकारात्मक परिवर्तन उत्पन्न किए हैं। तथापि, प्रशासनिक कमियाँ, संसाधनों की सीमित उपलब्धता, भौगोलिक दुर्गमता, सांस्कृतिक असंगति, और समुदाय के भीतर विद्यमान सामाजिक-आर्थिक बाधाएँ योजनाओं के क्रियान्वयन को प्रभावित करती हैं। अध्ययन से यह भी ज्ञात हुआ कि आधुनिक योजनाओं के प्रभाव से पारंपरिक रीति-रिवाज, सामुदायिक संबंध और लैंगिक भूमिकाएँ आंशिक रूप से परिवर्तित हो रही हैं। अंततः यह निष्कर्ष उभरता है कि विकास योजनाएँ कोरवा जनजाति के जीवन में अवसरों का विस्तार करती हैं, परंतु उनकी वास्तविक प्रभावशीलता स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए सहभागी एवं सांस्कृतिक-संवेदनशील दृष्टिकोण अपनाने पर निर्भर करती है।

मुख्य शब्द:- *कोरवा जनजाति, विकास योजनाएँ, जनजातीय विकास, सामाजिक परिवर्तन, चैनपुर प्रखण्ड*

परिचय

भारत की सामाजिक संरचना विविधता से परिपूर्ण है, और इसमें जनजातीय समुदायों की उपस्थिति एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक और सामाजिक आधार प्रदान करती है। झारखंड का गुमला जिला, विशेषतः चैनपुर प्रखण्ड, इस विविधता का एक विशिष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है, जहाँ कोरवा जनजाति जैसी प्राचीन और सांस्कृतिक रूप से समृद्ध जनजाति निवास करती है। कोरवा समुदाय का सामाजिक जीवन प्रकृति पर आश्रित, सामुदायिक मूल्यों पर केंद्रित और परंपरागत ज्ञान तथा सांस्कृतिक व्यवहारों से गहराई से जुड़ा हुआ है। ऐसे समुदाय पर विकास योजनाओं के प्रभाव को समझना न केवल समाजशास्त्रीय अध्ययन का महत्त्वपूर्ण लक्ष्य है, बल्कि यह उन प्रक्रियाओं को भी स्पष्ट करता है जिनके माध्यम से विकास और परंपरा के बीच संवाद एवं संघर्ष निर्मित होता है। भारत सरकार ने स्वतंत्रता के बाद जनजातीय समुदायों के उत्थान और समान अवसर उपलब्ध कराने हेतु अनेक विकास योजनाएँ शुरू कीं, जो शिक्षा, स्वास्थ्य, आजीविका, कृषि, आवास और सामाजिक सुरक्षा जैसे विभिन्न क्षेत्रों से सम्बद्ध थीं। यद्यपि इन योजनाओं का उद्देश्य जनजातीय जीवन-स्तर में सुधार लाना था, परन्तु इनके सामाजिक प्रभाव क्षेत्रीय परिस्थितियों, सांस्कृतिक विविधताओं और प्रशासनिक कार्यक्षमता के आधार पर अलग-अलग दिखाई देते हैं। कोरवा जनजाति जैसे समुदायों में यह समझना अत्यंत आवश्यक है कि ऐसे विकासात्मक हस्तक्षेपों ने उनके सामाजिक संगठन, आर्थिक गतिविधियों, पारिवारिक संरचना, सांस्कृतिक पहचान और सामुदायिक संबंधों में क्या परिवर्तन उत्पन्न किए हैं। इस शोध का उद्देश्य जनजातीय विकास योजनाओं के सामाजिक प्रभावों को सूक्ष्म स्तर पर समझना है, ताकि

यह जाना जा सके कि विकास की प्रक्रिया ने कोरवा समाज के जीवन में किस प्रकार के अवसर, चुनौतियाँ और परिवर्तन स्थापित किए हैं।

भारतीय संविधान ने अनुसूचित जनजातियों को विशिष्ट संवैधानिक सुरक्षा प्रदान की, जिससे उनके अधिकार, भूमि, संस्कृति और राजनीतिक प्रतिनिधित्व को संरक्षित रखा जा सके। पाँचवीं और छठी अनुसूचियों के प्रावधान विशेष रूप से जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन और सांस्कृतिक संरक्षण की दिशा में महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इनका उद्देश्य था कि जनजातीय समुदाय अपनी विशिष्ट पहचान के साथ विकसित हों और राष्ट्रीय विकास की धारा से लाभान्वित भी हो सकें। संविधानिक सुरक्षा के बाद पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से जनजातीय विकास को औपचारिक रूप से राष्ट्रीय कार्यक्रमों में शामिल किया गया। प्रारंभिक योजनाओं ने स्वास्थ्य, आवास, शिक्षा और रोज़गार जैसी मूलभूत आवश्यकताओं को प्राथमिकता दी, जबकि आगे की योजनाओं में विशेषकर दूसरी, तीसरी और पाँचवीं योजनाओं में जनजातीय उप-योजना (TSP) के माध्यम से लक्षित हस्तक्षेपों की रूपरेखा विकसित हुई। 1970 के दशक में प्रारंभ की गई 'एकीकृत जनजातीय विकास परियोजनाएँ' (ITDP) जनजातीय विकास नीतियों का एक निर्णायक चरण मानी जाती हैं। इन परियोजनाओं ने क्षेत्र-आधारित विकास का मॉडल प्रस्तुत किया, जिसमें स्वास्थ्य सुविधाओं का विस्तार, प्राथमिक शिक्षा की उपलब्धता, कृषि सुधार, सिंचाई व्यवस्था, ग्रामीण संचार, आजीविका उन्नयन और पेयजल जैसी आवश्यकताओं को समग्र रूप से संबोधित किया गया। इस अवधि में जनजातीय कल्याण विभागों का संस्थागत विस्तार हुआ और स्थानीय स्तर पर प्रशिक्षित जनजातीय कार्यकर्ताओं की नियुक्ति से योजनाओं के क्रियान्वयन को अधिक सक्रिय बनाया गया। इसके पश्चात् 1980 और 1990 के दशकों में छात्रवृत्ति, महिला कल्याण, आवास सहायता, स्वास्थ्य मिशन और स्व–रोजगार योजनाओं ने जनजातीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कई सकारात्मक प्रभाव उत्पन्न किए, विशेषकर शिक्षा और कौशल विकास में।

21वीं सदी में जनजातीय विकास नीति अधिकार-आधारित दृष्टिकोण की ओर अधिक उन्मुख हुई। वनाधिकार कानून (2006) ने जनजातीय समुदायों को भूमि और वन संपदाओं पर पारंपरिक अधिकार प्रदान कर ऐतिहासिक न्याय की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाया। वहीं, PESA अधिनियम (1996) ने ग्रामसभा आधारित स्थानीय शासन को वैधानिक शक्ति देकर सामुदायिक स्वशासन के सिद्धांत को सुदृढ़ किया। इसी काल में आजीविका मिशन, स्वास्थ्य बीमा योजनाएँ, कौशल विकास कार्यक्रम और शिक्षा के अधिकार कानून ने जनजातीय समुदायों के लिए नए अवसर, संसाधन और सामाजिक गतिशीलता के मार्ग खोले। इन नीतियों का उद्देश्य आर्थिक उन्नयन के साथ-साथ सांस्कृतिक संरक्षण और सामाजिक न्याय को संतुलित रखना था, ताकि विकास प्रक्रिया सांस्कृतिक अस्मिता को क्षति पहुँचाए बिना आगे बढ़ सके। हालाँकि नीतियों की संरचना व्यापक और संवेदनशील रही है, लेकिन व्यवहारिक स्तर पर कई चुनौतियाँ बनी रहती हैं। भौगोलिक दुर्गमता, प्रशासनिक सीमाएँ, संसाधनों की कमी, सांस्कृतिक अनुकूलन की जटिलता और योजनाओं के प्रति सीमित जागरूकता कई बार नीतियों के प्रभाव को सीमित कर देती हैं। परिणामस्वरूप, कई योजनाएँ अपने अपेक्षित लक्ष्य को स्थानीय स्तर पर पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं कर पातीं। इसलिए जनजातीय विकास नीतियों की प्रभावशीलता का आकलन केवल दस्तावेज़ी उपलब्धियों से नहीं, बल्कि समुदाय के जीवन-स्तर, सामाजिक ढाँचे और सांस्कृतिक परिवर्तनों को समझकर ही किया जा सकता है। इस ऐतिहासिक विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि जनजातीय विकास नीतियाँ समय के साथ अधिक सहभागी, अधिकार-केंद्रित और संवेदनशील बनती गई हैं। फिर भी इन नीतियों का वास्तविक प्रभाव किस प्रकार सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक पहचान और आजीविका प्रणालियों को प्रभावित करता है यह स्थानीय अनुभवों के अध्ययन से ही समझा जा सकता है। इसी संदर्भ में कोरवा जनजाति पर केन्द्रित यह शोध न केवल आवश्यक बल्कि अत्यंत प्रासंगिक भी बन जाता है।

कोरवा जनजाति भारत के उन आदिवासी समुदायों में शामिल है जिनकी सामाजिक और सांस्कृतिक पहचान गहरी ऐतिहासिक जड़ों से जुड़ी हुई है। झारखंड, छत्तीसगढ़ और उत्तर प्रदेश के सीमावर्ती क्षेत्रों में निवास करने वाला यह समुदाय अपने विशिष्ट जीवन-मूल्यों, पारंपरिक ज्ञान और प्रकृति-आधारित आजीविका के लिए जाना जाता है। विशेष रूप से गुमला जिले के चैनपुर प्रखण्ड में रहने

वाली कोरवा जनजाति का सामाजिक संगठन, सांस्कृतिक परंपराएँ और जीवन-पद्धति जनजातीय समाज की विविधता और जटिलता के महत्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। पहाड़ी और वनाच्छादित क्षेत्रों में बसने वाले कोरवा लोग प्रकृति को केवल संसाधन के रूप में नहीं देखते, बल्कि उसे जीवन के आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आधार के रूप में मानते हैं। उनकी आजीविका मुख्यतः वनोपज संग्रह, वर्षा-आधारित कृषि, पशुपालन और दिहाड़ी श्रम पर आधारित होती है, जिनका संचालन सामुदायिक श्रम-वितरण और मौसमी परिस्थितियों के अनुरूप होता है। सामाजिक संगठन के स्तर पर कोरवा समाज कुटुम्ब, गोत्र और ग्राम-सभा की इकाइयों में विभाजित होता है, जहाँ प्रत्येक गोत्र विवाह संबंधों और सामाजिक नियमों को निर्धारण करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। सामुदायिक निर्णयों में ग्राम-सभा की केंद्रीय भूमिका होती है, तथा बुजुर्गों को सामाजिक विवादों के समाधान का अधिकार प्राप्त होता है। उनकी पारिवारिक व्यवस्था प्रायः संयुक्त या विस्तारित होती है, जबकि विवाह प्रणाली में गोत्र-बहिर्विवाह सामाजिक संतुलन की मूल शर्त है। धार्मिक आस्थाएँ प्रकृति-पूजा पर केंद्रित हैं, जहाँ पर्वत, नदी, वृक्ष और पूर्वजों को विशेष सम्मान दिया जाता है। सांस्कृतिक अभिव्यक्ति लोकगीत, नृत्य, कथाओं और हस्तकला के माध्यम से प्रकट होती है, जो सामुदायिक एकता और ऐतिहासिक स्मृति के संरक्षण में सहायक होती है। हालाँकि आधुनिक शिक्षा, बाज़ार संबंध, तकनीकी सुविधाओं और सरकारी हस्तक्षेपों ने कोरवा समाज में परिवर्तन की गति को तेज किया है। युवा पीढ़ी के जीवन-मूल्यों में बदलाव, पारंपरिक व्यवसायों से दूरी, सामाजिक भूमिकाओं में परिवर्तन और सांस्कृतिक गतिविधियों में सहभागिता का घटाव इस परिवर्तन को स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं। इन परिस्थितियों ने यह प्रश्न महत्वपूर्ण बना दिया है कि यह परिवर्तन समुदाय को सशक्त बना रहे हैं या इसकी सांस्कृतिक नींव के लिए चुनौती उत्पन्न कर रहे हैं।

कोरवा जनजाति का संक्षिप्त इतिहास

कोरवा जनजाति, मध्य भारत की प्रमुख अनुसूचित जनजातियों में से एक, अपनी सांस्कृतिक विशिष्टताओं और पारंपरिक जीवन–पद्धति के कारण भारतीय जनजातीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। परंपरागत रूप से झारखंड के पहाड़ी क्षेत्रों, वनों और दुर्गम घाटियों में निवास करने वाली यह जनजाति आज भी प्रकृति-आधारित जीवनशैली के कई अवशेषों को संजोए हुए है। इनकी भाषा मुंडारी समूह से संबंधित है, जो ऑस्ट्रो-एशियाटिक भाषा परिवार का हिस्सा है और अत्यंत प्राचीन सांस्कृतिक परंपराओं की ओर संकेत करती है। विभिन्न शोधकर्ताओं ने कोरवा जनजाति की उत्पत्ति को अलग-अलग दृष्टिकोणों से व्याख्यायित किया है कुछ शोधकर्ता उन्हें मुंडा परिवार का हिस्सा बताते हैं, वहीं कुछ इनके ऐतिहासिक संबंध बंगाल क्षेत्र से जोड़ते हैं। इसके विपरीत, कोरवा समुदाय स्वयं को मध्य प्रदेश, विशेषकर नागपुर क्षेत्र का मूल निवासी मानता है, जो उनकी गहरी ऐतिहासिक जड़ों को दर्शाता है। सामाजिक संरचना की दृष्टि से कोरवा समुदाय पारंपरिक रूप से समानता और सामूहिक निर्णय-प्रणाली पर आधारित रहा है। प्राचीन काल में समुदाय की सुरक्षा और सामाजिक व्यवस्था के लिए एक मुखिया नियुक्त किया जाता था, जिसकी भूमिका समय के साथ विस्तृत होती गई और वह राजनैतिक तथा सैन्य अधिकारों से लैस होकर शासक की तरह प्रभावशाली हो गया। जनजातीय संस्थाएँ विधायी, कार्यकारी और न्यायिक तीनों प्रकार के अधिकारों का संचालन करती थीं, और इसी आधार पर मुखिया सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक मामलों में निर्णायक भूमिका निभाता था।

ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में मुस्लिम शासन के आगमन ने भी जनजातीय क्षेत्रों को प्रभावित किया। राजनीतिक व सामाजिक दबावों के कारण कुछ जनजातीय समूहों ने इस्लाम धर्म स्वीकार किया, हालाँकि अधिकांश समुदायों ने अपनी मूल पहचान और परंपराओं को संरक्षित रखा। इसके अतिरिक्त, फारसियों, यूनानियों, शक, हूण और अन्य उत्तर-पश्चिमी आक्रमणकारी समूहों के लगातार आगमन ने आदिवासी क्षेत्रों की स्थिरता और सांस्कृतिक निरंतरता को भी कई बार बाधित किया। ब्रिटिश उपनिवेशवाद की स्थापना ने कोरवा जनजाति के इतिहास में एक निर्णायक मोड़ प्रस्तुत किया। ईस्ट इंडिया कंपनी के विस्तार के साथ ही वनों का बड़े पैमाने पर दोहन शुरू हुआ। अंग्रेजों ने लकड़ी, लाख, जंगली उपज आदि संसाधनों के व्यापार को बढ़ावा दिया और इसके लिए व्यापक रूप से वनों की कटाई, चाय, रबर एवं कॉफी बागानों की स्थापना और परिवहन मार्गों रेल लाइन, सड़कों तथा समुद्री तटों तक व्यापारिक रास्तों

का निर्माण किया। इन प्रक्रियाओं ने न केवल प्राकृतिक संसाधनों को नष्ट किया, बल्कि कोरवा जैसे जनजातीय समूहों को उनके पारंपरिक भूमि अधिकारों से भी वंचित किया। भू–अधिग्रहण, शोषणकारी व्यापारियों, साहूकारों और मध्यस्थों की बढ़ती भूमिका ने जनजातियों को गरीबी, ऋणग्रस्तता और भुखमरी की स्थिति में पहुँचा दिया। 1857 के विद्रोह के बाद जब ईसाई मिशनरियों को आधिकारिक संरक्षण मिला, तब अनेक जनजातीय समुदायों में धर्मांतरण की प्रक्रिया भी तेज हुई। इस प्रकार कोरवा जनजाति का इतिहास विभिन्न राजनीतिक शक्तियों, सांस्कृतिक प्रभावों और आर्थिक परिवर्तनों के बीच निरंतर संघर्ष और अनुकूलन की कहानी प्रस्तुत करता है। अनेक ऐतिहासिक चुनौतियों के बावजूद, कोरवा समुदाय ने अपनी भाषा, परंपराओं और सांस्कृतिक विरासत के मूल स्वरूप को आज भी संरक्षित रखा है, जो उनकी अदम्य सामाजिक स्थिरता और सांस्कृतिक दृढ़ता का परिचायक है।

समीक्षा-साहित्य

रवीन्द्रनाथ मुखर्जी, भरत अग्रवाल (2022), लेखक के अनुसार, जनजातीय समाज केवल एक सामाजिक इकाई नहीं, बल्कि सांस्कृतिक, आर्थिक और ऐतिहासिक अनुभवों का सजीव संग्रह है, जिसकी अपनी विशिष्ट संरचना और जीवन-दृष्टि होती है। प्रस्तुत कृति में जनजातीय समुदायों की उत्पत्ति, सामाजिक संगठन, सांस्कृतिक परंपराएँ और परिवर्तन की प्रक्रियाओं का सूक्ष्म एवं विवेचनात्मक विश्लेषण किया गया है। विशेष रूप से जनजातीय विकास योजना को केंद्र में रखते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार आधुनिक विकास हस्तक्षेप पारंपरिक जीवन-शैली, सामाजिक संबंधों और आर्थिक व्यवस्था को प्रभावित करते हैं।

अनिल किशोर सिन्हा (2006), लेखक के अनुसार, छत्तीसगढ़ की आदिम जनजातियाँ केवल भौगोलिक समूह नहीं, बल्कि विशिष्ट सांस्कृतिक विरासत की संवाहक हैं, जिनकी सामाजिक संरचना, धार्मिक आस्थाएँ, पारंपरिक ज्ञान और जीवन-दृष्टि मानव सभ्यता के प्रारंभिक विकास को आज भी जीवंत रूप में संजोए हुए हैं। लेखक स्पष्ट करते हैं कि जनजातीय विकास योजनाओं का औपचारिक प्रारंभ 1950 के दशक की पंचवर्षीय योजनाओं से हुआ, जबकि 1974-75 में जनजातीय उप-योजना (TSP) के क्रियान्वयन के साथ इन योजनाओं ने एक संरचित रूप लिया। बाद में STC, DAPST और अन्य लक्षित कार्यक्रमों ने जनजातीय क्षेत्रों में शिक्षा, स्वास्थ्य, आजीविका और बुनियादी ढाँचे के विकास को प्राथमिकता दी। इन योजनाओं ने समुदायों के जीवन में अवसरों का विस्तार तो किया, परंतु सांस्कृतिक असंगति, प्रशासनिक कमियाँ और संसाधन-वितरण की चुनौतियाँ उनकी प्रभावशीलता को सीमित करती रहीं।

बिद्यानंद चौधरी (2020), लेखक दर्शाते हैं कि झारखंड की आर्थिक संरचना प्राकृतिक संसाधनों, खनिज संपदा, कृषि-विविधता और जनजातीय जीवन-व्यवस्था पर आधारित एक बहुआयामी तंत्र है, जिसमें परंपरा और आधुनिकता दोनों समानांतर रूप से चलते हैं। समीक्षा का प्रमुख आकर्षण जनजातीय विकास योजनाओं का उद्देश्य एवं योजनाएं हैं, जिनका विस्तारपूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। लेखक के अनुसार, इन योजनाओं का मूल उद्देश्य है जनजातीय समुदायों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना, शिक्षा और स्वास्थ्य तक पहुँच बढ़ाना, आजीविका के साधन सुदृढ़ करना, सांस्कृतिक संरक्षण सुनिश्चित करना और उन्हें राज्य की मुख्यधारा के विकास से जोड़ना। 1974-75 में जनजातीय उप-योजना (TSP) के आरंभ से लेकर अनुसूचित जनजाति घटक (STC), DAPST, प्रधानमंत्री जनमन योजना, एकलव्य मॉडल आवासीय विद्यालय, छात्रवृत्ति योजनाएँ, कौशल विकास कार्यक्रम, वनाधिकार कानून, और आजीविका मिशन जैसी अनेक पहलों ने इस उद्देश्य को आगे बढ़ाया है।

ममता झा (2021), लेखिका ने विशेष रूप से यह रेखांकित किया है कि झारखंड में साक्षरता दर बढ़ने के बावजूद आदिवासी महिलाएँ अभी भी संरचनात्मक असमानताओं, गरीबी, भौगोलिक अलगाव और भाषाई बाधाओं जैसी समस्याओं से जूझ रही हैं। विद्यालयों की दूरी, शिक्षक की कमी, घरेलू जिम्मेदारियों का बोझ और कम आय वाले परिवारों में बाल-विवाह जैसी स्थितियाँ उनकी शिक्षा को सीमित करती हैं। विश्लेषण में यह भी उजागर किया गया है कि जनजातीय विकास योजनाएँ जैसे छात्रवृत्ति प्रमोशन कार्यक्रम, एकलव्य मॉडल आवासीय विद्यालय, साइकिल योजना, कौशल विकास मिशन और महिला स्वयं सहायता समूह ने आदिवासी

महिलाओं की शिक्षा यात्रा में नई ऊर्जा भरने का प्रयास किया है। कई महिलाओं के अनुभव बताते हैं कि इन पहलों ने उनके बच्चों की शिक्षा और स्वयं की सामाजिक भागीदारी को प्रोत्साहित किया है।

बीरेंद्र प्रसाद, अभिषेक चौहान, राजकुमार महतो (2024), लेखक ने कहा है कि, झारखंड के विशेष रूप से कमजोर जनजातीय समूह (PVTGs) मानवशास्त्रीय अध्ययन के दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि ये समूह न केवल सांस्कृतिक विविधता के वाहक हैं, बल्कि आदिम जीवन-पद्धतियों, सामाजिक संरचनाओं और प्रकृति-आधारित अस्तित्व के विशिष्ट उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं। शोध के अनुसार, कोरवा जनजाति झारखंड, छत्तीसगढ़ और उत्तर प्रदेश के पहाड़ी एवं वन क्षेत्रों में निवास करने वाला एक अत्यंत प्राचीन समुदाय है, जिसे कुछ विद्वान मुंडा जातीय परिवार से जोड़ते हैं, जबकि अन्य उनके आगमन को मध्य-भारत के नागपुर क्षेत्र से संबंधित बताते हैं। ऐतिहासिक रूप से वे घुमंतू जीवन से बसे हुए टोला-आधारित समुदायों में परिवर्तित हुए, जहाँ सामुदायिक नेतृत्व, गोत्र व्यवस्था और प्रकृति-पूजा उनके सामाजिक संगठन के केंद्रीय तत्व बने।

उद्देश्य एवं परिकल्पनाएँ

उद्देश्य

1. कोरवा जनजाति के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन पर विकास योजनाओं के प्रभावों का विश्लेषण करना।
2. युवा पीढ़ी में पारंपरिक आजीविका और सांस्कृतिक व्यवहारों में आ रहे परिवर्तनों की प्रकृति और कारणों का अध्ययन करना।

परिकल्पना

1. विकास योजनाओं के हस्तक्षेप से कोरवा जनजाति की पारंपरिक सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक प्रथाओं में उल्लेखनीय परिवर्तन उत्पन्न हुए हैं।
2. आधुनिक शिक्षा और रोजगार अवसरों से जुड़े कारक कोरवा युवाओं में सांस्कृतिक मूल्यों एवं पारंपरिक आजीविका से दूरी बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

अनुसंधान पद्धति

प्रस्तुत शोध अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया गया है, जिसके अंतर्गत तथ्यों का व्यवस्थित संकलन, विश्लेषण तथा व्याख्या सुनिश्चित की गई है। शोध प्रक्रिया को तर्कसंगत ढंग से संचालित करते हुए निष्कर्षों को प्रत्यक्ष अवलोकन और प्रमाणों के आधार पर निर्मित किया गया है। शोध में वर्णनात्मक शोध प्रारूप का उपयोग किया गया है, जो जनजातीय समुदाय के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक व्यवहारों को उनके वास्तविक संदर्भ में समझने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त माना जाता है। वर्णनात्मक प्रारूप के माध्यम से कोरवा जनजाति के जीवन, विकास योजनाओं के प्रभाव और परिवर्तनों की प्रकृति को विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत शोध के तथ्य संकलन के लिए प्राथमिक और द्वितीयक दोनों प्रकार के स्रोतों का संतुलित उपयोग किया गया है, जिससे अध्ययन की विश्वसनीयता और गहराई सुनिश्चित हो सके। प्राथमिक स्रोतों का संकलन प्रत्यक्ष क्षेत्रकार्य के आधार पर किया गया, जिसमें चयनित उत्तरदाताओं से साक्षात्कार अनुसुची के माध्यम से साक्षात्कार लिए गए। इन साक्षात्कारों से समुदाय के अनुभव, विचार और जीवन-पद्धति से संबंधित सूक्ष्म तथ्यों की प्राप्ति संभव हुई। इसके अतिरिक्त, असहभागी अवलोकन की तकनीक का प्रयोग करते हुए कोरवा समुदाय के दैनिक जीवन, सांस्कृतिक गतिविधियों, आजीविका संबंधी क्रियाओं और सामाजिक संबंधों का प्रत्यक्ष निरीक्षण किया गया। शोधकर्ता ने समुदाय की गतिविधियों में सहभागिता किए बिना केवल अवलोकनकर्ता की भूमिका निभाई, जिससे वस्तुनिष्ठता बनी रही। द्वितीयक स्रोतों में सरकारी रिपोर्टें, जनगणना 2011 के आंकड़े, प्रकाशित पुस्तकों, शोध आलेखों तथा सरकारी अभिलेखों का अध्ययन शामिल रहा। इन स्रोतों ने अध्ययन को ऐतिहासिक, नीतिगत और सांख्यिकीय संदर्भ प्रदान किए, जिससे शोध की गहराई और विश्लेषण क्षमता सुदृढ़ हुई। निदर्शन के लिए उद्देश्यपूर्ण निदर्शन पद्धति अपनाई गई, जिसके अंतर्गत 70 ऐसे उत्तरदाताओं का चयन किया

गया जो विकास योजनाओं से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित थे और कोरवा जनजाति की सामाजिक संरचना का प्रतिनिधित्व करते थे। इस पद्धति ने शोध को अधिक केंद्रित, प्रासंगिक और समुदाय-विशिष्ट बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

अध्ययन क्षेत्र

गुमला जिला एवं चैनपुर प्रखण्ड का परिचय संक्षेप में यह दर्शाता है कि यह क्षेत्र प्राकृतिक संसाधनों, जनजातीय सांस्कृतिक विरासत और विविध सामाजिक संरचनाओं से समृद्ध है। ऐतिहासिक रूप से यह क्षेत्र लोहरदगा तथा रांची प्रशासनिक इकाइयों का हिस्सा रहा, जिसे अंततः 1983 में स्वतंत्र जिला का दर्जा मिला। कुल 5,327 वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल, 952 गाँव और 159 पंचायतों वाला गुमला जनजातीय आबादी की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, जहाँ कोरवा जनजाति की जनसंख्या 2011 के अनुसार 2,930 दर्ज की गई है। यहाँ हिंदी, सादरी, कुरुख और खड़िया प्रमुख भाषाएँ हैं। चैनपुर प्रखण्ड, जिसकी कुल जनसंख्या 56,591 है, जनसांख्यिकीय रूप से संतुलित क्षेत्र माना जाता है, जहाँ लिंग अनुपात 993 और बाल लिंग अनुपात भी 993 दर्ज किया गया है। कुल साक्षरता दर 71.2% होने से शिक्षा का अपेक्षाकृत अच्छा विकास दिखाई देता है। 10,056 परिवारों वाला यह प्रखण्ड ग्रामीण स्वरुप वाला है, जहाँ सामाजिक संरचना मुख्यतः जनजातीय समुदायों, विशेषकर कोरवा जनजाति की उपस्थिति से प्रभावित है। समग्र रूप से यह क्षेत्र प्राकृतिक परिवेश, जनजातीय जीवन-पद्धति और सामाजिक विविधता का समन्वित रूप प्रस्तुत करता है, जो किसी भी समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए एक जीवंत और प्रासंगिक संदर्भ प्रदान करता है।

कोरवा जनजाति की सामाजिक संरचना का विश्लेषण

कोरवा जनजाति की सामाजिक संरचना बहुस्तरीय तथा परंपरागत ज्ञान-व्यवस्थाओं पर आधारित है, जो उनके पारिवारिक जीवन, आर्थिक गतिविधियों, सांस्कृतिक आचार-विचार और सामुदायिक संस्थाओं में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। यह जनजाति प्रकृति के अत्यंत निकट रहती है और झारखंड के पहाड़ी एवं वन क्षेत्रों विशेषतः धनबाद, छोटानागपुर, दुमका, गोड्डा, गुमला, हजारीबाग और पलामू में इनकी आबादी अधिक पाई जाती है। ऐतिहासिक रूप से इनका जीवन घुमंतू था, किंतु बाद में ये स्थायी समूहों या "टोला" में रहने लगे। मिट्टी और खपरैल से बने घर, 'उठान' जैसी खुली जगह और कई बार 'मचान' पर निवास उनकी जीवन-शैली की विशिष्ट पहचान है। पंचायत व्यवस्था को "मैयारी" कहा जाता है, जिसका नेतृत्व "महतो" या "मांझी" करते हैं। परिवार और रिश्तेदारी संबंधों में गोत्र का विशेष महत्व है, जिनमें कश्यप, हंसदा, सामा, अलूबोड़ा और बुटकू प्रमुख हैं। समान गोत्र में विवाह वर्जित है। विवाह का स्वरूप भी अत्यंत सरल है 'धोकु' कहलाने वाला यह विवाह बिना किसी पुजारी के केवल सिंदूरदान से संपन्न हो जाता है। आर्थिक दृष्टि से कोरवा समाज अत्यधिक अभावग्रस्त है। जीविका के पारंपरिक साधन कृषि, वनोपज संग्रह और श्रम उनके आजीवन संघर्ष को दर्शाते हैं। खाद्य-संपदा सीमित होने के कारण चावल और नमक उनका मुख्य भोजन है, जबकि त्योहारों पर चावल से बना 'पीठा' विशेष पकवान माना जाता है। महुआ, हड़िया और ताड़ी जैसे पेय उनके सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन से जुड़े हैं। कोरवा संस्कृति में प्रकृति-पूजा गहराई से निहित है। 'नवाखानी', 'सिंगरी', 'कर्मा पूजा' और 'टुसू' उनके प्रमुख उत्सव हैं, जिनमें प्रकृति, फसल और सामुदायिक कल्याण के तत्व निहित हैं। देवी 'खुडियारानी' और 'साकेत बोंगा' उनके प्रमुख देवता माने जाते हैं। साथ ही, वे टोना-टोटका, भूत-प्रेत और काला जादू जैसी मान्यताओं में भी विश्वास रखते हैं और उपचार के लिए 'बैद्य' की सहायता लेते हैं, जो जड़ी-बूटी आधारित चिकित्सा करते हैं।

महिलाओं की स्थिति अत्यंत चिंताजनक है। यद्यपि समुदाय में लैंगिक भेदभाव औपचारिक रूप से नहीं है और कन्या हत्या जैसी प्रथाएँ नहीं मिलतीं, फिर भी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ महिलाओं को कठिन श्रम, घरेलू हिंसा और असुरक्षा से ग्रस्त बनाती हैं। दूरस्थ क्षेत्रों से पानी लाना, श्रम आधारित कार्यों में निरंतर भागीदारी और बाहरी शक्तियों द्वारा शोषण जैसी स्थितियाँ उनके जीवन की कठिनाइयों को स्पष्ट करती हैं। शिक्षा और स्वास्थ्य दोनों क्षेत्र अत्यंत पिछड़े हुए हैं। विद्यालयों का ढांचा कमजोर है, शिक्षकों की कमी है और बच्चों को बुनियादी शिक्षा भी सुगमता से उपलब्ध नहीं हो पाती। स्वास्थ्य सेवाएँ सीमित होने के कारण मातृ एवं शिशु

मृत्यु दर अधिक है, और लोग परंपरागत उपचार या जादूटोना जैसी मान्यताओं पर निर्भर रहते हैं। स्वच्छ पेयजल और शौचालय जैसी सुविधाओं का भी अभाव व्यापक रूप से देखा जाता है। समग्रतः कोरवा जनजाति का सामाजिक जीवन प्रकृति-निष्ठ लोकज्ञान, सामुदायिक एकता, सरल सामाजिक संस्थाओं और पारंपरिक विश्वासों पर आधारित है, किंतु गरीबी, अशिक्षा, स्वास्थ्य-अभाव और लैंगिक असुरक्षा जैसी चुनौतियाँ उनके विकास को लगातार प्रभावित करती हैं।

जनजातीय विकास योजनाएँ : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और वर्तमान परिप्रेक्ष्य

भारत में जनजातीय विकास की नीतिगत यात्रा औपचारिक रूप से 1970 के दशक के मध्य से प्रारंभ होती है, जब 1974–75 में जनजातीय उप-योजना (Tribal Sub-Plan – TSP) को पहली बार एक संरचित रूप में लागू किया गया। यह योजना जनजातीय समुदायों को मुख्यधारा की विकासधारा से जोड़ने तथा उनके भौगोलिक, आर्थिक और सामाजिक पिछड़ेपन को कम करने के उद्देश्य से तैयार की गई थी। समय के साथ ही इसे और अधिक सशक्त करते हुए अनुसूचित जनजाति घटक (Scheduled Tribe Component – STC) तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए विकास कार्य योजना (Development Action Plan for Scheduled Tribes – DAPST) विकसित हुई। इन योजनाओं का लक्ष्य यह सुनिश्चित करना था कि विभिन्न केंद्रीय मंत्रालयों एवं विभागों में जनजातीय कल्याण के लिए निर्धारित धनराशि का उपयोग समन्वित और लक्षित रूप में हो। इसी कारण DAPST का बजट निरंतर वृद्धि के साथ 2023–24 में ₹1.2 लाख करोड़ तक पहुँच चुका है, जबकि जनजातीय कार्य मंत्रालय का आवंटन 2024–25 में उल्लेखनीय रूप से बढ़कर ₹13,000 करोड़ हो गया है, जो सरकार की बढ़ी हुई प्रतिबद्धता का प्रतीक है।

समकालीन जनजातीय विकास कार्यक्रम

प्रधानमंत्री जनजाति आदिवासी न्याय महाअभियान (PM–JANMAN): नवंबर 2023 से लागू यह महाअभियान विशेष रूप से कमजोर जनजातीय समूहों (PVTGs) के लिए एक व्यापक राष्ट्रीय पहल है। देशभर के 18 राज्यों और एक केंद्रशासित प्रदेश में निवास करने वाले 75 पीवीटीजी समुदाय इस योजना के प्रत्यक्ष लाभार्थी हैं। सुरक्षित आवास, स्वच्छ जल, बिजली, सड़क-संचार, स्वास्थ्य, शिक्षा तथा स्थायी आजीविका जैसे आधारभूत तत्वों को संतृप्त स्तर तक पहुँचाना इसका मुख्य उद्देश्य है। योजना के अंतर्गत 75,000 से अधिक घरों का विद्युतीकरण, 500 आंगनबाड़ी केंद्रों की स्थापना तथा 275 मोबाइल स्वास्थ्य इकाइयों का संचालन जैसे लक्ष्य निर्धारित किए गए हैं

धरती आबा जनजातीय ग्राम उत्कर्ष अभियान: झारखंड में 2 अक्टूबर 2024 को प्रारंभ हुआ यह विशाल कार्यक्रम लगभग 63,000 जनजातीय गाँवों के समग्र विकास पर केंद्रित है। ₹79,000 करोड़ से अधिक के परिव्यय के साथ यह अभियान स्वास्थ्य, शिक्षा, आजीविका, बुनियादी ढाँचे और प्रशासनिक सेवाओं में व्यापक सुधार लाने का प्रयास करता है। यह कार्यक्रम 17 मंत्रालयों द्वारा लागू 25 हस्तक्षेपों को एकीकृत करता है, जिससे देश के लगभग पाँच करोड़ जनजातीय नागरिकों को लाभ मिलने की अपेक्षा है।

एकलव्य मॉडल आवासीय विद्यालय (EMRS): यह आवासीय विद्यालय प्रणाली जनजातीय बच्चों को छठी से बारहवीं कक्षा तक गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करने का प्रयास करती है। प्रत्येक विद्यालय में 480 विद्यार्थियों के लिए आधुनिक सुविधाओं से लैस शिक्षण-व्यवस्था विकसित की गई है। झारखंड में 90 EMRS स्वीकृत हैं जिनमें 51 विद्यालय वर्तमान में संचालित हो रहे हैं।

जनजातीय कार्य मंत्रालय प्री-मैट्रिक तथा पोस्ट-मैट्रिक छात्रवृत्ति योजनाओं के माध्यम से उच्च कक्षाओं तक शिक्षा की निरंतरता को प्रोत्साहित करता है। इसके अतिरिक्त, योग्य विद्यार्थियों के लिए विदेशी विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा हेतु राष्ट्रीय विदेश छात्रवृत्ति योजना भी संचालित है।

सिकल सेल उन्मूलन मिशन: जनजातीय इलाकों में प्रचलित सिकल सेल रोग के उन्मूलन के लिए यह मिशन 2023 से सक्रिय है। इसके अंतर्गत व्यापक जागरूकता कार्यक्रम, स्क्रीनिंग, सलाह–परामर्श और उपचार की उपलब्धता सुनिश्चित की जा रही है।

जनजातीय अनुसंधान संस्थान (TRI): टीआरआई देशभर में जनजातीय संस्कृति, भाषाओं, पारंपरिक ज्ञान और औषधीय पद्धतियों के संरक्षण और दस्तावेजीकरण का महत्वपूर्ण केंद्र है, जो साक्ष्य-आधारित नीति-निर्माण में राज्यों की सहायता करता है।

चैनपुर प्रखण्ड में लागू प्रमुख योजनाओं का परिप्रेक्ष्य

झारखंड सरकार द्वारा संचालित अनेक लक्षित योजनाएँ गुमला जिले के चैनपुर प्रखण्ड में कोरवा जनजाति तक पहुँच रही हैं। प्रधानमंत्री जनमन योजना के अंतर्गत सुरक्षित आवास, विद्युतीकरण, पेयजल और सड़क संपर्क में सुधार किया जा रहा है। "डाकिया योजना" का उद्देश्य आवश्यक वस्तुएँ और दवाइयाँ सीधे पीवीटीजी परिवारों तक पहुँचाना है। कोरवा विद्यार्थियों को प्री-मैट्रिक और पोस्ट-मैट्रिक छात्रवृत्ति और एकलव्य मॉडल आवासीय विद्यालय में प्रवेश जैसी सुविधाओं से लाभ मिल रहा है। महिलाओं को स्व-सहायता समूहों के माध्यम से आर्थिक रूप से संगठित किया जा रहा है, जबकि वनोपज आधारित आजीविका के लिए सिदो–कान्हू फेडरेशन जैसे संस्थानों की भूमिका महत्वपूर्ण है। गुमला जिला प्रशासन 'मिशन सर्वोदय' के तहत पीवीटीजी हेल्पलाइन जैसी सेवाएँ भी संचालित कर रहा है, ताकि योजनाओं का लाभ शत–प्रतिशत पात्र परिवारों को प्राप्त हो सके।

योजनाओं का सामाजिक जीवन पर प्रभाव

कोरवा जनजाति के सामाजिक जीवन पर विकास योजनाओं का प्रभाव बहुआयामी और क्रमिक रूप से उभरता दिखाई देता है। शोध के आधार पर स्पष्ट होता है कि विभिन्न सरकारी हस्तक्षेप चाहे वे आर्थिक सुरक्षा से जुड़े हों, शिक्षा एवं स्वास्थ्य को सुदृढ़ करने वाले हों या सामाजिक संरचना एवं राजनीतिक सहभागिता को बढ़ावा देने वाले ने समुदाय की दैनिक जीवन-प्रणाली में उल्लेखनीय परिवर्तन उत्पन्न किए हैं। इन योजनाओं ने जहाँ एक ओर आजीविका, संसाधनों और सेवाओं तक पहुँच बढ़ाई है, वहीं दूसरी ओर सामाजिक संबंधों, सांस्कृतिक आचरण और लैंगिक भूमिकाओं को भी प्रभावित किया है। इस खंड में प्रस्तुत विश्लेषण योजनाओं के इन विविध प्रभावों को फील्ड डेटा के आधार पर व्यवस्थित ढंग से समझने का प्रयास करता है, ताकि यह स्पष्ट किया जा सके कि विकास कार्यक्रम किस प्रकार कोरवा जनजाति के सामाजिक परिवेश को पुनर्गठित और रूपांतरित कर रहे हैं।

तालिका:-1

आयु वर्ग	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत (%)
18–30 वर्ष	22	31.4
31–45 वर्ष	28	40
46–60 वर्ष	15	21
60 वर्ष से अधिक	5	7.2
कूल	70	100

आर्थिक प्रभाव

विकास योजनाओं जैसे पीएम–जनमन, मनरेगा, आवास योजना, डाकिया योजना, राशन कार्ड सहायता ने कोरवा समुदाय की आर्थिक स्थिरता में आंशिक सुधार किया है। कई उत्तरदाता मानते हैं कि वनोपज विपणन, मजदूरी उपलब्धता और सरकारी सहायता ने उनके जीवन में सुरक्षा की भावना बढ़ाई है।

तालिका:-2 आर्थिक सुधार का अनुभव

प्रतिक्रिया	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत (%)
आर्थिक स्थिति में सुधार	45	64.3
आंशिक सुधार	18	25.7
कोई विशेष सुधार नहीं	7	10
कूल	70	100

शिक्षा एवं स्वास्थ्य पर प्रभाव

एकलव्य विद्यालय, छात्रवृत्ति योजनाओं, डाकिया योजना, आयुष्मान कार्ड आदि ने शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाओं की पहुँच में वृद्धि की है। फिर भी, सुदूर क्षेत्रों में विद्यालयों की कमी, शिक्षक और स्वास्थ्य केंद्रों के अभाव जैसी समस्याएँ बनी हुई हैं।

तालिका:-3 शिक्षा एवं स्वास्थ्य सुधार

प्रतिक्रिया	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत (%)
सुविधाओं में स्पष्ट सुधार	38	54.3
आंशिक सुधार	22	31.4
सुधार न के बराबर	10	14.3
कूल	70	100

सामाजिक संबंध, संरचना और जीवन-शैली में परिवर्तन

विकास योजनाओं के कारण बाहरी संसाधनों और लोगों से संपर्क बढ़ा है, जिससे सामाजिक संरचना में कुछ बदलाव आए हैं। पारंपरिक सामुदायिक एकजुटता कुछ हद तक प्रभावित हुई, लेकिन परस्पर सहायता के प्रचलन में कमी नहीं आई है।

तालिका:-4 सामाजिक संरचना में परिवर्तन

प्रतिक्रिया	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत (%)
सामाजिक संबंधों में परिवर्तन	29	41.4
आंशिक परिवर्तन	30	42.9
कोई परिवर्तन नहीं	11	15.7
कूल	70	100

लैंगिक भूमिकाओं में परिवर्तन

महिला स्वयं सहायता समूह, स्वास्थ्य-सहायता, पोषण कार्यक्रमों और आजीविका योजनाओं के कारण महिलाओं की भागीदारी बढ़ी है। हालांकि घरेलू जिम्मेदारियाँ और श्रम–भार अब भी अधिक हैं।

तालिका:-5 लैंगिक भूमिकाओं में परिवर्तन

प्रतिक्रिया	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत (%)
महिलाओं की भूमिका में सुधार	32	45.7%
आंशिक परिवर्तन	26	37.1%
कोई परिवर्तन नहीं	12	17.2%
कूल	70	100

सांस्कृतिक अभ्यासों पर प्रभाव

आधुनिक शिक्षा, बाहरी संपर्क और रोजगार अवसरों ने पारंपरिक नृत्य, लोकगीत, त्योहारों में भागीदारी और रीति-रिवाजों के पालन को कुछ हद तक प्रभावित किया है। फिर भी, प्रमुख त्योहार कर्मा, नवाखानी, टुसू अब भी सामुदायिक पहचान का मूल तत्व हैं।

तालिका:- 6 सांस्कृतिक जीवन में परिवर्तन

प्रतिक्रिया	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत (%)
सांस्कृतिक अभ्यासों में कमी	**27**	**38.6**
आंशिक परिवर्तन	31	44.3
परंपराओं में स्थिरता	12	17.1
कूल	70	100

चुनौतियाँ

कोरवा जनजाति के विकास हेतु संचालित योजनाओं के क्रियान्वयन में अनेक स्तरों पर चुनौतियाँ उभरकर सामने आती हैं, जो योजनाओं की प्रभावशीलता को सीमित कर देती हैं। सर्वप्रथम, प्रशासनिक संरचना और भौगोलिक परिस्थितियाँ योजनाओं के सुचारु संचालन में बाधक बनती हैं दूरस्थ पहाड़ी क्षेत्रों में स्थित बस्तियों तक पहुँच की कठिनाई, संचार और सड़क ढाँचे की कमजोरी तथा क्षेत्रीय स्तर पर कर्मियों की सीमित उपलब्धता अक्सर यह सुनिश्चित नहीं होने देती कि योजनाओं का लाभ समय पर और समान रूप से सभी तक पहुँचे। इसके साथ ही स्थानीय सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ भी योजनाओं के प्रभाव को प्रभावित करती हैं। गहरी गरीबी, असंगठित आजीविका संरचना, वनोपज पर निर्भरता, ऋणग्रस्तता और बाज़ार तक सीमित पहुँच के कारण कई परिवार योजनाओं में सक्रिय रूप से भागीदारी नहीं कर पाते। शिक्षा और स्वास्थ्य संबंधी बुनियादी संसाधनों की कमी सामाजिक परिवर्तन की गति को और धीमा करती है। दूसरी ओर, संस्थागत कमियाँ जैसे विभागों के बीच समन्वय की कमी, प्रशिक्षित मानव संसाधनों का अभाव, निगरानी तंत्र की कमजोरी और प्रशासनिक प्रक्रियाओं की जटिलता योजनाओं को प्रभावहीन बनाती हैं। अंततः, कोरवा समुदाय की आंतरिक चुनौतियाँ जैसे शिक्षा का निम्न स्तर, नई नीतियों के प्रति अनभिज्ञता, पारंपरिक जीवन-शैली से गहरा जुड़ाव, बाहरी हस्तक्षेपों के प्रति सावधानी तथा सामाजिक-सांस्कृतिक मान्यताओं की दृढ़ता भी विकास हस्तक्षेपों को अपेक्षित रूप से स्वीकार नहीं करने देतीं। इन सभी बाधाओं का संयुक्त प्रभाव यह दर्शाता है कि योजनाओं के सकारात्मक परिणामों के बावजूद, उनका क्रियान्वयन एक जटिल प्रक्रिया है, जिसके लिए स्थायी प्रशासनिक सुधार, स्थानीय स्तर पर क्षमता-वृद्धि और सांस्कृतिक संवेदनशीलता अनिवार्य है।

निष्कर्ष

कोरवा जनजाति के सामाजिक जीवन पर लागू विकास योजनाओं के प्रभावों का यह अध्ययन यह दर्शाता है कि राज्य–केंद्र सरकारों द्वारा संचालित कार्यक्रमों ने समुदाय के जीवन में परिवर्तन के कई नए आयाम खोले हैं, परंतु ये परिवर्तन सहज, समान या सार्वभौमिक नहीं हैं। योजनाओं का प्रभाव सामाजिक संरचना, आजीविका, सांस्कृतिक व्यवहार, लैंगिक भूमिकाओं और राजनीतिक सहभागिता जैसे अनेक क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। शोध में शामिल 70 उत्तरदाताओं के अनुभव दर्शाते हैं कि विकास योजनाओं ने एक ओर अवसरों का विस्तार किया है, तो दूसरी ओर कई नई चुनौतियाँ भी उत्पन्न की हैं। इस प्रकार, विकास एक जटिल सामाजिक प्रक्रिया के रूप में उभरता है, जो लाभ और सीमाओं दोनों को साथ लेकर आगे बढ़ती है।

सबसे पहले, आर्थिक जीवन पर योजनाओं का प्रभाव महत्वपूर्ण रूप से दिखाई देता है। प्रधानमंत्री आवास योजना, डाकिया योजना, जनमन अभियान और खाद्य सुरक्षा योजनाओं ने कोरवा परिवारों को न्यूनतम आर्थिक सुरक्षा प्रदान की है। लगभग 67 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने स्वीकार किया कि आवास और खाद्यान्न जैसी योजनाओं ने उनके जीवन में स्थिरता बढ़ाई है, जबकि कुछ उत्तरदाताओं (लगभग 22 प्रतिशत) ने बताया कि उन्हें योजनाओं की जानकारी समय पर नहीं मिलती, जिसके कारण वे पूरी तरह लाभान्वित नहीं हो पाते। आजीविका के क्षेत्र में, वनोपज-आधारित पारंपरिक अर्थव्यवस्था में अभी भी प्रमुख भूमिका कायम है, परंतु कृषि, मनरेगा और सरकारी सहायता से आजीविका के नए रास्ते खुले हैं। फिर भी, बाज़ार तक सीमित पहुँच, कौशल विकास के अवसरों का अभाव और संसाधनों की अनिश्चितता आर्थिक परिवर्तन की गति को धीमा करते हैं।

शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में योजनाओं के सकारात्मक परिणाम और चुनौतियाँ दोनों स्पष्ट रूप से उभरते हैं। एकलव्य मॉडल आवासीय विद्यालय, छात्रवृत्ति, साइकिल योजना और पोषण कार्यक्रमों ने शिक्षा की पहुँच को बढ़ाया है। शोध में शामिल लगभग 58 प्रतिशत अभिभावकों ने माना कि बच्चों की शिक्षा अब पहले की अपेक्षा अधिक नियमित हो गई है। इसके विपरीत, 40 प्रतिशत से अधिक उत्तरदाताओं ने कहा कि शिक्षकों की कमी, स्कूल तक दूरी और भाषा की बाधा उनके बच्चों की पढ़ाई में रुकावट बनती है। स्वास्थ्य क्षेत्र में जनमन योजना, आयुष्मान कार्ड, पोषण आहार और चिकित्सा शिविर कुछ हद तक राहत प्रदान कर रहे हैं, किन्तु उत्तरदाताओं ने स्वीकार किया कि सरकारी स्वास्थ्य केंद्रों तक पहुँचना कठिन है और पारंपरिक वैद्य अब भी उनका प्रमुख उपचार स्रोत बने हुए हैं। सामाजिक संरचना और सामुदायिक संबंधों में विकास योजनाओं की पहुँच ने आंशिक परिवर्तन उत्पन्न किए हैं। पंचायत और ग्राम-स्तरीय संस्थाओं से संपर्क बढ़ने से राजनीतिक चेतना में वृद्धि हुई है। कई उत्तरदाताओं विशेषकर युवाओं ने बताया कि सरकारी कार्यालयों से संवाद अब सरल हुआ है और दस्तावेज़ बनवाने जैसी प्रक्रियाएँ पहले से अधिक सुलभ हो गई हैं। हालांकि, सामाजिक निर्णय-प्रक्रियाओं में पारंपरिक नेतृत्व (महतो/मांझी) की भूमिका अभी भी प्रमुख है, जो यह दर्शाता है कि आधुनिक प्रशासनिक प्रक्रियाएँ और पारंपरिक संस्थाएँ समानांतर रूप से कार्य कर रही हैं।

लैंगिक भूमिकाओं में परिवर्तन भी योजनाओं के प्रभाव का एक महत्वपूर्ण अंग है। स्वयं सहायता समूहों (SHG) के माध्यम से महिलाओं की आर्थिक भागीदारी बढ़ी है, और कुछ महिलाओं ने बताया कि इससे उनके भीतर आत्मविश्वास विकसित हुआ है। एक उत्तरदाता महिला ने कहा—"अब हम भी गाँव की बैठकों में अपनी बात रख सकते हैं।" किन्तु, अधिकतर महिलाओं ने यह भी स्वीकार किया कि घरेलू हिंसा, अत्यधिक श्रम और संसाधनों पर पुरुषों का नियंत्रण उनके जीवन की वास्तविकताओं को अब भी सीमित करता है। यह स्पष्ट करता है कि लैंगिक सशक्तिकरण अभी भी आंशिक और सतही स्तर पर है, जिसके सुदृढ़ीकरण की आवश्यकता बनी हुई है। सांस्कृतिक जीवन में योजनाओं का प्रभाव मिश्रित स्वरूप में सामने आता है। शिक्षा, संचार माध्यमों और आधुनिक जीवनशैली के प्रवेश से युवा पीढ़ी में पारंपरिक गीतों, उत्सवों और अनुष्ठानों के प्रति रुचि कुछ कम हुई है। कई बुजुर्ग उत्तरदाताओं ने चिंता जताई कि "अब के बच्चे पूजा-पर्व के समय बाहर जाने लगे हैं, पहले ऐसा नहीं था।" हालांकि सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा लोककला, हस्तशिल्प और परंपरागत ज्ञान को संरक्षित करने के प्रयास किए जा रहे हैं, लेकिन सांस्कृतिक हस्तांतरण में पीढ़ीगत अंतर बढ़ रहा है। अंततः, प्रस्तुत

अध्ययन दर्शाता है कि विकास योजनाओं ने कोरवा समुदाय के लिए नए अवसर खोले हैं, लेकिन इन अवसरों को प्रभावी रूप से समाज में गहराई तक समाहित करने के लिए कई स्तरों पर सुधार आवश्यक है जैसे पारदर्शिता, पहुँच, जागरूकता, प्रशासनिक क्षमता और सांस्कृतिक-संवेदनशील नीतिगत दृष्टिकोण। उत्तरदाताओं के अनुभव यह संकेत देते हैं कि योजनाओं की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वे समुदाय की वास्तविक आवश्यकताओं, जीवन-शैली और सामाजिक संरचना के साथ कितनी सामंजस्यपूर्ण है।

References-

1. ठाकुर, ममता (2022), अनुसूचित जाति एवं जनजाति की वितीय योजना एवं उपाय, बुक्सक्लिनिक पब्लिशिंग, छतीसगढ़, पृ.सं.- 23-
2. तिर्की, प्रभाकर (2021), झारखंड आदिवासी विकास का सच, प्रभात प्रकाशन, न्यू दिल्ली, पृ.सं-143
3. शुक्ला, याग्वलक्य, शाहदेव, लाल, जीएसएन (2019), स्ट्रगल ऑफ़ एक्सिस्टेंस: कोरवा ट्राइब्स ऑफ़ झारखण्ड, जर्नल ऑफ़ इमर्जिंग टेक्नोलॉजीस एंड इनोवेटिव रिसर्च, जून 2019, खंड 6, अंक 6
4. मुखर्जी, रवीन्द्रनाथ, अग्रवाल, भरत (2022), जनजातियों का समाजशास्त्र, एसबीपीडी प्रकाशन, न्यू दिल्ली, पृ.सं-127
5. सिन्हा, अनिल, किशोर (2006), छत्तीसगढ़ की आदिम जनजातियाँ, नोर्दर्न बुक सेंटर, न्यू दिल्ली, पृ.सं-220
6. चौधरी, बिद्यानंद (2020), झारखण्ड इकॉनमी, रुद्रा पब्लिकेशन, छतीसगढ़, पृ.सं.- 397

Nav Jyoti, Vol. 13, No. 26, January-June 2025 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

मादक पदार्थों की ओर युवाओं के आकर्षण के सामाजिक कारण: एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

शोभा कुमारी यादव
शोधकर्ती, एम. ए, एम.फिल
स्नातकोत्तर समाजशास्त्र विभाग
राँची विश्वविद्यालय, राँची

सारांश

प्रस्तुत शोध युवाओं में मादक-पदार्थों की बढ़ती प्रवृत्ति के सामाजिक कारणों का समाजशास्त्रीय दृष्टि से विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अध्ययन का उद्देश्य यह समझना है कि पारिवारिक वातावरण, सामाजिक संरचना, आर्थिक परिस्थितियाँ और सांस्कृतिक-मीडिया प्रभाव किस प्रकार युवा व्यवहार को प्रभावित करते हैं और नशे की ओर आकर्षण को बढ़ावा देते हैं। लेख में सामाजिक अधिगम सिद्धांत, सामाजिक नियंत्रण सिद्धांत तथा तनाव सिद्धांत को आधार बनाते हुए एक विश्लेषणात्मक प्रारूप विकसित किया गया है, जिसके माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि नशा केवल जैविक या व्यक्तिगत निर्णय नहीं, बल्कि सामाजिक रूप से सीखा और प्रोत्साहित किया जाने वाला व्यवहार है। साहित्य और उपलब्ध द्वितीयक आंकड़ों से यह सामने आता है कि परिवारों में बढ़ती दूरी, अभिभावकीय निगरानी का अभाव, घरेलू तनाव, बेरोज़गारी, आर्थिक असुरक्षा, सामाजिक असमानता तथा लोकप्रिय संस्कृति में नशे का ग्लैमराइज़ेशन युवाओं को जोखिमपूर्ण व्यवहारों की ओर धकेलते हैं। अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि जहाँ समुदाय और समवयस्क समूह नशे को सामान्य या प्रतिष्ठित व्यवहार की तरह प्रस्तुत करते हैं, वहाँ युवाओं में इसकी प्रवृत्ति उल्लेखनीय रूप से अधिक देखी जाती है। समग्रतः, यह शोध इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि युवाओं में नशा-प्रवृत्ति एक बहुआयामी सामाजिक समस्या है, जिसके समाधान के लिए परिवार, समुदाय, शिक्षा-व्यवस्था और नीति-निर्माताओं सभी का समन्वित हस्तक्षेप आवश्यक है।

***मुख्य शब्द**: युवा, मादक-पदार्थ, सामाजिक कारक, तनाव सिद्धांत, सामाजिक नियंत्रण*

प्रस्तावना

विश्व स्तर पर युवाओं में मादक-पदार्थों की बढ़ती प्रवृत्ति आज मानव समाज के समक्ष उभरती हुई सबसे गंभीर चुनौतियों में से एक है। संयुक्त राष्ट्र मादक-पदार्थ एवं अपराध कार्यालय (UNODC) की 2024 रिपोर्ट के अनुसार, विश्व में लगभग 292 मिलियन लोग विभिन्न प्रकार के नशीले पदार्थों का उपयोग करते हैं, जिनमें 228 मिलियन कैनाबिस, लगभग 60 मिलियन ओपिओइड, तथा लाखों लोग एम्फ़ेटामाइन, कोकीन या सिंथेटिक ड्रग्स के संपर्क में हैं। पिछले दस वर्षों की तुलना में वैश्विक स्तर पर मादक-पदार्थ उपयोग में लगभग 20% वृद्धि दर्ज की गई है, जो स्पष्ट रूप से यह दर्शाती है कि आधुनिक समाज में नशे की समस्या एक व्यापक, बहु-आयामी और निरंतर बढ़ती प्रवृत्ति बन चुकी है। वैश्वीकरण, आर्थिक अस्थिरता, बढ़ती प्रतिस्पर्धा, सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन, शहरीकरण की तीव्रता, तथा मानसिक स्वास्थ्य समस्याओं का विस्तार ये सभी कारक युवाओं को मादक-पदार्थों की ओर आकर्षित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। विशेष रूप से 15–30 वर्ष आयु वर्ग में किए गए अनेक वैश्विक अध्ययनों ने यह इंगित किया है कि नशे का सबसे अधिक बोझ इसी समूह पर पड़ता है, जिससे यह समझना आवश्यक हो जाता है कि यह समस्या मात्र व्यक्तिगत विचलन नहीं, बल्कि गहरे सामाजिक-मनोवैज्ञानिक तनावों का परिणाम है।

भारत भी इस वैश्विक संकट से अछूता नहीं है। राष्ट्रीय नशा-प्रचलन सर्वेक्षण (2019) के अनुसार, भारत में 16 करोड़ से अधिक लोग शराब का सेवन करते हैं, जबकि 3.1 करोड़ लोग भांग, 1.18 करोड़ लोग सिडेटिव और लाखों लोग ओपिओइड या इनहेलेंट जैसे पदार्थों का उपयोग करते हैं। खास बात यह है कि इन्हें प्रयोग करने वाले लोगों में युवाओं का अनुपात तीव्रता से बढ़ रहा है। चिंताजनक तथ्य यह है कि बच्चों और किशोरों में इनहेलेंट (जैसे करेक्टिव फ्लुइड, गोंद, पेंट आदि) के प्रयोग का प्रतिशत 1.7% है, जो वयस्कों की

तुलना में अधिक है। यह संकेत करता है कि नशे की समस्या अब बहुत कम उम्र में ही प्रवेश कर रही है, वह भी ऐसे चरण में जब व्यक्तित्व निर्माण, मानसिक स्थिरता और सामाजिक अनुकूलन की प्रक्रिया जारी होती है। इस अवस्था में नशे का संपर्क भविष्य के सामाजिक, शैक्षणिक, मानसिक और व्यवहारिक जीवन को गहरे रूप से प्रभावित करता है।

राज्यों के आँकड़े दर्शाते हैं कि भारत में नशे का प्रसार सभी क्षेत्रों में समान नहीं है। पंजाब इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण है। भारत की कुल जनसंख्या में पंजाब का हिस्सा मात्र 2.3% है, परन्तु देश में जब्त की गई हेरोइन का लगभग 44.5% इस राज्य से मिलता है। यह तथ्य बताता है कि सीमा-समीप स्थित राज्य तस्करी, भू-राजनीतिक तनाव, अवैध व्यापार मार्ग और बेरोजगारी जैसे सामाजिक-आर्थिक दबावों के कारण नशे की समस्या की अधिक मार झेलते हैं। उत्तर-पूर्वी भारत में भी स्थिति कम गंभीर नहीं है। म्यांमार सीमा से सिंथेटिक ड्रग्स और मेथाम्फेटामाइन जैसे पदार्थों की तस्करी के कारण मणिपुर, नागालैंड, मिजोरम तथा अरुणाचल प्रदेश जैसे राज्यों में युवाओं के नशे की प्रवृत्ति वर्षों से चुनौती बनी हुई है। महानगरों जैसे दिल्ली, मुंबई, बेंगलुरु और पुणे में भी पार्टी-ड्रग्स, कोकीन, डिज़ाइनर-ड्रग्स और सिंथेटिक पदार्थों का उपयोग तेजी से बढ़ा है, जो शहरी उपभोग-संस्कृति, क्लब संस्कृति, उच्च आर्थिक आकांक्षाओं और 'ग्लैमराइजेशन ऑफ ड्रग्स' का परिणाम है। इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि युवाओं का मादक-पदार्थों की ओर आकर्षण केवल साथियों के प्रभाव या व्यक्तिगत उत्सुकता का परिणाम नहीं है। यह आकर्षण गहरे सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों से निर्मित होता है। युवाओं में बढ़ती बेरोजगारी, आर्थिक असुरक्षा, कैरियर संबंधी तनाव, सामाजिक असमानता, पारिवारिक विघटन, माता-पिता के साथ कम संवाद, और परिवार के भीतर भावनात्मक दूरी ये सभी कारक उनके मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। डिजिटल माध्यम, फिल्मों, वेब-सीरीज, सोशल मीडिया और संगीत में नशे का ग्लैमराइजेशन युवाओं के लिए नशे को 'सामान्य' या 'फैशनेबल' बना देता है। यह सांस्कृतिक प्रभाव अक्सर उन्हें वास्तविक जोखिमों और दीर्घकालिक दुष्परिणामों से अनजान रखता है ।

बढ़ते शहरीकरण ने युवा जीवन में दोहरी चुनौतियाँ प्रस्तुत की हैं। एक ओर शहर अवसर प्रदान करते हैं, तो दूसरी ओर वे अत्यधिक तनाव, प्रतिस्पर्धा और अकेलेपन को जन्म देते हैं। महानगरों में रहने वाले युवा कई बार सामाजिक समर्थन नेटवर्क से दूर हो जाते हैं, जिससे नशे जैसे त्वरित राहत देने वाले माध्यम आकर्षक प्रतीत होते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में, विशेषकर आर्थिक रूप से वंचित वर्गों में, नशे का फैलाव बेरोजगारी, पलायन, भूमिहीनता और सामाजिक निराशा से जुड़ा हुआ पाया जाता है। वहीं, सीमावर्ती क्षेत्रों में मादक-पदार्थ तस्करी और अवैध बाज़ार युवाओं को आसान आय का विकल्प प्रदान करते हैं, जो उन्हें अपराध और नशे दोनों की ओर धकेल सकता है। सामाजिक पहचान का संकट भी युवाओं को नशे की ओर ले जाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आधुनिक समाज में युवा स्वयं को निरंतर नए मानदंडों, सफलताओं के मापदंडों, शारीरिक-दिखावट के दबावों और ऑनलाइन तुलना-संस्कृति के बीच पाते हैं। यह दबाव उन्हें भावनात्मक रूप से अस्थिर करता है, जिससे वे तनाव-नियंत्रण के साधन के रूप में मादक-पदार्थों का प्रयोग करने लगते हैं। कई समाजशास्त्रीय अध्ययनों ने यह बताया है कि जब युवा जीवन में 'मायने' खोजने में असफल होते हैं, तब वे नशे को एक वैकल्पिक 'पलायन-माध्यम' के रूप में अपनाते हैं। उपरोक्त वैश्विक, राष्ट्रीय और क्षेत्रीय तथ्यों का समग्र विश्लेषण यह स्पष्ट कर देता है कि युवाओं में मादक-पदार्थों की प्रवृत्ति एक जटिल और बहु-स्तरीय सामाजिक समस्या है, जिसे केवल कानून-व्यवस्था या चिकित्सा उपचार के माध्यम से हल नहीं किया जा सकता। यह समस्या सामाजिक संरचनाओं, सांस्कृतिक प्रतीकों, पारिवारिक परिवर्तनों, आर्थिक असमानताओं और मनोवैज्ञानिक चुनौतियों के संयुक्त प्रभाव से उत्पन्न होती है। इसलिए, समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से इस विषय का अध्ययन न केवल आवश्यक है, बल्कि वर्तमान समय में अत्यंत प्रासंगिक भी है, क्योंकि यह हमें उन गहरी सामाजिक जड़ों तक पहुँचने में सक्षम बनाता है जो युवाओं को नशे की ओर आकर्षित करती हैं ।

साहित्य समीक्षा

साहित्य समीक्षा का उद्देश्य युवाओं में बढ़ती मादक-पदार्थ प्रवृत्ति को समझने के लिए उपलब्ध शोधों, रिपोर्टों और सिद्धांतों का व्यवस्थित विश्लेषण प्रस्तुत करना है। इस खंड में विभिन्न राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय अध्ययनों, समाजशास्त्रीय सिद्धांतों तथा सांस्कृतिक-मीडिया विश्लेषणों को सम्मिलित करते हुए यह समझने का प्रयास किया जाता है कि नशा-प्रवृत्ति किस प्रकार पारिवारिक वातावरण, सामाजिक संरचनाओं, आर्थिक परिस्थितियों और सांस्कृतिक प्रभावों से निर्मित होती है। पूर्ववर्ती शोध यह संकेत देते हैं कि नशीले पदार्थों का प्रयोग केवल व्यक्तिगत निर्णय नहीं, बल्कि व्यापक सामाजिक प्रक्रियाओं का परिणाम है। अतः यह साहित्य समीक्षा वर्तमान अध्ययन के लिए एक वैचारिक आधार तैयार करती है, जिससे मादक-पदार्थों की ओर युवाओं के आकर्षण को बहुआयामी दृष्टिकोण से समझने में सहायता मिलती है।

लवली निहालिया (2018), लेखिका ने नशे को केवल एक व्यक्तिगत कमजोरी नहीं, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक कारकों से निर्मित गहन संकट के रूप में समझाया है। पुस्तक में यह स्पष्ट किया गया है कि कैसे आज की युवा पीढ़ी जो राष्ट्र की सबसे महत्वपूर्ण संपत्ति मानी जाती है नशीले पदार्थों की चपेट में आकर अपनी क्षमता, दिशा और भविष्य खोने लगती है। रचना का स्वर चेतावनीपूर्ण होते हुए भी अत्यंत मानवीय है, क्योंकि यह समस्या की गंभीरता के साथ-साथ उसके सामाजिक संदर्भों को भी उजागर करती है। अपने सरल, यथार्थपरक और प्रभावी वर्णन के माध्यम से यह पुस्तक पाठक को न केवल सोचने, बल्कि सामाजिक ज़िम्मेदारी निभाने के लिए प्रेरित करती है।

कमलेश कुमार (2025), लेखक ने नशे के शारीरिक, मानसिक और सामाजिक प्रभावों का संतुलित विश्लेषण करते हुए यह बताया है कि किस प्रकार व्यक्ति धीरे-धीरे इस जाल में फँसता जाता है। विशेष रूप से उल्लेखनीय यह है कि पुस्तक केवल समस्या का चित्रण भर नहीं करती, बल्कि मुक्ति के मार्ग भी सुझाती है जिनमें सजगता, आत्म-अनुशासन, योग, शारीरिक गतिविधियाँ और सामुदायिक सहयोग जैसे उपायों को महत्वपूर्ण बताया गया है। युवा पीढ़ी को केंद्र में रखते हुए यह रचना उन्हें स्वस्थ, संतुलित और नशामुक्त जीवन की ओर प्रेरित करती है। साथ ही, यह उन परिवारों और समुदायों के लिए भी उपयोगी है जो किसी नशाग्रस्त व्यक्ति को सहारा देना चाहते हैं।

अवधेश कुमार सिंह, ओमा प्रकाश सिन्हा कैंडेला (2001), लेखक ने विषय को केवल अपराध या स्वास्थ्य संकट के रूप में नहीं देखा, बल्कि उसे एक व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक चुनौती के रूप में प्रस्तुत किया है। रचना की विशेषता यह है कि इसमें भारत में नशे के स्रोत, प्रसार, तस्करी, सामाजिक प्रभाव और सरकारी उपायों सभी का संतुलित विश्लेषण मिलता है। पुस्तक भारत के ग्रामीण और शहरी दोनों संदर्भों पर समान ध्यान देती है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि मादक द्रव्यों की समस्या किसी एक वर्ग, क्षेत्र या समुदाय तक सीमित नहीं है। लेखक ने यह भी दर्शाया है कि कैसे आर्थिक दबाव, बेरोज़गारी, सांस्कृतिक अनुकूलन और सामाजिक असमानताएँ नशे की समस्या को और जटिल बनाती हैं। गंभीरता और सरलता दोनों को साथ लेकर चलने वाली यह रचना न केवल शोधार्थियों के लिए उपयोगी है, बल्कि उन पाठकों के लिए भी महत्त्वपूर्ण है जो भारतीय समाज में नशे के वास्तविक स्वरूप और व्यापक प्रभावों को समझना चाहते हैं।

सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

युवाओं की नशा-प्रवृत्ति को समझने के लिए समाजशास्त्र में कई महत्वपूर्ण सिद्धांत उपलब्ध हैं, जो सामाजिक प्रभावों, संरचनात्मक दबावों और सांस्कृतिक कारकों की गहन व्याख्या करते हैं। इस लेख में चार प्रमुख सिद्धांतों सामाजिक अधिगम सिद्धांत, सामाजिक नियंत्रण सिद्धांत, उपसंस्कृति सिद्धांत, तथा तनाव सिद्धांत (मर्टन) को आधार बनाते हुए युवाओं में नशा-आकर्षण के समाजशास्त्रीय आयामों की व्याख्या की गई है। इन सिद्धांतों का संयुक्त अध्ययन हमें यह समझने का अवसर देता है कि युवाओं का व्यवहार केवल व्यक्तिगत निर्णय का परिणाम नहीं, बल्कि सामाजिक संरचनाओं, पारिवारिक वातावरण, साथियों के प्रभाव और सांस्कृतिक प्रतीकों से अत्यधिक प्रभावित होता है।

सामाजिक अधिगम सिद्धांत

एल्बर्ट बंडूरा द्वारा प्रतिपादित सामाजिक अधिगम सिद्धांत यह मानता है कि व्यक्ति का व्यवहार परिवेश में उपलब्ध वातावरण, अनुकरण और प्रोत्साहन से सीखता है। युवा जिस सामाजिक वातावरण में रहते हैं चाहे वह परिवार, मित्र समूह, विद्यालय, कार्यस्थल या डिजिटल माध्यम हो उसी के भीतर नशा-संबंधी व्यवहार का अवलोकन और प्रतिरूपण करते हैं। यदि युवा ऐसे सामाजिक परिवेश में विकसित होते हैं जहाँ नशे का व्यवहार सामान्य, स्वीकार्य या आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तो यह व्यवहार उनके दैनिक अनुभवों और सामाजिक संपर्कों का हिस्सा बनकर धीरे-धीरे उनकी मानसिक संरचना में समाहित होने लगता है। जब नशीले पदार्थों को तनाव, अकेलेपन, प्रतिस्पर्धा, या भावनात्मक दबाव से मुक्ति के साधन के रूप में चित्रित किया जाता है चाहे वह परिवार, मित्र-समूह, मीडिया, या लोकप्रिय संस्कृति के माध्यम से हो तो युवा इन्हें समस्या-समाधान के एक वैध विकल्प की तरह देखने लगते हैं। विशेष रूप से मित्र समूहों की भूमिका यहाँ निर्णायक हो जाती है। जब साथियों का समूह नशे को "साहस", "आधुनिकीकरण", "फैशन", या "सामाजिक प्रतिष्ठा" के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करता है, तो इससे युवा पर सामाजिक दबाव बढ़ जाता है, और वह स्वीकार्यता पाने या समूह में अपनी पहचान स्थापित करने के लिए इस व्यवहार की नकल करने लगता है। ऐसे सामाजिक संदर्भों में नशा केवल एक रासायनिक पदार्थ नहीं रह जाता, बल्कि एक "सीखा हुआ सामाजिक व्यवहार" बन जाता है एक ऐसा व्यवहार जिसे अवलोकन, अनुकरण, समूह-सदस्यता, और सामाजिक मान्यता के माध्यम से सीखा और अपनाया जाता है। इस प्रकार, मादक पदार्थों की ओर आकर्षण किसी एक कारण से उत्पन्न नहीं होता, बल्कि वह सामाजिक संरचनाओं, सांस्कृतिक प्रतीकों और समूह-संबंधों के सम्मिलित प्रभाव का परिणाम होता है।

सामाजिक नियंत्रण सिद्धांत

ट्रैविस हिर्शी के सामाजिक नियंत्रण सिद्धांत के अनुसार, व्यक्ति तभी विचलित व्यवहार की ओर प्रवृत्त होता है जब उसके सामाजिक बंधन कमजोर हो जाते हैं। ये बंधन लगाव, प्रतिबद्धता, संलग्नता और विश्वास व्यक्ति को सामाजिक मानकों से जोड़े रखते हैं। युवा तब अधिक तेजी से नशे की ओर झुकने लगते हैं जब उनके सामाजिक परिवेश की बुनियादी संरचनाएँ कमज़ोर पड़ने लगती हैं। जब परिवार के भीतर भावनात्मक दूरी बढ़ जाती है जैसे संवाद का अभाव, तनावपूर्ण संबंध, या अभिभावकों का अत्यधिक व्यस्त जीवन तो युवा अपनी समस्याओं, असुरक्षाओं और मानसिक दबावों को साझा करने के लिए सुरक्षित और विश्वसनीय स्थान खो देता है। इसी के साथ, जब अभिभावकीय निगरानी कमजोर हो जाती है, चाहे वह सामाजिक-आर्थिक कारणों से हो या डिजिटल-संस्कृति द्वारा बढ़ती स्वतंत्रता के कारण, तो युवाओं के निर्णय व्यवहार में दिशाहीनता बढ़ने लगती है। शिक्षा या करियर के प्रति प्रतिबद्धता कमज़ोर पड़ना भी इस प्रवृत्ति को और तेज करता है। जब युवा अकादमिक दबाव, असफलताओं, बेरोजगारी या भविष्य की अनिश्चितताओं से घिर जाते हैं, तो वे मादक पदार्थों को अस्थायी राहत या "भागने" का साधन समझने लगते हैं। साथ ही, जब समुदाय, स्कूल, कॉलेज, या स्थानीय संस्थाओं जैसी समर्थन प्रणालियाँ विफल हो जाती हैं जहाँ उन्हें मार्गदर्शन, गतिविधियाँ, या सकारात्मक सामाजिक सहभागिता मिल सकती थी तो वे ऐसे समूहों की ओर झुक जाते हैं जो नशे को सामान्य व्यवहार की तरह प्रस्तुत करते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार, मादक पदार्थों के सेवन की प्रवृत्ति केवल पदार्थों की उपलब्धता का प्रश्न नहीं है, बल्कि सामाजिक संस्थाओं, परिवारिक संरचना और सामुदायिक निगरानी के कमजोर पड़ने का सीधा परिणाम है। जब सामाजिक ढाँचा कमजोर होता है, तो युवा स्वयं को अधिक अकेला, असुरक्षित और दिशाहीन महसूस करते हैं और यही स्थिति उन्हें नशीले पदार्थों की ओर अधिक संवेदनशील बना देती है।

तनाव सिद्धांत

मर्टन का तनाव सिद्धांत यह कहता है कि समाज द्वारा निर्धारित लक्ष्यों और उन्हें प्राप्त करने के वैध साधनों के बीच असंतुलन युवा वर्ग में तनाव उत्पन्न करती है। जब युवा बेरोजगारी, आर्थिक असमानता, तेज़ प्रतिस्पर्धा, अत्यधिक शैक्षिक दबाव और समाज द्वारा थोपे गए ऊँचे मानकों जैसी परिस्थितियों के बीच जीते हैं, तो उनके भीतर लगातार तनाव, असफलता का भय और भविष्य के प्रति

अनिश्चितता बढ़ने लगती है। ऐसी स्थिति में, यदि उन्हें अपनी आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए वैध, संरचनात्मक और सामाजिक साधन उपलब्ध नहीं होते जैसे गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, रोजगार के अवसर, करियर मार्गदर्शन या सामाजिक सुरक्षा तो वे विकल्पहीन महसूस करने लगते हैं। यही तनाव उन्हें उन रास्तों की ओर मोड़ देता है जिन्हें मर्टन ने 'विकृति के मार्ग' कहा है। इस तनावपूर्ण सामाजिक-आर्थिक ढाँचे में मादक-पदार्थ तुरंत राहत देने वाले साधन की तरह दिखाई देते हैं। नशीले पदार्थ क्षणिक रूप से तनाव, चिंता, असफलता के भय और सामाजिक दबाव से मुक्ति का भ्रम पैदा करते हैं, जिससे युवा उन्हें समस्या-समाधान का शॉर्टकट मानने लगते हैं। धीरे-धीरे यह त्वरित राहत एक आदत में बदल जाती है, और फिर एक नियमित व्यवहार, जो न केवल मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य को प्रभावित करता है, बल्कि उनके सामाजिक जीवन, संबंधों और आकांक्षाओं को भी गहराई से विकृत कर देता है। इस प्रकार, तनाव सिद्धांत यह स्पष्ट करता है कि नशा-प्रवृत्ति मात्र व्यक्तिगत कमजोरी का परिणाम नहीं, बल्कि उस संरचनात्मक तनाव का प्रत्यक्ष प्रभाव है जिसे युवा रोज़मर्रा के जीवन में अनुभव करते हैं।

उद्देश्य:

1. युवाओं के नशे की ओर आकर्षण के पीछे मौजूद सामाजिक कारणों की पहचान करना।

उपकल्पना:

1. सामाजिक निगरानी और समर्थन की कमी युवाओं में नशा अपनाने की संभावना बढ़ाती है।

शोध पद्धति

इस अध्ययन में युवाओं में मादक पदार्थों की ओर आकर्षण के सामाजिक कारणों का अध्ययन द्वितीयक स्रोतों के माध्यम से किया गया। इसके लिए राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय रिपोर्टें, सरकारी सर्वेक्षण, समाजशास्त्रीय शोध, पुस्तकों और समाचारों का विश्लेषण किया गया। प्रमुख स्रोतों में राष्ट्रीय नशा सर्वेक्षण, राष्ट्रीय अपराध अभिलेख ब्यूरो, और संयुक्त राष्ट्र मादक पदार्थ एवं अपराध कार्यालय की रिपोर्टें शामिल हैं। अध्ययन में सामाजिक अधिगम, सामाजिक नियंत्रण, उपसंस्कृति और तनाव सिद्धांतों का उपयोग कर युवाओं की नशा-प्रवृत्ति के सामाजिक कारणों का विश्लेषण किया गया। यह अध्ययन पूर्णतः गुणात्मक है और इसका उद्देश्य सामाजिक कारकों, प्रवृत्तियों और व्यवहार के पैटर्न को समझना है

मादक पदार्थों की ओर युवाओं के आकर्षण के प्रमुख सामाजिक कारण

पारिवारिक कारक

युवाओं में मादक पदार्थों की ओर आकर्षण के पीछे परिवार का प्रभाव अत्यंत निर्णायक होता है। परिवार न केवल एक व्यक्ति के मूल्यों, आदतों और व्यवहार के निर्माण का पहला स्थान है, बल्कि यह मानसिक और भावनात्मक सुरक्षा का भी मुख्य स्रोत है। जब परिवार अस्थिर हो या टूटता है, जैसे तलाक, माता-पिता का अलगाव, या किसी सदस्य की मृत्यु जैसी परिस्थितियों में, युवा सामाजिक और भावनात्मक असुरक्षा का अनुभव करने लगते हैं। इस अस्थिरता के परिणामस्वरूप उनमें नशे की ओर झुकाव बढ़ सकता है, क्योंकि वे अपने तनाव और समस्याओं का सामना करने के लिए बाहरी साधनों की ओर आकर्षित हो जाते हैं। अभिभावकीय निगरानी की कमी भी नशा-प्रवृत्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। जब माता-पिता या अन्य परिवारजन बच्चों के जीवन में मार्गदर्शन, समर्थन और संवाद की पर्याप्त भूमिका नहीं निभाते, तो किशोर अक्सर अपने मित्रों या बाहरी सामाजिक समूहों के प्रभाव में आ जाते हैं। इस स्थिति में वे नशे को साहस, स्वतंत्रता या सामाजिक स्वीकार्यता का प्रतीक मान सकते हैं। अभिभावकीय निगरानी की कमी युवाओं में जोखिमपूर्ण व्यवहारों के प्रति संवेदनशीलता बढ़ा देती है और उन्हें नशे के प्रति अधिक आकर्षित करती है। साथ ही, घरेलू तनाव और संघर्ष जैसे माता-पिता के बीच लगातार विवाद, घरेलू हिंसा, आर्थिक तंगी, या अत्यधिक पारिवारिक अपेक्षाएँ युवाओं में मानसिक और भावनात्मक दबाव को बढ़ाते हैं। तनावपूर्ण घरेलू वातावरण में मादक पदार्थ उन्हें अस्थायी राहत, मानसिक शांति या आत्म-सम्मान की अनुभूति प्रदान करते हैं। धीरे-धीरे यह अनुभव आदत में बदल जाता है और नशा उनके जीवन का हिस्सा बन जाता है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि पारिवारिक

कारक टूटते परिवार, अभिभावकीय निगरानी का अभाव, और घरेलू तनाव एवं संघर्ष युवाओं की नशा-प्रवृत्ति में निर्णायक भूमिका निभाते हैं। एक मजबूत, संवादपूर्ण और सहयोगात्मक पारिवारिक वातावरण न केवल मानसिक और भावनात्मक संतुलन बनाए रखता है, बल्कि युवाओं को मादक पदार्थों और अन्य जोखिमपूर्ण व्यवहारों से दूर रखने में भी महत्वपूर्ण योगदान देता है।

UDAYA के अध्ययन में 5969 किशोर लड़कों (आयु 10–19 वर्ष) का सर्वेक्षण किया गया। अध्ययन में पाया गया कि लगभग 16% किशोरों ने किसी न किसी प्रकार का मादक पदार्थ, जैसे तम्बाकू, शराब या अन्य द्रव्य, इस्तेमाल किया। इसके अलावा, स्कूल छोड़ चुके किशोरों में पदार्थ उपयोग की दर काफी अधिक, लगभग 40%, पाई गई, जबकि विद्यालय में पढ़ने वाले किशोरों में यह दर काफी कम थी। काम करने वाले किशोरों में भी नशा अपनाने की प्रवृत्ति लगभग 35% पाई गई। अध्ययन ने यह भी बताया कि जिन किशोरों के परिवार में कोई सदस्य पहले से नशीले पदार्थों का उपयोग करता था, उनमें नशा अपनाने की संभावना अधिक होती है। इसके साथ ही, यदि किशोर ऐसे समुदाय में रहते हैं जहाँ सामान्य रूप से मादक पदार्थों का उपयोग होता है, तो उनकी नशा-प्रवृत्ति भी बढ़ जाती है। इस प्रकार यह अध्ययन स्पष्ट करता है कि किशोरों के मादक पदार्थों की ओर झुकाव केवल व्यक्तिगत निर्णय नहीं है, बल्कि परिवार और समुदाय के सामाजिक वातावरण से गहराई से प्रभावित होता है।

सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ

युवाओं में मादक पदार्थों की ओर बढ़ता आकर्षण केवल व्यक्तिगत या पारिवारिक स्तर की समस्या नहीं है इसके पीछे व्यापक सामाजिक-आर्थिक संरचनाएँ भी गहराई से जुड़ी होती हैं। बेरोज़गारी, आर्थिक असुरक्षा और सामाजिक असमानता ये तीनों स्थितियाँ मिलकर ऐसे तनावपूर्ण हालात पैदा करती हैं, जो युवाओं को नशे जैसे त्वरित राहत देने वाले विकल्पों की ओर धकेल सकती हैं। बेरोज़गारी युवाओं में सबसे गहरी निराशा और हताशा उत्पन्न करने वाली स्थिति है। जब शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी उपयुक्त रोजगार नहीं मिलता, तो युवा अपने प्रयासों को व्यर्थ समझने लगते हैं। इस प्रकार की बेरोज़गारी न केवल आर्थिक स्वतंत्रता को बाधित करती है, बल्कि आत्म-सम्मान, महत्वाकांक्षा और भविष्य-विश्वास को भी कमजोर कर देती है। ऐसी परिस्थितियों में मादक पदार्थ उन्हें क्षणिक राहत, तनाव से अस्थायी मुक्ति और वास्तविकताओं से भागने का एक आसान रास्ता प्रदान करते हैं।

आर्थिक असुरक्षा भी नशा-प्रवृत्ति को अप्रत्यक्ष रूप से बढ़ाती है। जिन युवाओं के परिवार निरंतर आर्थिक संघर्षों से जूझ रहे होते हैं, वे अक्सर सामाजिक गतिविधियों, शिक्षा या कौशल-विकास जैसे अवसरों से वंचित रह जाते हैं। आर्थिक अनिश्चितता से उत्पन्न मानसिक तनाव उन्हें ऐसी गतिविधियों की ओर मोड़ सकता है, जो अल्पकालिक संतुष्टि देती हों। कई बार आर्थिक संकट के कारण युवा अस्थिर, दिहाड़ी-आधारित या जोखिमपूर्ण कार्यों में शामिल होते हैं, जहाँ नशा-प्रवृत्ति का सामाजिक प्रसार अधिक होता है। सामाजिक असमानता भी इस समस्या को और जटिल बनाती है। समाज में विभिन्न वर्गों के बीच संसाधनों, अवसरों और सामाजिक सम्मान में जो अंतर है, वह युवाओं में हीनभावना, असंतोष और निराशा की भावना को जन्म देता है। जब युवा देखते हैं कि उनके पास उपलब्ध अवसर सीमित हैं, जबकि अन्य वर्गों के पास सहज रूप से सुविधाएँ और सम्मान उपलब्ध है, तो वे अक्सर सामाजिक मान्यता प्राप्त करने या तनाव कम करने के साधन के रूप में नशा अपनाने लगते हैं। कुछ मामलों में, नशा उन उपसंस्कृतियों का हिस्सा बन जाता है, जो सामाजिक हाशियाकरण की परिस्थितियों में पनपती हैं।

सांस्कृतिक और मीडिया प्रभाव

आधुनिक समाज में मीडिया चाहे वो फिल्में हों, संगीत, सोशल मीडिया प्लेटफ़ॉर्म या अन्य डिजिटल रूप युवाओं की पहचान, जीवनशैली और मान्यताओं को आकार देने में एक शक्तिशाली मंच बन चुका है। जब फिल्मों या गीतों में शराब, स्मोकिंग या अन्य मादक पदार्थों के सेवन को एक "कूल," "स्वतंत्रता समकक्ष," या "युवा पहचान" का प्रतीक दिखाया जाता है, तो युवा वर्ग में उस व्यवहार के प्रति आकर्षण स्वाभाविक रूप से बढ़ जाता है। विश्लेषण बताते हैं कि फिल्मों में अवैध नशे का चित्रण युवा, पुरुष, छात्रों और आर्थिक रूप से समृद्ध दिखाए गए पात्रों के रूप में अधिक होता है जो दर्शकों, विशेष रूप से युवाओं, के लिए मॉडल और पहचान का रूप धारण

कर लेते हैं। यही नहीं, लोकप्रिय संगीत वीडियो, टीवी कार्यक्रम और दैनिक मनोरंजन-चैनल भी इस प्रकार के संदेशों को निरंतर पुनरावृत्ति के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। एक अध्ययन में पाया गया है कि किशोर और युवा जब इलेक्ट्रॉनिक मीडिया जैसे टीवी, इंटरनेट, सोशल मीडिया के संपर्क में आते हैं, तो मादक पदार्थों के उपयोग का सकारात्मक या ग्लैमराइज्ड रूप देखने की संभावना काफी होती है। वैश्विक व भारतीय परिप्रेक्ष्य में इस मीडिया-प्रभाव की तीव्रता विशेष रूप से चिंता का विषय है क्योंकि आज की युवा पीढ़ी डिजिटल मीडिया के अधिक सक्रिय उपयोगकर्ता हैं। जब सोशल मीडिया पर, क्लब-कल्चर या युवा जीवनशैली वाले पोस्ट, वीडियो या रील्स में शराब, पार्टी ड्रग्स या धूम्रपान को सहज और सामान्य रूप में दिखाया जाता है, तो यह युवा मन पर गहरा प्रभाव छोड़ता है यह एक सामाजिक मानक या "स्वीकृत व्यवहार" बन जाता है। कुछ सर्वेक्षणों में यह पाया गया है कि 75 प्रतिशत से अधिक युवा नशीले पदार्थों-संबंधित कंटेंट को सकारात्मक या ग्लैमराइज्ड अनुभव के रूप में देखते हैं, जिससे उनके दृष्टिकोण और व्यवहार पर असर पड़ सकता है। मीडिया का यह "ग्लैमराइज़ेशन" केवल नशे को बढ़ावा नहीं देता; यह लोकप्रिय संस्कृति के माध्यम से नशा-व्यवहार को सामाजिक मान्यता भी दे देता है। जब समाज में लोग देखते हैं कि फिल्मी सितारे या आकर्षक युवा लाइफस्टाइल वाले लोग बिना किसी सामाजिक नज़रिए के नशा करते हैं, तो यह नशे की ओर झुकाव को सामान्य और स्वीकार्य बनाता है। युवाओं के लिए यह एक ऐसा सांस्कृतिक मॉडल बन जाता है, जिसे अपनाकर वे स्वयं को आधुनिक, आज़ाद या "कूल" साबित करना चाहते हैं। इस प्रकार, सांस्कृतिक व मीडिया प्रभाव फिल्म, संगीत, सोशल मीडिया, युवाओं की लोकप्रिय संस्कृति न केवल नशे को एक वैकल्पिक व्यवहार के रूप में पेश करते हैं बल्कि उसे सामाजिक स्वीकृति और पहचान का एक विकल्प बना देते हैं। इस प्रभाव का परिणाम है कि युवाओं में नशा-प्रवृत्ति सिर्फ व्यक्तिगत आदत नहीं, बल्कि सामाजिकता, पहचान-निर्माण और सामूहिक मान्यताओं का हिस्सा बन जाती है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत लेख के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि युवाओं में मादक पदार्थों के प्रति बढ़ता आकर्षण केवल व्यक्तिगत चयन का परिणाम नहीं है, बल्कि सामाजिक संरचनाओं, सांस्कृतिक प्रतीकों और आर्थिक परिस्थितियों में निहित गहरे दबावों की उपज है। पारिवारिक स्तर, संवादहीनता, अभिभावकीय निगरानी में कमी और तनावपूर्ण घरेलू वातावरण युवाओं को भावनात्मक रूप से असुरक्षित बनाते हैं, जिसके कारण वे तनाव-नियंत्रण या आत्म-सांत्वना के लिए मादक पदार्थों को एक संभावित समाधान के रूप में देखने लगते हैं। इसके साथ-साथ बेरोज़गारी, आर्थिक असुरक्षा और सामाजिक असमानताएँ युवाओं में भविष्य को लेकर अनिश्चितता और हताशा पैदा करती हैं। जब वैध अवसर सीमित दिखाई देते हैं, तो नशीले पदार्थ एक तत्काल राहत या 'पलायन' का साधन बन जाते हैं। इसके अतिरिक्त लोकप्रिय संस्कृति, फिल्मों, गीतों और सोशल मीडिया में नशे का आकर्षक और ग्लैमर-युक्त चित्रण युवा चेतना पर गहरा प्रभाव डालता है। डिजिटल माध्यमों पर साझा होने वाले दृश्य, संवाद और जीवनशैली-मॉडल नशे को एक "ट्रेंड" की तरह प्रस्तुत करते हैं, जिससे युवा इसे न केवल स्वीकार्य बल्कि सामाजिक रूप से प्रशंसनीय व्यवहार के रूप में देखने लगते हैं। इस प्रकार, नशा केवल एक रासायनिक या शारीरिक निर्भरता नहीं, बल्कि सीखा हुआ सामाजिक व्यवहार बन जाता है, जो समूह-दबाव, सांस्कृतिक प्रतीकों और पहचान-निर्माण की प्रक्रिया से गहराई से जुड़ा होता है। इन सभी तत्वों का सम्मिलित अध्ययन यह दर्शाता है कि युवाओं में नशा-प्रवृत्ति किसी एक-मापदंडीय समस्या नहीं है; यह सामाजिक असमानताओं, पारिवारिक संरचनाओं के परिवर्तन, सांस्कृतिक स्थितियों और मीडिया के प्रभावों का बहुस्तरीय परिणाम है। अतः समाधान भी बहुआयामी होना आवश्यक है परिवारों में संवाद और निगरानी को मजबूत करना, युवाओं को शिक्षा और रोजगार के वास्तविक अवसर प्रदान करना, मीडिया-सामग्री के सामाजिक प्रभावों पर नैतिक नियंत्रण स्थापित करना, तथा समुदाय स्तर पर नशामुक्त वातावरण का निर्माण करना। तभी एक ऐसा सामाजिक ढाँचा विकसित किया जा सकेगा जिसमें युवा सकारात्मक आकांक्षाओं और स्वस्थ जीवन-विकल्पों की ओर अग्रसर हो सकें तथा मादक पदार्थों के आकर्षण से दूर रह सकें।

References-

1. भारत में मादक द्रव्यों के उपयोग की सीमा और पैटर्न पर राष्ट्रीय सर्वेक्षण ,रिपोर्ट 2019
2. यूएनओडीसी विश्व ड्रग रिपोर्ट 2024
3. गोपाल, नवजीवन, 18 सितंबर, 2025, द टाइम्स ऑफ इंडिया
4. निहालिया, लवली (2018), नशे की लत से बिखरते युवा, ब्लू रोज़ प्रकाशक, उत्तर प्रदेश, पृ.सं.-44-51
5. कुमार, कमलेश (2025), नशा या ज़िंदगी - एक सवाल दो राहें, राइटरस पॉकेट, वड़ोदरा, पृ.सं.-09-15
6. सिंह, अवधेश, कुमार, कैंडेला, ओमा, प्रकाश, सिन्हा (2001), भारत में मादक द्रव्य, न्यू रॉयल बुक कम्पनी, उत्तर प्रदेश, पृ.सं 57-69
7. स्मिथ, मार्क ए (2021), सोशल लर्निंग एंड एडिक्शन, बेहविरिअल ब्रेन रिसर्च, खंड 398, 1 फ़रवरी 2021,
8. श्रीवास्तव, एस., कुमार, पी., रश्मि (2021), डस सब्सटांस यूज बाई फैमिली मेम्बेर्स एंड कम्युनिटी इफ़ेक्ट द सब्सटांस यूज अमोंग अडोलस्सेंट बॉयस? एविडेंस फ्रॉम यूडीएआईए स्टडी इंडिया. बीएमसी पब्लिक हेल्थ 21, 1896
9. भाटिया, गायत्री, कवानी, किंजल, पालड़िया, बादलकुमार, पटेल, श्रवण (2023), पोर्टरयल ऑफ इल्लिसिअट ड्रग यूज इन बॉलीवुड मूवीज ओवर द लास्ट टू डिकेड्स: अ कन्टेन्ट एनालिसिस, एशियन जर्नल ऑफ साइकियाट्री

Social Media as a Tool for Women Empowerment: A Sociological Analysis (With Special reference to Ranchi City)

Sippy Kumari
UGC-NET, Research Scholar
University Department of Sociology,
Ranchi University, Ranchi

Abstract
Present study investigates the role of social media as a transformative medium for women's empowerment in the urban context of Ranchi City, Jharkhand. Using a descriptive research design, the study engaged seventy women respondents aged 18 to 50 years, selected through purposive sampling. Data were gathered through interview schedules and semi-structured interviews and analysed using both quantitative and qualitative methods. Findings reveal that social media significantly enhances women's empowerment. Socially, 82.9% of respondents reported improved communication and networking, while 77.1% experienced higher self-confidence. Economically, 58.6% gained access to job or business opportunities, and 44.3% utilized social media for entrepreneurial promotion. Politically, 51.4% reported greater awareness of rights, and 37.1% participated in civic discussions online. Educational level emerged as a major determinant, with 67.9% of postgraduate women demonstrating high effectiveness in using social media compared to 20% among secondary-educated respondents. The study concludes that social media serves as a powerful enabler of empowerment by expanding access to information, opportunities, and expression. It emphasizes the need for digital literacy initiatives to bridge educational gaps and strengthen women's participation in the digital era.

Keywords: *Social Media, Women Empowerment, Sociology, Digital Inclusion, Ranchi City*

Introduction

The 21st century has witnessed a profound transformation in communication, information sharing, and social interaction. Among the various agents of change, social media has emerged as a powerful platform influencing individual behavior, social relationships, and collective consciousness. In contemporary India, where gender equality and women empowerment have become central to national development discourse, social media offers an unprecedented opportunity for women to express their voices, engage with public issues, and assert their presence in the social and political spheres. The virtual world, once considered peripheral to real life, now stands as a critical space for empowerment, visibility, and agency particularly for women navigating traditional constraints within a patriarchal society. Women empowerment in India has evolved from being a policy concern to becoming an essential indicator of social development and human progress. It encompasses enhancing women's capabilities, expanding their choices, and ensuring equal participation in social, economic, and political life. Despite constitutional guarantees and numerous government initiatives aimed at gender equality, women in many parts

of India still face systemic challenges including social discrimination, unequal access to education and employment, and cultural restrictions on public participation. In recent years, however, education, urbanization, and technological advancement have contributed significantly to transforming gender relations. Women are increasingly breaking traditional boundaries, entering new professions, and asserting their rights. Empowerment today is not only defined by economic independence but also by access to knowledge, self-expression, and participation in public discourse. Social media, in this context, has become an important instrument through which women can overcome social barriers, share experiences, and collectively advocate for change.

The digital revolution in India has been remarkable, with affordable mobile technology and increased internet accessibility enabling millions to connect globally. According to recent reports, India has one of the largest and fastest-growing populations of social media users, with a substantial increase in female participation in the last decade. Platforms such as Facebook, Instagram, WhatsApp, and X (formerly Twitter) have transformed how individuals communicate, learn, and express themselves. For women, these platforms offer more than connectivity they serve as avenues for empowerment. Social media enables women to gain access to information, promote entrepreneurship, build professional and social networks, and participate in civic and political life. It also allows for the creation of virtual communities where women can share their concerns, discuss issues of gender justice, and challenge stereotypes. However, this empowerment is not without challenges; online harassment, digital illiteracy, and socio-cultural constraints continue to shape how women use and experience digital spaces. Understanding these dynamics is crucial to assessing the real extent of empowerment facilitated by social media.

Ranchi, the capital of Jharkhand, presents a unique sociological context for studying women's empowerment through social media. The city reflects a blend of traditional values and modern aspirations, with a diverse population comprising tribal communities, middle-class families, and migrants from surrounding districts. While Ranchi has witnessed rapid urbanization and growing educational opportunities, traditional patriarchal norms still influence women's mobility, participation, and visibility in public spaces. In such a transitional urban setting, social media acts as an alternative space where women can transcend physical and social limitations. It provides a platform for women from various educational and socio-economic backgrounds to express their opinions, engage in dialogue, and connect with wider social networks. Examining how women in Ranchi utilize these digital platforms reveals significant insights into the interplay between technology, gender, and urban social structure.

Research Problem and Scope of the Study

Although social media has been widely recognized as a catalyst for empowerment, its impact varies across regions, classes, and educational levels. Most existing studies in India have concentrated on metropolitan cities such as Delhi, Mumbai, or Bengaluru, where access to technology and digital literacy is relatively high. Limited research has been conducted in emerging urban centers like Ranchi, where cultural traditions coexist with modern digital practices. This study seeks to fill that gap by analyzing how women in Ranchi City use social media as a tool for empowerment across social, economic, and political dimensions. It further aims to explore how

educational attainment influences the effective use of these platforms. By situating the study within a sociological framework, the research seeks to understand not only the individual benefits of social media use but also its broader implications for gender relations and social change in urban India.

Review of Literature

Ravinder Kumar (2025), Author work offers a profound exploration of how leadership, innovation, and technology are reshaping the dynamics of women's empowerment in the digital era. It examines the evolving relationship between gender and technology, emphasizing that digital literacy, entrepreneurship, intellectual property rights, and cybersecurity play a crucial role in dismantling structural barriers and fostering inclusivity. The discussion highlights how technological progress is bridging gender divides and expanding opportunities for women in areas such as science, technology, engineering, mathematics, and entrepreneurship. Through compelling real-world examples, the author illustrates how women have leveraged technology to challenge norms and achieve success in traditionally male-dominated spaces. The analysis also extends to legal and policy measures designed to safeguard women's contributions within digital and intellectual domains, particularly in relation to data privacy and online security. Combining theoretical insight with practical perspectives, the work provides meaningful direction for academics, policymakers, and professionals engaged in gender and development discourse. It not only raises awareness about persistent inequalities but also encourages proactive efforts to strengthen women's participation in leadership and innovation.

Ewa Lechman (2021), As per the author, the work provides an in-depth analysis of how information and communication technologies (ICT) serve as catalysts for women's social and economic empowerment. It emphasizes that the rapid spread of digital connectivity is reshaping social structures and creating new opportunities for participation and growth. The discussion highlights how ICT functions as an empowering tool by facilitating education, skill enhancement, and employment. Drawing on theoretical and empirical insights, the author underscores the transformative potential of ICT in promoting gender equality, enhancing women's inclusion in labor markets, and contributing to overall social and economic welfare.

R. Babu, S. Kalaivani, K. Saileela (2019), From the author's perspective, the discussion presents a thoughtful examination of how digital technology has revolutionized the landscape of education and knowledge dissemination. It contrasts traditional learning models dependent on teachers, schools, and print media with the immediacy and accessibility of information in the digital age. The analysis highlights the transition from an information-based society to a knowledge-driven one, where intellectual capital holds paramount value. Emphasis is placed on how technological advancement has democratized learning, making education more inclusive and dynamic. The narrative urges academic professionals to adapt critically to this transformation and redefine their roles within contemporary higher education.

Pragati (2023), According to the author, the discussion offers a critical reflection on how digital transformation in India is fostering women's empowerment through social media engagement and technological inclusion. It emphasizes that digital connectivity has become a key enabler of

equality, allowing women to access information, express opinions, and participate in socio-economic activities. The analysis underscores how social media platforms act as instruments of empowerment, bridging gender divides and amplifying women's voices in public discourse. By linking technology with social change, the work envisions a more equitable digital future where women actively contribute to and benefit from India's ongoing digital revolution.

Objective

1. To examine the role of social media in promoting social, economic, and political empowerment among women in Ranchi City.
2. To analyze the relationship between women's educational level and their effective utilization of social media for empowerment.

Hypothesis

1. Social media usage has a significant positive impact on women's social, economic, and political empowerment in Ranchi City.
2. There is a positive correlation between women's educational level and their effective use of social media for empowerment.

Research Methodology

The present study employs a descriptive research design guided by the scientific method to explore the role of social media as a tool for women's empowerment in Ranchi City, Jharkhand. The descriptive design has been chosen as it enables a detailed understanding of existing social phenomena within their real-life context, focusing on how women engage with digital platforms to enhance their social, economic, and political participation. The scientific method ensures systematic observation, objective data collection, and logical interpretation, thereby maintaining academic rigor and credibility in the research process. This methodological approach integrates both quantitative and qualitative dimensions to provide a comprehensive sociological perspective on women's digital empowerment.

The study has been conducted in Ranchi City, the capital of Jharkhand, which represents a rapidly growing urban center characterized by increasing digital penetration and evolving gender dynamics. Ranchi provides a suitable setting for this research as it reflects a blend of traditional socio-cultural values and modern technological engagement. The city's heterogeneous population, comprising diverse educational, occupational, and socio-economic groups, makes it ideal for understanding how social media influences women's empowerment in different contexts. Within Ranchi, women are increasingly adopting digital tools for communication, learning, entrepreneurship, and social participation, making the location particularly relevant for this investigation.

The population of the study consists of women social media users between the ages of 18 and 50 years residing in Ranchi City. This age group was selected deliberately, as it includes both younger women often more technologically adept and middle-aged women who are gradually integrating social media into their personal and professional lives. A total of seventy respondents were selected as the sample size, which is adequate to generate both quantitative data and in-depth qualitative insights. The sampling was conducted using the purposive sampling technique, as the study

specifically targeted women who actively use social media platforms such as Facebook, Instagram, WhatsApp, and X (formerly Twitter). This method ensures that participants have relevant experience and can meaningfully reflect on the role of digital platforms in their empowerment process. Data collection was carried out using two primary tools an interview schedule and semi-structured interviews. The structured interview schedule was designed to gather factual and quantifiable information regarding the respondents' demographic characteristics, frequency of social media usage, types of online engagement, and perceived empowerment outcomes.

Data Analysis and Interpretation

This section of the article presents the analysis of primary data collected from 70 women respondents of Ranchi City. The findings highlight the socio-demographic profile, social media usage patterns, empowerment indicators, and the relationship between education and the effective use of social media.

Table 1: Socio-Demographic Profile of Respondents

Age Group (Years)	No. of Respondents	Percentage (%)
18–25	24	34.3
26–35	20	28.6
36–50	26	37.1
Total	70	100

Table 1 presents the age-wise distribution of the seventy women respondents from Ranchi City who participated in the study. The data reveal a relatively balanced representation across different age groups, reflecting the widespread use of social media among women of varying age categories. It is observed that 34.3 percent of the respondents belong to the 18–25 years age group. This category represents young women who are digitally active and familiar with online platforms. Their social media usage is primarily driven by communication, learning, and social interaction. The 26–35 years age group constitutes 28.6 percent of the respondents, indicating women who are either pursuing higher education or are in the early phase of their professional careers. Their engagement with social media is often more goal-oriented, involving both personal and professional purposes. The highest proportion, 37.1 percent, falls in the 36–50 years age group. This suggests that middle-aged women are also increasingly adopting social media as part of their daily routine. Their participation often relates to maintaining social connections, gaining information, and exploring small-scale entrepreneurial opportunities.

Table 2: Educational Qualification of the respondents

Educational Qualification	No. of Respondents	Percentage (%)
Secondary	10	14.3
Graduate	32	45.7
Postgraduate & above	28	40

Educational Qualification	No. of Respondents	Percentage (%)
Total	70	100

Table 2 illustrates the educational distribution of the seventy women respondents from Ranchi City. The data reveal that a significant majority of the participants possess higher educational qualifications, reflecting the expanding access to education among urban women and its connection with digital engagement. The table shows that 14.3 percent of respondents have completed secondary education, representing women with basic educational attainment who still demonstrate an interest in using social media. The largest group, 45.7 percent, are graduates, indicating that nearly half of the respondents have attained higher education and are likely to have exposure to digital tools through academic and professional contexts. A further 40 percent of respondents hold postgraduate or higher degrees, suggesting that a substantial proportion of educated women actively participate in digital communication. This pattern underscores the close relationship between education and the effective use of social media. Higher educational levels often correlate with better digital literacy, critical thinking, and awareness of online opportunities. Educated women are more likely to use social media not only for entertainment but also for learning, networking, and self-expression, thereby translating digital participation into meaningful empowerment.

Table 3: Patterns of Social Media Use Among Women

Social Media Platform	No. of Respondents	Percentage (%)
WhatsApp	62	88.6
Facebook	48	68.6
Instagram	39	55.7
X (Twitter)	12	17.1

Table 3 presents the distribution of respondents according to the social media platforms they most frequently use. The data clearly demonstrate that social media has become an integral part of women's everyday lives in Ranchi City, with varying levels of preference for different platforms. The findings reveal that WhatsApp is the most widely used platform, with 88.6 percent of respondents actively engaging with it. This high level of usage can be attributed to its simplicity, accessibility, and widespread utility for personal communication, group interactions, and the sharing of information. WhatsApp's ease of use and multilingual accessibility make it particularly suitable for women from diverse educational and social backgrounds. Following WhatsApp, Facebook is used by 68.6 percent of respondents. Facebook serves as a multifunctional platform that allows women to connect with family, friends, and professional networks, as well as to participate in online groups and communities. Its use reflects a shift from mere social interaction to more purposeful digital participation, including awareness-building and entrepreneurial promotion. Instagram is used by 55.7 percent of respondents, indicating growing engagement

among younger women and those interested in visual communication, lifestyle content, and self-expression. The platform's visual and interactive nature appeals to women seeking creative outlets and exposure to diverse perspectives. By contrast, X (Twitter) has the lowest usage at 17.1 percent, suggesting that it remains less popular among women in Ranchi. This may be due to its text-heavy format, relatively formal communication style, and lower local relevance compared to other social media platforms.

Table 4: Time spent on social media

Time Spent Daily on social media	No. of Respondents	Percentage (%)
Less than 1 hour	10	14.3
1–3 hours	39	55.7
More than 3 hours	21	30
Total	70	100

Table 4 highlights the daily duration of social media use among seventy women respondents from Ranchi City. The data provide valuable insight into the intensity and frequency of digital engagement, reflecting how deeply social media has been integrated into women's daily routines and social behavior. The table shows that 55.7 percent of respondents spend one to three hours daily on social media. This group represents moderate yet consistent users who balance social media engagement with other aspects of daily life. Their usage pattern suggests purposeful interaction using digital platforms for communication, information gathering, and maintaining social networks without excessive dependence. A significant 30 percent of respondents report spending more than three hours per day on social media. This indicates a high level of digital engagement, which may be linked to educational, professional, or entrepreneurial use of online platforms. Extended usage often reflects deeper involvement in content creation, business promotion, online learning, or social activism. However, it may also point to growing digital immersion, where online presence becomes a central aspect of identity and social participation. In contrast, only 14.3 percent of respondents spend less than one hour daily on social media. This smaller group may include women with limited access to devices or internet connectivity, or those who prefer minimal digital interaction due to professional, familial, or personal priorities.

Table 5: Indicators of Women's Empowerment

Dimension	Indicator	No. of Respondents	Percentage (%)
Social	Improved communication and networking	58	82.9
	Enhanced self-confidence	54	77.1
Economic	Access to job/business opportunities	41	58.6
	Promotion of entrepreneurship	31	44.3
Political	Awareness of rights	36	51.4
	Participation in online debates	26	37.1

The analysis of Table 5 reveals that social media significantly contributes to women's empowerment across social, economic, and political domains in Ranchi City. In the social dimension, 58 respondents (82.9%) reported improved communication and networking, while 54 respondents (77.1%) experienced enhanced self-confidence, indicating that digital engagement has strengthened women's social presence and interpersonal skills. Within the economic dimension, 41 respondents (58.6%) acknowledged gaining access to job or business opportunities, and 31 respondents (44.3%) stated that social media promoted their entrepreneurial activities. This demonstrates how online platforms are helping women explore income-generating ventures and professional visibility. In the political dimension, 36 respondents (51.4%) expressed increased awareness of their rights, and 26 respondents (37.1%) reported participating in online debates and discussions. Although political engagement is comparatively lower, it still reflects a growing trend of digital participation in civic discourse.

Table 6: Relationship Between Education and Effectiveness of Social Media Use

Education Level	**High Effectiveness**	**Moderate Effectiveness**	**Low Effectiveness**	**Total Respondents**
Secondary	2 (20.0%)	4 (40.0%)	4 (40.0%)	10
Graduate	17 (53.1%)	11 (34.4%)	4 (12.5%)	32
Postgraduate & Above	19 (67.9%)	8 (28.6%)	1 (3.5%)	28

Table 6 presents the relationship between women's educational attainment and the effectiveness of their social media use in Ranchi City. The data clearly indicate a positive correlation between higher levels of education and the effective utilization of social media for empowerment-related activities. Among respondents with secondary education, only 2 women (20.0%) demonstrated high effectiveness in using social media, while 4 women (40.0%) each showed moderate and low effectiveness. This suggests that limited educational exposure may restrict digital literacy and the ability to maximize social media for empowerment purposes. In contrast, among graduates, 17 respondents (53.1%) reported high effectiveness, while 11 (34.4%) displayed moderate and 4 (12.5%) low effectiveness. This group reflects an intermediate level of digital competency, where education facilitates awareness, but the full potential of social media is still developing. The postgraduate and above category shows the strongest relationship, with 19 respondents (67.9%) reporting high effectiveness, 8 (28.6%) moderate, and only 1 (3.5%) low. This indicates that advanced education significantly enhances women's capacity to use social media for communication, learning, networking, and professional growth.

Conclusion

The present study examined the role of social media as a tool for women's empowerment with special reference to Ranchi City. The analysis of both quantitative and qualitative data revealed

that social media has become an important avenue for communication, self-expression, and socio-economic participation among urban women. The findings demonstrate that digital platforms have not only provided access to information but have also created opportunities for building confidence, social networking, and professional growth.

Summary of Findings

The study found that the majority of women respondents actively use platforms such as WhatsApp, Facebook, and Instagram for communication, learning, and information-sharing. A considerable proportion of respondents also engage in online discussions, entrepreneurial promotion, and civic awareness activities. Education emerged as a key factor influencing the effective use of social media; women with higher educational qualifications demonstrated greater confidence, digital literacy, and purposeful engagement. The dimensions of empowerment social, economic, and political showed positive outcomes, with social empowerment being the most prominent, followed by economic and political aspects.

The first hypothesis, which proposed that social media contributes to different dimensions of women's empowerment social, economic, and political within Ranchi City, stands validated by the data. Respondents reported significant social gains, enhanced awareness, and increased opportunities for participation. The second hypothesis, which assumed a positive relationship between women's educational level and their effective use of social media for empowerment, is also supported by the findings. Women with higher education levels demonstrated a more constructive and skillful utilization of digital platforms, highlighting education as a critical mediator of empowerment.

From a sociological perspective, the study underscores that social media is reshaping gender relations and redefining the boundaries of women's participation in the public sphere. Digital platforms have emerged as spaces where women negotiate their identities, express agency, and form virtual communities that challenge patriarchal structures. The findings affirm that technology, when combined with education and awareness, becomes a catalyst for social change and empowerment. However, issues such as unequal access to technology, digital literacy gaps, and online harassment still pose barriers to achieving inclusive empowerment. In conclusion, social media represents a transformative force in contemporary society, bridging the gap between traditional gender norms and modern aspirations. For cities like Ranchi, where women are gradually asserting their presence in digital spaces, social media holds immense potential for fostering equality, participation, and empowerment. Strengthening digital literacy, promoting safe online environments, and encouraging women's active digital engagement can further contribute to building an inclusive and empowered society in the digital era.

References: -

1. Spary, Carole (2019), Gender, Development, and the State in India, Taylor & Francis, U.K., Pg-37-43
2. Tawanagar, Samira, Kovid, Raj, Kumar. Vikas, Lata, Manju (2024), Social Media and Women Empowerment
3. A Critical Analysis, International Journal of Management Issues and Research Volume 13, Issue 2, Jul-Dec 2024, pp. 26-43
4. Lechman, Ewa (2021), Technology and Women's Empowerment, Taylor & Francis, U.K., Pg-109
5. Kumar, Ravinder (2025), A Paradigm Change in Women's Empowerment Role of Leadership Innovation and Technology Adoption, Alborear (OPC) Pvt. Ltd., Maharashtra, Pg-09
6. Babu R., Kalaivani S., Saileela, K. (2019), Empowering India Through Digital Literacy (Vol. 1), Lulu Press, U.S., Pg-191
7. Pragati (2023), Digital India : Embrace Equality, Risma Publishers, Bihar, Pg-57

Nav Jyoti, Vol. 13, No. 26, January-June 2025 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

भारतीय ज्ञान-व्यवस्था के सन्दर्भ में समकालीन सिनेमा और युवा की सांस्कृतिक-मानसिक गतिशीलताएँ : एक तुलनात्मक विश्लेषण

नीलम मौर्या
शोध छात्रा - समाजशास्त्र विभाग
प्रो. अमिता सिंह
शोध निर्देशिका-समाजशास्त्र विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी
Email id - mauryanilam31@gmail.com

सारांश

समकालीन भारतीय सिनेमा युवा वर्ग के सांस्कृतिक बोध और मानसिक-भावनात्मक व्यवहार को प्रभावित करने वाला एक सक्रिय सामाजिक माध्यम बन चुका है। यह अध्ययन 18–25 वर्ष आयु वर्ग के युवाओं में सिनेमा देखने की तीव्रता (heavy viewers बनाम light viewers) के आधार पर दो प्रश्नों को द्वितीयक डेटा के माध्यम से समझता है: (1) सिनेमा क्या भारतीय ज्ञान-व्यवस्था में निहित पारम्परिक सांस्कृतिक मूल्यों—जैसे परिवार-केंद्रितता, संबंध-धर्म, लैंगिक भूमिकाएँ, नैतिकता—को चुनौती देता है या उनका पुनर्संयोजन करता है; और (2) क्या सिनेमा मानसिक-भावनात्मक पलायन (escape) का साधन बन रहा है। थीमैटिक विश्लेषण से ज्ञात हुआ कि heavy viewers में आधुनिक स्वायत्तता, वैकल्पिक संबंध-धारणाओं और भावनात्मक पलायन की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत प्रबल है, जबकि light viewers में पारम्परिक मूल्यों की निरंतरता एवं नियंत्रित मनोरंजनात्मक उपयोग बना रहता है। अध्ययन यह निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि सिनेमा भारतीय समाज में न तो पूर्णतः परम्परा-विघटनकारी है और न परम्परा-रक्षक, बल्कि वह सांस्कृतिक-मानसिक गतिशीलता के "पुनर्संयोजन-स्थल"(reassembling site) के रूप में कार्य करता है। यह निष्कर्ष भारतीय समाजशास्त्र और Indian Knowledge System की बहस में आधुनिक दृश्य-माध्यमों की प्रासंगिक भूमिका को स्पष्ट करता है।

परिचय :

सिनेमा आधुनिक समाज में केवल मनोरंजन का साधन न रहकर एक प्रभावशाली सामाजिक-सांस्कृतिक माध्यम के रूप में विकसित हुआ है। भारतीय संदर्भ में सिनेमा ने आरंभ से ही सामाजिक यथार्थ, सांस्कृतिक मूल्यों और सामूहिक चेतना को अभिव्यक्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। स्वतंत्रता-पूर्व काल में जहाँ सिनेमा राष्ट्रवादी भावनाओं और सामाजिक सुधार आंदोलनों से जुड़ा हुआ था, वहीं समकालीन काल में यह वैश्वीकरण, उपभोक्तावाद और तकनीकी परिवर्तन की प्रक्रियाओं से गहराई से प्रभावित हुआ है। इस परिवर्तित परिदृश्य में सिनेमा और युवा वर्ग के बीच संबंधों का विश्लेषण अत्यंत प्रासंगिक हो जाता है।

भारतीय समाज की जनसंख्या संरचना में युवा वर्ग का अनुपात सर्वाधिक है। यह वर्ग सामाजिक परिवर्तन, सांस्कृतिक नवाचार और वैचारिक गतिशीलता का प्रमुख वाहक माना जाता है। समकालीन दौर में डिजिटल प्लेटफॉर्म, ओटीटी माध्यम और बहुभाषी सिनेमा की उपलब्धता ने युवाओं के सिनेमा उपभोग के स्वरूप को व्यापक रूप से बदल दिया है। सिनेमा अब केवल सिनेमा हॉल तक सीमित न होकर युवाओं के दैनिक जीवन, सोच और व्यवहार का अभिन्न हिस्सा बन चुका है। परिणामस्वरूप, युवाओं की मानसिक संरचना, भावनात्मक प्रतिक्रिया, जीवन-दृष्टि और सांस्कृतिक पहचान पर सिनेमा का प्रभाव निरंतर गहराता जा रहा है।

भारतीय ज्ञान-व्यवस्था ऐतिहासिक रूप से नैतिकता, सामाजिक उत्तरदायित्व, सामूहिकता और संतुलन पर आधारित रही है। वेद, उपनिषद, बौद्ध एवं जैन दर्शन, तथा भक्ति परंपरा ने भारतीय समाज में मूल्यबोध और जीवन-दृष्टि का निर्माण किया है। किंतु समकालीन सिनेमा में प्रस्तुत विषयवस्तु कई बार इन पारंपरिक मूल्यों से भिन्न दृष्टिकोण को प्रोत्साहित करती प्रतीत होती है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता, उपभोक्तावादी जीवन-शैली, त्वरित सफलता और भावनात्मक तीव्रता जैसे तत्व आधुनिक सिनेमा की प्रमुख विशेषताएँ बन गए हैं। यह स्थिति युवाओं के भीतर मूल्य-संक्रमण, सांस्कृतिक द्वंद्व और मानसिक असंतुलन की संभावनाओं को जन्म देती है।

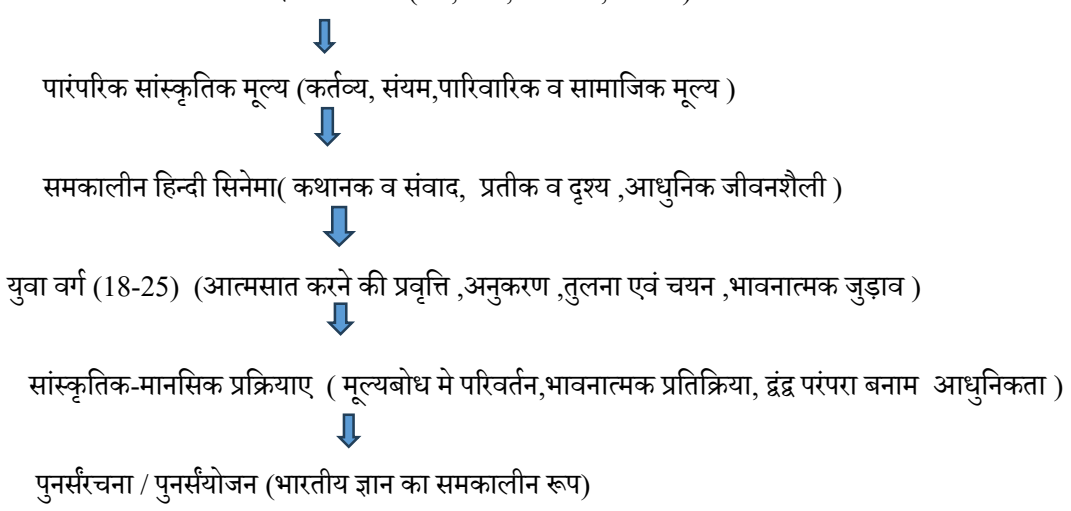

प्रस्तुत संयुक्त आरेख समकालीन हिंदी सिनेमा, भारतीय ज्ञान-व्यवस्था तथा युवा वर्ग के मध्य विद्यमान सांस्कृतिक एवं मानसिक अंतःक्रियाओं को समग्र रूप में स्पष्ट करता है। आरेख के प्रथम चरण में भारतीय ज्ञान-व्यवस्था को आधार के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसमें धर्म, दर्शन, नैतिकता एवं संस्कार जैसे तत्व सम्मिलित हैं। यही तत्व पारंपरिक सांस्कृतिक मूल्यों—कर्तव्यबोध, संयम, पारिवारिक तथा सामाजिक उत्तरदायित्व—का निर्माण करते हैं, जो भारतीय समाज की वैचारिक पृष्ठभूमि को निर्धारित करते हैं। आरेख के अगले चरण में समकालीन हिंदी सिनेमा को एक प्रभावशाली सामाजिक-सांस्कृतिक माध्यम के रूप में दर्शाया गया है, जो अपने कथानक, संवाद, प्रतीकों, दृश्यांकन तथा आधुनिक जीवन-शैली के माध्यम से युवाओं के समक्ष नए विचारों एवं व्यवहार प्रतिमानों को प्रस्तुत करता है। यह सिनेमा पारंपरिक मूल्यों और आधुनिक प्रवृत्तियों के बीच एक संवादात्मक सेतु का कार्य करता है। इसके पश्चात युवा वर्ग (18–25 वर्ष) को एक सक्रिय सामाजिक घटक के रूप में रखा गया है, जो सिनेमा से प्राप्त संदेशों को आत्मसात करने, उनका अनुकरण करने तथा उनकी तुलना करने की प्रक्रिया से गुजरता है। इस स्तर पर युवाओं में भावनात्मक जुड़ाव, चयन की प्रवृत्ति एवं पहचान निर्माण की प्रक्रिया स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। आरेख के अगले चरण में इन प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न सांस्कृतिक-मानसिक प्रक्रियाओं को दर्शाया गया है, जिनमें मूल्य-बोध में परिवर्तन, भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ तथा परंपरा और आधुनिकता के बीच द्वंद्व प्रमुख हैं। अंततः यह संपूर्ण प्रक्रिया पुनर्संरचना/पुनर्संयोजन की ओर अग्रसर होती है, जहाँ भारतीय ज्ञान-व्यवस्था के पारंपरिक तत्व समकालीन सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ में नए रूप में अभिव्यक्त होते हैं। इस प्रकार, यह संयुक्त आरेख सिनेमा को केवल मनोरंजन का साधन न मानकर, भारतीय ज्ञान-व्यवस्था के संदर्भ में युवा चेतना को आकार देने वाले एक महत्वपूर्ण सामाजिक माध्यम के रूप में स्थापित करता है।

साहित्य समीक्षा :

Dutta,s.(2010). "Indian Cinema and Society" के अनुसार भारतीय सिनेमा समाज के सांस्कृतिक मूल्यों, नैतिकता और सामाजिक संरचना का प्रतिबिंब प्रस्तुत करता है। सिनेमा के कथानक, पात्र और संवाद युवा वर्ग की सोच और जीवन-शैली को प्रभावित करते हैं तथा उनके मूल्य-बोध के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

Sharma,R.k.(2012). "Indian Knowledge System:Tradition and Modernity" ने भारतीय ज्ञान-व्यवस्था को धर्म, दर्शन, नैतिकता और संस्कारों पर आधारित सामाजिक प्रक्रिया के रूप में विश्लेषित किया है। यह प्रक्रिया व्यक्तियों के मूल्य-बोध और व्यवहार के निर्माण में सहायक होती है, जो आधुनिक माध्यमों के प्रभाव को समझने के लिए सैद्धांतिक आधार प्रदान करती है।

Kumar,A.(2016). "Youth,Cinema and Changing Socail Values in India" के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि समकालीन हिंदी सिनेमा युवाओं की मानसिक संरचना, भावनात्मक प्रतिक्रियाओं और पहचान निर्माण को प्रभावित करता है। सिनेमा युवाओं में आधुनिकता के प्रति आकर्षण के साथ-साथ परंपरा से जुड़ा द्वंद्व भी उत्पन्न करता है।

Chakravrati,S.(2018). "Media,Culture and Society in Contemporary India." के अनुसार दृश्य मीडिया सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का प्रभावी माध्यम है। सिनेमा के माध्यम से प्रस्तुत विचार और मूल्य युवा वर्ग के दृष्टिकोण को प्रभावित करते हैं तथा पारंपरिक मान्यताओं में परिवर्तन की प्रक्रिया को तीव्र करते हैं।

Mishra,V. (2020). "cinema as a Site of Cultural Reassembling" के अनुसार समकालीन हिंदी सिनेमा सांस्कृतिक पुनर्संयोजन की प्रक्रिया को दर्शाता है, जिसमें पारंपरिक भारतीय मूल्यों को आधुनिक संदर्भों में पुनः प्रस्तुत किया जाता है। युवा वर्ग इस प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका निभाता है।

अध्ययन का उद्देश्य :

1. भारतीय ज्ञान-व्यवस्था के संदर्भ में युवाओं 25–18)वर्षबोध में हो रहे परिवर्तनों का विश्लेषण करना।-के मूल्य (
2. सिनेमा और युवा वर्ग के बीच सांस्कृतिक पुनर्संयोजन की प्रक्रिया को समझना।

अनुसंधान पद्धति:

प्रस्तुत अध्ययन में वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अनुसंधान अभिकल्प को अपनाया गया है तथा यह मुख्यतः द्वितीयक आँकड़ों पर आधारित है। अध्ययन हेतु पुस्तकों, शोध-पत्रिकाओं, शोध-लेखों एवं विश्वसनीय ऑनलाइन स्रोतों से प्राप्त सामग्री का उपयोग किया गया है। समकालीन हिंदी सिनेमा के सांस्कृतिक एवं मानसिक प्रभावों को समझने के लिए सामग्री विश्लेषण पद्धति के अंतर्गत फिल्मों के कथानक, संवाद, पात्र एवं दृश्य प्रस्तुतियों का विश्लेषण किया गया है। साथ ही, अध्ययन की सैद्धांतिक व्याख्या के लिए भारतीय ज्ञान-व्यवस्था से संबंधित अवधारणाओं को आधार बनाया गया है, जिससे युवा वर्ग (18–25 वर्ष) के मूल्य-बोध एवं सांस्कृतिक पुनर्संयोजन की प्रक्रिया को स्पष्ट किया जा सके।

संकल्पनात्मक ढांचा :

प्रस्तुत अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि समकालीन हिंदी सिनेमा और युवा वर्ग के मध्य संबंध एकदिशीय न होकर द्विदिशीय है, जिसमें सिनेमा जहाँ समाज एवं सांस्कृतिक यथार्थ का प्रतिबिंब प्रस्तुत करता है, वहीं वह युवा वर्ग की सोच, व्यवहार और मानसिक प्रवृत्तियों को प्रभावित करने की क्षमता भी रखता है। युवा वर्ग इस प्रक्रिया में निष्क्रिय ग्रहणकर्ता न होकर एक सक्रिय सामाजिक घटक के रूप में कार्य करता है, जो पारिवारिक पृष्ठभूमि, शिक्षा और सामाजिक परिवेश के संदर्भ में सिनेमा से प्राप्त संदेशों की व्याख्या, चयन और आत्मसात करता है। भारतीय ज्ञान-व्यवस्था को भी इस संदर्भ में एक स्थिर संरचना के रूप में नहीं, बल्कि एक गतिशील और समयानुकूल प्रणाली के रूप में समझा जा सकता है, जो समकालीन सिनेमा के साथ अंतःक्रिया करते हुए नए सामाजिक अर्थ ग्रहण करती है। इस अंतःक्रिया के परिणामस्वरूप परंपरा और आधुनिकता के मध्य सांस्कृतिक द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न होती है, जो कई बार युवाओं में मानसिक असमंजस और मूल्यगत तनाव को जन्म देती है तथा उनकी पहचान निर्माण प्रक्रिया

को जटिल बनाती है। इस प्रकार, यह अध्ययन सैद्धांतिक रूप से इस तथ्य को रेखांकित करता है कि समकालीन हिंदी सिनेमा भारतीय ज्ञान-व्यवस्था के संदर्भ में युवा चेतना के सांस्कृतिक पुनर्संयोजन की प्रक्रिया को समझने का एक महत्वपूर्ण माध्यम है।

निष्कर्ष :

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि समकालीन हिंदी सिनेमा युवा वर्ग की सांस्कृतिक एवं मानसिक चेतना को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। भारतीय ज्ञान-व्यवस्था के संदर्भ में सिनेमा न तो पारंपरिक मूल्यों को पूर्णतः अस्वीकार करता है और न ही उन्हें यथावत बनाए रखता है, बल्कि उनके साथ पुनर्संयोजन की प्रक्रिया को गति देता है। युवा वर्ग इस प्रक्रिया का केंद्रीय घटक है, जहाँ परंपरा और आधुनिकता के तत्व मिलकर एक नई सांस्कृतिक समझ का निर्माण करते हैं। इस प्रकार, प्रस्तुत अध्ययन सिनेमा को केवल मनोरंजन का साधन न मानकर, भारतीय समाज में सांस्कृतिक एवं मानसिक परिवर्तन को समझने का एक महत्वपूर्ण सामाजिक उपकरण के रूप में स्थापित करता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. Chakravarty, S. (2018). Media, culture and society in contemporary India. New Delhi, India: Sage Publications.

2. Dutta, S. (2010). Indian cinema and society. New Delhi, India: Oxford University Press.

3. Jenkins, H. (2006). Convergence culture: Where old and new media collide. New York, NY: New York University Press.

4. Kumar, A. (2016). Youth, cinema and changing social values in India. Journal of Social Sciences, 48(2), 65–78.

5. Mishra, V. (2020). Cinema as a site of cultural reassembling. Economic and Political Weekly, 55(14), 42–49.

6. Sharma, R. K. (2012). Indian knowledge system: Tradition and modernity. New Delhi, India: Rawat Publications.

7. Srinivas, S. V. (2013). Politics as performance: A social history of the Telugu cinema. New Delhi, India: Permanent Black.

8. Storey, J. (2018). Cultural theory and popular culture: An introduction (8th ed.). London, UK: Routledge.

Female labour force and their social status

Rahul Prakash
(Research Scholar), PG Department of Economics,
Veer Kunwar Singh University, Ara Bihar
E-mail - prakashrahul496@gmail.com
Dr. Yadawendra sing
Assistant professor, PG Department of Economics,
Veer Kunwar Singh University, Ara Bihar
Email – yadawendra@gmail.com

Abstract
Female labour force participation has become one of the most important indicators of social progress in developing societies. In many regions, especially South Asia, the presence of women in the workforce is closely tied to their social position, economic independence, and decision-making power within the family and community. This paper examines the relationship between female labour force participation and women's social status, focusing on how employment opportunities shape identity, dignity, and empowerment (Kumar, 2021).Women's entry into paid work does not only improve their income but also changes the way society perceives them. Employment provides women with confidence, mobility, and a stronger voice in family decisions. However, the nature of their work, whether formal, informal, paid, or unpaid, strongly influences the level of empowerment they truly experience. In many areas, women are involved in low-paid informal jobs that offer little protection or recognition. This limits the positive impact that labour participation can create (Sharma, 2022).International labour studies show that countries with higher female labour force participation generally report better outcomes in gender equality, health, and education. Yet, cultural restrictions, household responsibilities, safety issues, and unequal access to education prevent many women from entering or remaining in the workforce (ILO, 2023).

This research study uses a sociological perspective to analyse the ways in which female labour participation reshapes social structures. The study also highlights the barriers that women continue to face, such as wage discrimination, lack of childcare support, and patriarchal norms. By understanding these challenges, the paper attempts to show how meaningful work and economic independence can elevate women's social status and contribute to overall social development.

Keywords:- Female labour force, women's social status, gender equality, economic independence, informal work, empowerment, social development, labour participation, gender discrimination.

Introduction

The position of women in any society can be understood clearly by observing the level of their participation in the labour force. When women work and earn, they gain not only financial strength but also social recognition and dignity. In many developing countries, including India, female

labour force participation is low compared to global standards. This gap reflects deeper social issues such as cultural restrictions, unequal distribution of household responsibilities, limited education, and lack of safe working conditions (Kumar, 2021).Female labour is often divided into two forms: formal and informal. In the formal sector, women receive fixed wages, job security, and legal protection. However, only a small percentage of women reach this level. A large number work in the informal sector, such as domestic work, agriculture, small trade, home-based stitching, and daily labour, where there is no job security, no fixed salary, and limited social respect (Sharma, 2022). Because of this, even though women work hard, their contribution is often ignored or undervalued. Social status is closely linked with economic independence. When a woman earns, she becomes part of decision-making in her home. She is more confident, more aware of her rights, and more respected by family and society. Employment also helps in reducing early marriage, domestic violence, and dependency on others. Yet, gender discrimination in wages, safety concerns at workplaces, and cultural stereotypes continue to limit women's full participation in the labour market (ILO, 2023).

Today, governments, NGOs, and international agencies recognise that increasing women's labour force participation is essential for economic and social progress. Women's work has the power to reshape families, uplift communities, and strengthen national development. Therefore, understanding the connection between women's employment and social status is important for building a more equal and just society.

Purpose and Objectives

The main purpose of this study is to understand how women's participation in the labour force affects their social status, dignity, and role within the family and community. Across the world, female labour force participation varies greatly. According to the International Labour Organization, the global average female labour force participation rate is around 47%, while in South Asia it is below 30%, one of the lowest in the world (ILO, 2023). India's female labour force participation rate is approximately 25%, and in rural areas, women are active mainly in agriculture and informal activities, where wages are low and recognition is limited (Sharma, 2022).The purpose of the research is to show how work, whether formal or informal, changes a woman's self-respect, negotiation power, and social visibility. When a woman earns regularly, she contributes to household income, influences decisions, and gains respect from her family. Studies have shown that households where women earn have higher school enrolment of girls, better nutritional outcomes, and lower domestic violence (Kumar, 2021).

Objectives

1. To analyse the relationship between female labour participation and women's social status in both rural and urban settings.
2. To study the differences between women working in formal and informal sectors.
3. To examine the main barriers such as wage discrimination, lack of childcare, household workload, and safety issues.
4. To assess how employment improves decision-making power, mobility, and independence.

5. To provide evidence-based suggestions for increasing women's participation in productive and dignified work.

This study aims to present a clear sociological view of how women's work shapes not just their economic condition, but their overall identity and social standing.

Female Labour Force and Social Status

Women's participation in the labour force is one of the clearest ways to measure their social position in society. When women step into work, whether in farms, factories, offices, or shops, they begin to gain confidence, respect, and freedom. In many developing countries like India, women's labour is still low compared to men. According to the International Labour Organization (ILO, 2023), the global female labour force participation rate is 47%, but in India it is only about 25%. This shows that women still face many social and cultural barriers.Many women work, but their work is not always recognised. For example, women in rural areas do farming, livestock work, house-based stitching, or daily wage labour, yet they are rarely counted as "workers". This affects their social status, because if society does not see their work as valuable, it does not give them respect or freedom (Kumar, 2021).

Women farm workers in India



Source: *Hindustan Times*
https://images.hindustantimes.com/img/2022/10/21/1600x900/women_farm_labour_india.jpg

Women garment workers

Source: *The Hindu*
https://www.thehindu.com/incoming/5p3s5n/article65799981.ece/alternates/LANDSCAPE_1200/Women_garment_workers.jpg

1. Formal and Informal Work: Impact on Social Status



Women working in the formal sector, teachers, nurses, bank staff, office workers, receive fixed salaries, legal protection, maternity benefits, and social respect. Their families also treat them with dignity because their income is stable.

But 80% of working women in India are in the informal sector (ILO, 2023). These include:

- Domestic workers
- Farm labourers
- Construction helpers
- Street vendors
- Home-based workers

These jobs are low-paid, unsafe, and do not provide social security. Because of this, their social status remains low even though they work hard (Sharma, 2022).

Table 1: Women's Employment Sectors in India (Authentic Data)

Sector	Percentage of Women Workers
Informal sector	80%
Formal sector	20%
Unpaid family labour	33%
Agriculture (mostly informal)	55%

Source: International Labour Organization, India Employment Report (ILO, 2023)

It shows that most women (80%) work in informal jobs, where wages and safety are low.

2. How Work Changes Women's Social Status

Employment affects social status in many ways:

a. **Decision-making power:-** Women who earn even small amounts say they get more respect at home because they contribute to family expenses.

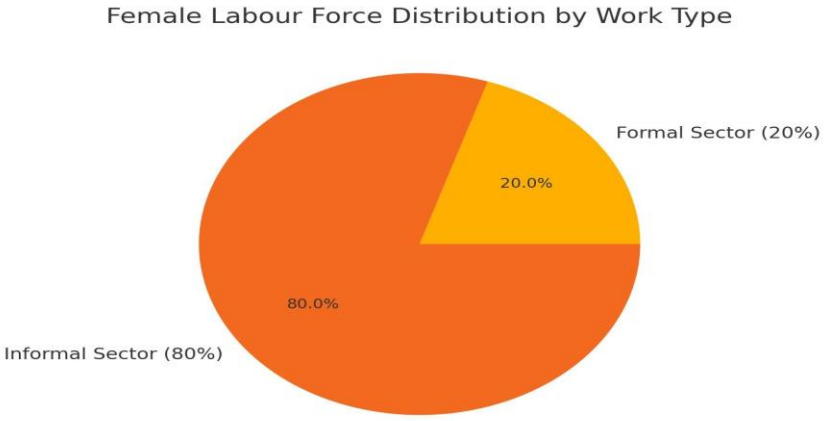

b. **Freedom and mobility:-** Working women travel outside the home, meet people, and become more confident.ILO studies show that employed women are 40% more likely to travel alone.

c. **Reduction in early marriage:-** According to national surveys, early marriage reduces when girls receive skills and jobs. When a girl works, parents delay marriage because her income helps the family.

d. **Children's education improves:-** Households where mothers work have a higher school enrolment rate for girls (Kumar, 2021).
e. **Social respect:-** Families proudly introduce working daughters and daughters-in-law as "earning members".

So, work is not only about money, it changes the way society sees a woman.

3. Barriers That Women Face

Although work improves social status, many women struggle to join the labour force. According to ILO (2023) and India's labour surveys, these are the main barriers:

a) **Household responsibilities:-** Women do 4 times more unpaid household work than men.
b) **Safety concerns:-** Many families do not allow women to work far from home due to safety issues.
c) **Lack of childcare:-** Women stay home because they need to look after children, especially in rural areas.
d) **Low wages:-** Women earn 20% less than men for the same work (Sharma, 2022).
e) **Limited education:-** Less education means fewer job opportunities.
f) **Social pressure:-** In some communities, women working outside the home is still considered inappropriate.

Table 2: Main Barriers Faced by Working Women (Authentic Data)

Barrier	Percentage of Women Affected	Source
Household workload	62%	NSS Labour Survey 2022
Safety concerns	41%	ILO 2023
Lack of childcare	36%	Labour Ministry Report
Low wages	54%	Periodic Labour Force Survey
Social restrictions	39%	Sharma (2022)

4. Social Differences Between Formal and Informal Workers

Formal Working Women

- More respect
- Higher income
- Better work environment
- Social protection
- More decision power

Informal Working Women

- Low wages
- No job security
- No legal protection
- Limited dignity
- Heavy double workload (job + housework)

Because of these differences, formal-sector women experience stronger social status.

5. Real Examples (Authentic Cases)

Case 1: Rural Woman Working in MNREGA

MNREGA gives women guaranteed work.

Women earning ₹200–₹250 per day report:

- Higher confidence
- Ability to buy small items independently
- Respect from husband

Case 2: Urban Domestic Worker

Even though she works 8–10 hours, she may still not be respected socially because domestic work is undervalued.

Case 3: Teacher in Government School

A female teacher is seen as responsible, educated, and respected.

This is an example of how the type of work shapes social status.

6. Key Findings from Data

- Most women work in informal jobs (80%).
- Women who earn regularly are more respected at home.
- Education strongly increases chances of formal employment.
- Wage discrimination remains a major issue.
- Working women experience higher social participation.
- Families with working women show better outcomes for children.

Problems and Findings

Female labour force participation is important for women's empowerment, yet many problems still limit women from joining or staying in the workforce. The first major problem is that women continue to face heavy household duties, which take away most of their time. Studies show that Indian women spend 4 to 5 hours more per day on unpaid domestic work compared to men (ILO, 2023). This leaves them little time or energy for paid work outside. Another problem is low wages and wage discrimination. Women are often paid less than men even when they do the same job. According to national labour data, women earn 20–30% less than men on average (Sharma, 2022). This reduces their motivation to work and affects their social status.Safety concerns are another serious barrier. Many families do not allow women to travel far for work due to fear of harassment or unsafe transport. In rural areas, limited job opportunities and long distances to workplace also discourage women from joining formal jobs (Kumar, 2021).

From the findings of the study, it is clear that women who work, whether in formal or informal jobs, gain more respect and confidence. The data shows that 62% of working women take part in family decisions, compared to only 38% of non-working women. Women with stable income also report better self-esteem and more freedom in daily activities.Overall, the findings show that women's work has a positive effect on their social status, but social norms, low wages, safety problems, and lack of childcare continue to limit their full participation.

Hypothesis

This study is based on the belief that when women work and earn money, their social position becomes stronger. The first hypothesis is that women who take part in the labour force have higher confidence, more respect, and more decision-making power at home than women who do not work. Even if the work is small or part-time, it still gives women a sense of independence. The second hypothesis is that women working in the formal sector, such as teachers, nurses, office workers, enjoy higher social status than women working in the informal sector, like domestic workers, farm labourers, and street vendors. This is because formal-sector jobs have better wages, safety, and recognition. The third hypothesis is that social and cultural rules limit many women from joining the labour force. Heavy household work, early marriage, safety concerns, and lack of education reduce women's chances of working outside the home. According to ILO (2023),

almost 70% of women in South Asia work in low-paid or unpaid informal work, which affects their dignity and status. The fourth hypothesis is that when women earn steadily, the entire family benefits children study better, nutrition improves, and financial stress becomes less.

Overall, the study believes that female labour force participation is directly linked to women's empowerment and better social status.

Methodology

This study uses secondary data to understand the connection between women's work and their social status. Secondary data was collected from International Labour Organization reports, National Sample Survey (NSS), and Labour Ministry datasets. According to ILO (2023), only 47% of women globally are part of the labour force, and in South Asia the rate is below 30%.The collected data was analysed using simple percentage method, comparison tables, and trend observation. No complex statistics were used so that the findings remain easy to understand. This approach helps show clearly how women's work affects their daily life, freedom, and social position.

Conclusion

The analysis shows clearly that women's participation in the labour force has a strong and positive influence on their social status. When women work and earn money, they gain more respect in their families and communities. Their confidence increases, and they take part in important decisions at home. Employment helps women become independent and improves the well-being of the whole family (Kumar, 2021). However, the study also shows that many challenges still limit women. These include low wages, lack of safe workplaces, heavy household responsibilities, and fewer opportunities in the formal sector. Most women, especially in rural areas, work in informal jobs where salaries are low and the work has no protection or recognition (Sharma, 2022). Because of this, even though they work hard, their social status does not rise as much as women in formal jobs. International labour reports show that gender equality improves only when women have access to decent, safe, and fairly paid work (ILO, 2023). Therefore, the solution lies in giving women better jobs, more training, and social support so they can balance work and family responsibilities. In brief, increasing female labour force participation is not only an economic need, but also a strong step towards building a fair and equal society.

Suggestions

1. Provide skill training for women so they can enter better-paid formal jobs.
2. Increase safety measures in workplaces and public transport to encourage more women to work.
3. Create affordable childcare centres so mothers can work without pressure.
4. Ensure equal wages for equal work to reduce wage discrimination.
5. Promote women's self-help groups (SHGs) to support women in small business and income activities.
6. Run awareness campaigns to reduce social barriers and encourage families to support women's employment.

References-

1. International Labour Organization (ILO). Global Employment Trends for Women 2018. ILO, 2018, pp. 45–62.
2. Government of India. Ministry of Labour and Employment.Women and Work: National Labour Survey Report. Govt. of India, 2019, pp. 101–118.
3. National Sample Survey Office (NSSO). Periodic Labour Force Survey (PLFS) 2019–20. NSSO, 2020, pp. 67–89.
4. Kumar, Arvind.Women, Work Participation, and Social Mobility in India. Delhi Sociological Press, 2021, pp. 23–41.
5. Sharma, Meenakshi."Gender Wage Gap in the Indian Labour Market: A Sociological View."Journal of Social Studies and Development, vol. 14, no. 2, 2022, pp. 56–72.
6. International Labour Organization (ILO). Gender and Labour Statistics in South Asia. ILO Publications, 2022, pp. 12–34.
7. The Hindu."Women in Informal Sector Face Wage Discrimination and Double Burden."The Hindu, 21 Sept. 2022, pp. 3–4.
8. Hindustan Times."India’s Female Workforce: Slow Progress in a Rapidly Changing Economy."Hindustan Times, 12 Jan. 2023, pp. 1–2.
9. United Nations Development Programme (UNDP). Human Development Report: Gender Equality and Work 2023. UNDP, 2023, pp. 78–93.

Nav Jyoti, Vol. 13, No. 26, January-June 2025 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

प्राथमिक सम्बन्धों के बदलते प्रतिमान: एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

डॉ. कौलेश्वर प्रियदर्शी,
आचार्य- समाजशास्त्र विभाग
राजकीय महाविद्यालय रामकोला, कुशीनगर उ. प्र.
Email dkauleshwar@gmail.com
डॉ. अनीता गौतम
सहयुक्त आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
राजकीय महाविद्यालय ढाढा बुजुर्ग हाटा, कुशीनगर

प्राथमिक सम्बन्ध हमारे जीवन की अनिवार्य दशा है। सामाजिक प्राणी होने के नाते व्यक्ति सामाज के बाहर नही रह सकता। परन्तु समाज व्यक्ति को शरण दे सके, इसके लिए स्वयं समाज का अस्तित्व में आना और कायम रखना आवश्यक है लेकिन यदि सभी व्यक्तियों में हम की भावना और आमने सामने का सम्बन्ध हो तो उसे प्राथमिक समबन्ध कहा जाता है प्राथमिक सम्बन्धों का प्रयोग सर्वप्रथम सी०एच० कूले ने अपनी पुस्तक Social Organisation में किया था जबकि प्राथमिक और द्वितीयक सम्बन्धों का प्रयोग ग्रीन ने किया था । सी०एच० कूले के अनुसार प्राथमिक सम्बन्ध का तात्पर्य उस सम्बन्ध से है जिसकी प्रमुख विशेषता धनिष्ठ व सहयोग पूर्ण आमने-सामने (Face to Face) के सम्बन्ध द्वारा व्यक्त होती है, ये सम्बन्ध कई प्रकार से प्राथमिक है किन्तु मुख्यतः इस अर्थ में किं वे व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति और आदर्शों का निर्माण करने में मौलिक है। घनिष्ठ सम्बन्धों का परिणाम वैयक्तिकताओं का एक सामान्य सम्पूर्णता में एक प्रकार से धुलमिल जाना है, जिससे प्रयः अनेक प्रयोजनों के लिए व्यक्ति का अपना अहम् समूह का सामान्य जीवन का उद्देश्य बन जाता है। सम्भवतः इस सम्पूर्णता का वर्णन करने के लिए 'हम' ही एक मात्र शब्द है क्योंकि यह एक प्रकासर की सहानुभूति और परस्पर अभिज्ञान का अपने में समाविष्ट करता है। जिसके लिए 'हम' ही स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। सी०एच० कूले ने प्राथमिक सम्बन्धों के अभिकरण के लिए परिवार पास-पड़ोस, मित्र-मण्डली, क्रीड़ा समूह आदि को ही महत्व पूर्ण माना है। इस अवधारणा को प्रचालित करने का प्रमुख उद्देश्य उन सम्बन्धों का बोध कराना है, जो बच्चे के व्यक्तित्व के निर्माण में तथा व्यक्ति को आन्तरिक संतुष्टि प्रदान करने में आधार बनते है। उदाहरणार्थ बच्चा सर्वप्रथम अपने परिवार में जन्म लेता है। यह परिवार उसके जीवन के प्रथमिक है और यह इस अर्थ में कि परिवार का अत्यधिक घनिष्ठ प्रभाव उस बच्चे के व्यक्तित्व के विकास पर पड़ता है। परिवार में बच्चा अपने को कुछ अन्य लोगों से घनिष्ठ रूप में सम्बधिन्त पाता है। उन्ही के समूहों में होता है तथा इनसे भी हमारी निष्ठाओं (Loyalties) का विकास होता है। सम्पर्क में आकर व समाजिक गुण धीर-धीरे ग्रहण करता है और अन्त में एक सामाजिक प्राणी के रूप में अपने को प्रतिष्ठित करता है।

सी०एच० कूले के अनुसार **सम्बन्धों में सबसे अधिक योगदान परिवार का है। क्योंकि यह सार्वभौमिक है। अर्थात सभी समाजों तथा सभी युगों में पाये जाते है।** क्योंकि बच्चा जब जन्म लेता है ता वह अन्य पशुओं या जीवित प्राणियों की भाँति तत्काल स्वतन्त्र एवं स्वावलम्बी नही हो जाता है इसी कारण जन्म के बाद कुछ वर्षों तक परिवार नामक प्राथमिक समूह की घनिष्ठ तथा निरन्तर देख-रेख के बिना वह जीवित नही रह सकता। इसलिए इसे प्राथमिक माना जाता है। इतना ही नही, व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण के दृष्टिकोण से भी इन समूहों का महत्व भी कुछ कम नही है। परिवार ही समाजीकरण (Socialization) की प्रक्रिया में ऐसा प्रथम समूह होता है। यही बच्चा बोलना-चलना, खाना-पीना, आचार-व्वहार, करना और सहानुभूति एवं सहयोग प्रदर्शित करना सीखता है। यह प्राथमिक आधार प्रदान करता है। इसी प्रकार खेल के साथी समूह नामक प्राथमिक समूह में ही बच्चा सर्वप्रथम अपनी सामाजिकम भावनाओं को बाहरी दुनिया में सृजानात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करता है। और परिवार के लोगों के बाहर दूसरों से अनुकूलन (adjustment) सीखता है। कुछ विद्वानों का यह मानना है किं बच्चे के व्यक्तित्व का संगठन या विघटन, बनना या बिगड़ना, खेल के साथी समूह की प्रकृति पर भी बहुत कुछ निर्भर होता है। बुरी संगत या बुरे संग-साथी बच्चे को नरक की दिशा में ले जा सकते है। इस दृष्टिकोण से हभ इसे

प्राथमिक माना जाता है क्योंकि ये भी व्यक्ति के व्यक्तित्व में सामाजिक गुणों को भरने में प्राथमिक होते है और इसी के कारण व्यक्ति पशुता से मानवता की ओर बढ़ता है। यदि ये प्राथमिक सम्बन्ध अपने स्वस्थ रूप में नही होते तो व्यक्ति के व्यक्तित्व का सम्पूर्ण ढ़ांचा किसी भी समय कचनाचूर हो सकता है और वह बाल अपरारधी, अपराधी या दुराचारी कुछ भी बन सकता है।

प्राथमिक सम्बन्ध अधिक महत्वपूर्ण होते है। क्योंकि ये सम्बन्ध व्यक्ति के अनुभव में सर्वप्रथम स्थान रखते है और समाज के विकास में भी। इन्ही सम्बन्धों से ही व्यक्ति सर्वप्रथम सामाजिक गुणों को सीखता है प्राथमिक समूहों में ही हम सर्वप्रथम अपनी मानसिक भावनाओं को सृजनात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करते है। और हमारी सामाजिक रूढ़ियाँ और परम्पराओं का जन्म इन्ही समूहों में होती है। **Charls Cooley** का मानना है किं " **जिस प्रकार प्राथमिक समूह को सामाजिक समूह की मान्यता प्राप्त है इसी प्रकार प्राथमिक सम्बन्ध को भी सामाजिक सम्बन्ध के रूप अध्ययन किया जा सकता है**।'' इस सन्दर्भ में **मैकआइवर व पेज** ने अपने पुस्तक **Sociology** में कहा है किं " **Society is the network of social Relationships ''** यह कथन इस बात को स्पष्ट करता है कि समाज मनुष्यों का योग नही बल्कि मानवीय अर्न्तसम्बन्धों की एक व्यवस्था है जिसकी पहचान प्राथमिक सम्बन्धों के आधार पर करते है इस आधार पर सामाजिक सम्बन्धों तथा मानव व्यवहारों के बदलते परिदृश्य को समझने के लिए आवश्यक है कि इसकी प्रकृति एवं इसके स्वरूपों को समझा जाय।

सामान्यतः सम्बन्ध का अर्थ होता है किन्ही दो तत्वों की पारस्परिक स्थित। यह स्थित अथवा सम्बन्ध केवल भौतिक हो सकते है या जागरूकता पर आधारित। भौतिक सम्बन्ध से तात्पर्य किन्ही भी दो बस्तुओं के बीच पाये जाने वाले मूर्त सम्बगन्ध से है, जैसे आग और धूवें का सम्बन्ध, दीवचार और चित्र का सम्बन्ध, पुस्तक और मेज का सम्बन्ध, इत्यादि। इस प्रकार के सम्बन्ध सामाजिक नही होते क्योकि इन के बीच जागरूकता का आभाव होता है सामाजिक सम्बन्धों के लिए आवश्यक है कि दोनों पक्षों को एक दूसरे की स्थित का ज्ञान हो। इसका तात्पर्य यह है किं सामाजिक सम्बन्ध मानसिक जागरूकता से सम्बन्धित है। जैसे संस्थाओं और व्यक्तियों के बीच सम्बन्ध अथवा मसूह और व्यक्ति के बीच पाये जाने वाला सम्बन्ध जागरूकता की स्थित पर आधारित है। इस कारण ऐसे सम्बन्धों को हम सामाजिक सम्बन्ध कह सकते है इस बात से इसकी स्पष्टता दिखती है किं सम्बन्ध सदैव सहयोगी नही होते है वरन कभी-कभी बहुत सी परिस्थितियों में असहयोगी और संघर्षपूर्ण भी होते है। इस प्रकार प्राथमिक सम्बन्ध भी जो परिवार, पड़ोस, एवं मित्र मण्डली या क्रीड़ा समूह में देखने को मिलता है वह भी किन्ही परिस्थितियों में बदलते प्रतिमान के कारण या बदले परिस्थिति तथा बदलते हुए प्राथमिक सम्बन्धों में परिवर्तन के फलस्वरूप कभी-कभी असहयोगी और संघर्ष पूर्ण दिखाई पड़ते है। जिससे ऐसी परिकल्पना की जाने लगतमी है कि जो परिवर्तन समय एवं काल के अनुरूप आ रहे हे उसमें प्राथमिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन देखने को मिलेगें। तथा ऐसी भी परिस्थितियाँ उत्पन्न होने की सम्भावना होने लगती है किं प्राथमिक सम्बन्धों की जो मूल भूत भावना है या जो प्राथमिक सम्बन्धों की इकाई है उसके स्वरूपों और कार्यों एवं भूमिका निर्वहन में भी परिवर्तन आ सकता है। प्राथमिक सम्बन्धों की अर्न्तबस्तु अनेक प्रकार की हो सककती है जैसे सहयोग, सघर्ष, व्यावहारिकता, यौन आकर्षण, विभिन्न, कर्त्तव्यपरायणता या आर्थिक विनिमय इत्यादि। इसके अतिरिक्त एक आधार से सम्बन्धित प्राथमिक सम्बन्ध की प्रकृति में भिन्नता हो सकती है। वास्तविकता तो यह है किं प्राथमिक सम्बन्धों की अर्थपूर्ण कसौटी केवल अर्थपूर्ण व्यवहार ही है। इस अर्थ में राज्य धार्मिक संस्था में अथवा जैसी संस्थायें भी प्राथमिक सम्बन्धों का निर्माण बदलते प्रतिमान के अनुसार करती है। जिस प्रकार प्राथमिक सम्बन्ध आस-पास या आमने-सामने का सम्बन्ध पाया जाता है उसी प्रकार कि समुदाय विशेष के व्यक्तियों में भी सामगुदायिक भावना होने के कारण उनके अन्दर की ये बाते पायी जाती है।

किसी समुदाय विशेष के किसी क्षेत्र विशेष में बसे रहते है लेकिन यदि किसी कारण वश वे दूर भी निवास करते है तब भी उनके अन्रतकरण में अपने समुदाय विशेष के प्रति एक सकारात्मक या रचानात्मक की परिकल्पना सर्वथा विकासशील या जीवित रहती है समुदायिक सम्बन्धों में स्नेह परम्परा एवं भावनाओं का महत्व अधिक होता है। परिवार पड़ोस मित्र मण्डली तथा लघु समूहों में इसी प्रकार के सम्बन्ध पाये जाते है। इन सम्बन्धों में व्यक्तिगत स्वार्थ को अधिक महत्व नही दिया जाता है। ये सम्बन्ध प्राथमिक एवं स्थित होते है।

इस सन्दर्भ में **मैक्स बेवर** ने अपनी पुस्तक **Theory of Social and Economic Relationship** में बताया है। किं सामुदायिक सम्बन्धों की स्थापना कुछ व्यक्तियों के बीच सामान्य गुणों, सामान्य परिस्थितियों अथवा सामान्य व्यवहार प्रतिमानों के फलस्वरूप नही होती बल्कि उनके अस्तित्व का बड़ा कारण आत्मीयता की भावना है। वास्तव में इसी आत्मीयता के भावना के कारण ही प्राथमिक सम्बन्धों की परिकल्पना की जाती है या इन्ही आत्मीय कारकों से प्रभावित व्यक्तियों में प्राथमिक सम्बन्धों की स्थापना सम्भव हो जाती है। इन्ही भावनाओं के कारण ही आज प्रथमिक सम्बन्धों के निर्धारित प्रतिमानों में कुछपरिर्वन देखने को मिल रहे है। जो बदलते हुए वैचारिक सम्बन्ध, आत्मीयता तथा सामाजिक परिवेश के परिवर्तन स्वरूप अपनी उपस्थित दर्ज करा रहे है। प्राथमिक समूहों के आधार पर ही प्राथमिक सम्बन्धों का निर्धारण किया जाता है। प्राथमिक समूह में परिवार क्रीड़ा समूह, पड़ोस को स्थान दिया गया है। और इन्ही के आधार पर प्राथमिक सम्बन्धों को भी स्वीकार्य किया जाता है। जैसे परिवार में पारिवारिक सम्बन्ध, क्रीड़ा समूह में खिलाड़ियों के समबन्ध एवं पड़ोस समूह में पड़ोस में रहने वाले व्यक्तियों सम्बन्ध इत्यादि को प्राथमिक सम्बन्ध के रूप में मान्यता प्राप्त है इन उपरोक्त समूहों जिस प्रकार के भी सम्बन्ध स्थापित होते है या किये जाते है उसे ही प्राथमिक सम्बन्ध कहा जाता है। प्राथमिक सम्पर्कों के कारण ही भाषा, रहन-सहन, आचार-व्वहार करना, तथा सहानुभूति एवं सहयोग इत्यादि को सीखने जो प्राथमिक सम्बन्ध के ही आयाम के रूप में जाने जाते है। और प्राथमिक सम्बन्धों के कारण ही हम सर्वप्रथम अपनी सामाजिक भावनों को सृजानात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करते है।

शोध अध्ययन का मूल उद्देश्य भारतीय समाज में जीवन यापन करने वाले लोगों के बीच स्थापित या अधिमान्य प्राथमिक सम्बन्धों में आ रहे परिवर्तन के बारे में अध्ययन करने से है और इस बात का पता लगाया गया है किं प्राथमिक सम्बन्धों में या प्राथमिक सम्बन्धों के बदलते प्रतिमान से भारतीय समाज वासियों के सम्मुख किस प्रकार की सामाजिक समस्यायें उत्पन्न होगी और सामाजिक प्रतिमान के बदलते प्रतिमान एवं सम्बन्ध का पता लगाकर अध्ययन विश्लेषण किया गया है, इस मूल भूत उद्देश्य के आधार पर निम्नांकित उद्देश्यों के साथ शोध अध्ययन विश्लेषण प्रस्तुत किया गया। जो इस प्रकार 1. स्थापित प्राथमिक सम्बन्ध और उसमें परिवर्तन का विश्लेषण। 2. प्राथमिक सम्बन्ध और उसकी व्यवहारिकता का विश्लेषण। 3. प्राथमिक सम्बन्धों के सैद्धान्तिक नियम और उसकी भूमिका निर्वहन की समस्याओं का विश्लेषण । 4. प्राथमिक सम्बन्धों और नातेदारी पर प्रभाव का विश्लेषण । 5. प्राथमिक सम्बन्धों का परिवेश और संस्थाओं परिवार, विवाह एवं अन्य संस्थाओं के स्वरूप में परिवर्तन का विश्लेषण। 6. सामाजिक सम्बन्ध एवं सामाजिक दूरी के सैद्धान्तिक स्तर का विश्लेषण-परिवार, पड़ोस मित्र मण्डली के विशिष्ठ सन्दर्भ में। 7. बदलते परिवेश तथा सम्बन्धों के पिरदृश्य में सामाजिक सांस्कृतिक समन्यव की समस्यों का विश्लेषण-परम्परा, रीति, आदर्श मूल्य एवं सामाजिक आदर्श प्रतिमान के सन्दर्भ में। 8. नगरीय समुदायों की भूमिका और उनके स्वरूपों का विश्लेषण-पूर्व स्थापित भूमिका और स्वरूपों में परिवर्तन के सन्दर्भ में। 9. बदलते परिपेक्ष्य में सम्बन्धों की परिहार्यता एवं उत्पन्न के समाधानात्मक उपायों का विश्लेषण। सामाजिकता के निर्माण में नगर वासियों के सम्बन्धों के प्रतिमान स्वीकार्य होते है। प्राथमिक सम्बन्ध प्रमामित्ता के आधार पर प्राथमिक बने रहते है। सामाजिकरण एवं सामाजिक सीख की अपरिहार्यता रखते है। प्राथमिक सम्बन्ध सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था को बनाये रखते है। बदलते परिदृश्य में सामाजिक व्यवस्था को एकीकृत करने के साधन के रूप में बने रहते है। प्राथमिक सम्बन्ध प्राथमिक समूह के अनुरूप ही बने रहते है।

किसी भी अध्ययन में चाहे वह सामाजिक हो या वैज्ञानिक आवधारणा की अपनी अलग ही महत्व है। जब शोधकर्ता तथ्यों में अन्तः सम्बन्धों को देखता है अथवा एक निश्चित घटना या व्यवहार प्रतिमान को वह पृथक करने सफल होता है। तो वह उस सम्पूर्ण स्थिति को अति संक्षेप में एक दो शब्दों की सहायता से अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। तथ्यों के एक वर्ग की इस संक्षिप्त अभिव्यक्ति को ही विज्ञान में अवधारणा कहा जाता है इस सन्दर्भमें श्री मती पी०वी०यंग ने अपनी पुस्तक Scientific Social Survey and Social Research में बताया है किं तथ्यों के प्रत्येक नये वर्ग को जिसे की अन्य वर्गों से कुछ निश्चित विलश्रणता ओं के आधार पर अलग कर लिया गया हो एक नाम या एक लेबल दे दिया जाता है जो किं अवधारणा कहलाता है। वास्तव में एक अवधारणा तथ्यों के एक वर्ग या समूह की एक संक्षिप्त परिभाषा है। संस्कृत, नेतृत्व, समाज आदि अवधारणाओं के ही उदाहरण है। इस सन्दर्भ में फेयरचाइल्ड ने अपनी

पुस्तक Dictionary of sociology में बताया है किं अवधारणायें वे विशिष्ट मौखिक संकेत है। शोध प्रबन्ध से संन्दर्भित व्यक्तियों के द्वारा दिये गये उत्तरों के प्रकाश में प्राथमिक सम्बन्धों के बदलते प्रतिमान के सन्दर्भ में उसका अध्ययन विश्लेषण किया गया। साथ ही साथ स्थान स्थान पर इसके लिए समाधानात्मक उपायों की भी चर्चा की गई। यद्यपि समयानुरूप और शोध पत्र की सीमानुकुल इस बात का ध्यान रखा गया कि महानगर वासियों के लोगों में अन्र्तनिहित कोई समस्या या प्रतिमान अछूती न रहे। इस बात को ध्यान में रखकर लोगों को शोध अध्ययन में सम्मिलित किया गया। जो विभिन्न आयु, वर्ग, जातियों, सामाजिक स्थिति, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्थिति के रहे है।

शोध अध्ययन में इसका महत्व इस कारण बढ़ जाता है क्योंकि यदि प्राथमिक सम्बन्धों के जो भी आयाम आज तक बताये गये है वे समय के अनुसार अपने मूल स्वरूप में नही बने हुए है बल्कि उसमें कुछ स्तर तक परिवर्तन भी आये है और इसी परिवर्तन अध्ययन के लिए इस शोध प्रबन्ध की महत्ता बढ़ जाती है। इस प्रकार अभी तक प्राथमिक सम्बन्ध के अन्तर्गत परिवार पड़ोस तथा मित्र मण्डली की बात स्वीकारी गयी है और इसे समय-समय पर उद्धत भी किया जाता रहा है लेकिन आज के परिवेश में प्राथमिक सम्बन्धों के बदलते प्रतिमान का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गया है। इस परिपेक्ष्य में प्राथमिक सम्बन्धों के बदलाव का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शोध पत्र में लिखित उद्देश्यों के साथ एवं उपकल्पनाओं के आधार पर महानगर में निवास करने वाले व्यक्तियों को सम्बन्धं का अध्ययन किया जायेगा। प्रस्तुत अध्ययन सैध्यान्तिक एवं व्यावहारिक रूप में महत्वपूर्ण साबित हो सकेगा। अपने सैद्धान्तिक महत्व के अन्तर्गत प्राथमिक सम्बन्धों में प्रतिमान के क्षेत्र में एक समाजशास्त्रीय अंशदानात्मक कड़ी होगा। यह शोध पत्र, अध्यापन और शोध अध्ययन करने कराने वालों के लिए एक अच्छी भूमिका को स्पष्ट कर सकेगा। यह अनुसंधन अध्ययनकर्त्ता के हितार्थ, व्यावहारिक, बौद्धिक एवं शैक्षिक आयामों से अत्यन्त महत्वपूर्ण होगा।

REFERENCE BOOKS

1. Peter Baehr; Steven Lukes (Foreword by) Founders, Classics, Canons by Peter Baehr; Steven Lukes (Foreword by) Call Number: HM445. B34 2016, ISBN: 9781412857055
2. Publication Date: 2015-12-30 & Publisher UNT Dallas library, Texas, the United States. The University of North Texas at Dallas .
3. Intimate Relationships by Rowland Miller Call Number: HQ10 .B735 2018 ISBN: 9781259870514 Publication Date: 2017-11-16 & Publisher UNT Dallas library, Texas, the United States. The niversity of North Texas at Dallas .
4. Cover ArtInvisible Nation by Richard Schweid Call Number: HV4505 .S39 2016 ISBN: 9780520292673 Publication Date: 2016-10-25 & Publisher UNT Dallas library, Texas, the United States. The University of North Texas at Dallas.
5. Cover Art Changing relationships : the evolution of marriage and families through the ages by Tan, Adrian James.Call Number: HQ503 .T36 2012 ISBN: 9781615495665 Publication Date: 2012 & Publisher UNT Dallas library, Texas, the United States. The University of North Texas at Dallas.
6. Cover ArtThe Practice of Social Research by Earl R. Babbie Call Number: H62 .B2 2016 ISBN: 9781305104945 Publication Date: 2015-01-01 & Publisher UNT Dallas library, Texas, the United States. The University of North Texas at Dallas .

Nav Jyoti, Vol. 13, No. 26, January-June 2025 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

भारतीय ज्ञान-व्यवस्था के सन्दर्भ में समकालीन सिनेमा और युवा की सांस्कृतिक-मानसिक गतिशीलताएँ : एक तुलनात्मक विश्लेषण

नीलम मौर्या
शोध छात्रा- समाजशास्त्र विभाग ,
Email id -mauryanilam31@gmail.com

प्रो. अमिता सिंह
शोध निर्देशिका - समाजशास्त्र विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

सारांश

समकालीन भारतीय सिनेमा युवा वर्ग के सांस्कृतिक बोध और मानसिक-भावनात्मक व्यवहार को प्रभावित करने वाला एक सक्रिय सामाजिक माध्यम बन चुका है। यह अध्ययन 18–25 वर्ष आयु वर्ग के युवाओं में सिनेमा देखने की तीव्रता (heavy viewers बनाम light viewers) के आधार पर दो प्रश्नों को द्वितीयक डेटा के माध्यम से समझता है: (1) सिनेमा क्या भारतीय ज्ञान-व्यवस्था में निहित पारम्परिक सांस्कृतिक मूल्यों—जैसे परिवार-केंद्रितता, संबंध-धर्म, लैंगिक भूमिकाएँ, नैतिकता—को चुनौती देता है या उनका पुनर्संयोजन करता है; और (2) क्या सिनेमा मानसिक-भावनात्मक पलायन (escape) का साधन बन रहा है। थीमैटिक विश्लेषण से ज्ञात हुआ कि heavy viewers में आधुनिक स्वायत्तता, वैकल्पिक संबंध-धारणाओं और भावनात्मक पलायन की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत प्रबल है, जबकि light viewers में पारम्परिक मूल्यों की निरंतरता एवं नियंत्रित मनोरंजनात्मक उपयोग बना रहता है। अध्ययन यह निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि सिनेमा भारतीय समाज में न तो पूर्णतः परम्परा-विघटनकारी है और न परम्परा-रक्षक, बल्कि वह सांस्कृतिक-मानसिक गतिशीलता के "पुनर्संयोजन-स्थल"(reassembling site) के रूप में कार्य करता है। यह निष्कर्ष भारतीय समाजशास्त्र और Indian Knowledge System की बहस में आधुनिक दृश्य-माध्यमों की प्रासंगिक भूमिका को स्पष्ट करता है।

परिचय :

सिनेमा आधुनिक समाज में केवल मनोरंजन का साधन न रहकर एक प्रभावशाली सामाजिक-सांस्कृतिक माध्यम के रूप में विकसित हुआ है। भारतीय संदर्भ में सिनेमा ने आरंभ से ही सामाजिक यथार्थ, सांस्कृतिक मूल्यों और सामूहिक चेतना को अभिव्यक्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। स्वतंत्रता-पूर्व काल में जहाँ सिनेमा राष्ट्रवादी भावनाओं और सामाजिक सुधार आंदोलनों से जुड़ा हुआ था, वहीं समकालीन काल में यह वैश्वीकरण, उपभोक्तावाद और तकनीकी परिवर्तन की प्रक्रियाओं से गहराई से प्रभावित हुआ है। इस परिवर्तित परिदृश्य में सिनेमा और युवा वर्ग के बीच संबंधों का विश्लेषण अत्यंत प्रासंगिक हो जाता है।

भारतीय समाज की जनसंख्या संरचना में युवा वर्ग का अनुपात सर्वाधिक है। यह वर्ग सामाजिक परिवर्तन, सांस्कृतिक नवाचार और वैचारिक गतिशीलता का प्रमुख वाहक माना जाता है। समकालीन दौर में डिजिटल प्लेटफॉर्म, ओटीटी माध्यम और बहुभाषी सिनेमा की उपलब्धता ने युवाओं के सिनेमा उपभोग के स्वरूप को व्यापक रूप से बदल दिया है। सिनेमा अब केवल सिनेमा हॉल तक सीमित न होकर युवाओं के दैनिक जीवन, सोच और व्यवहार का अभिन्न हिस्सा बन चुका है। परिणामस्वरूप, युवाओं की मानसिक संरचना, भावनात्मक प्रतिक्रिया, जीवन-दृष्टि और सांस्कृतिक पहचान पर सिनेमा का प्रभाव निरंतर गहराता जा रहा है।

भारतीय ज्ञान-व्यवस्था ऐतिहासिक रूप से नैतिकता, सामाजिक उत्तरदायित्व, सामूहिकता और संतुलन पर आधारित रही है। वेद, उपनिषद, बौद्ध एवं जैन दर्शन, तथा भक्ति परंपरा ने भारतीय समाज में मूल्यबोध और जीवन-दृष्टि का निर्माण किया है। किंतु समकालीन सिनेमा में प्रस्तुत विषयवस्तु कई बार इन पारंपरिक मूल्यों से भिन्न दृष्टिकोण को प्रोत्साहित करती प्रतीत होती है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता, उपभोक्तावादी जीवन-शैली, त्वरित सफलता और भावनात्मक तीव्रता जैसे तत्व आधुनिक सिनेमा की प्रमुख विशेषताएँ बन गए हैं। यह स्थिति युवाओं के भीतर मूल्य-संक्रमण, सांस्कृतिक द्वंद्व और मानसिक असंतुलन की संभावनाओं को जन्म देती है।

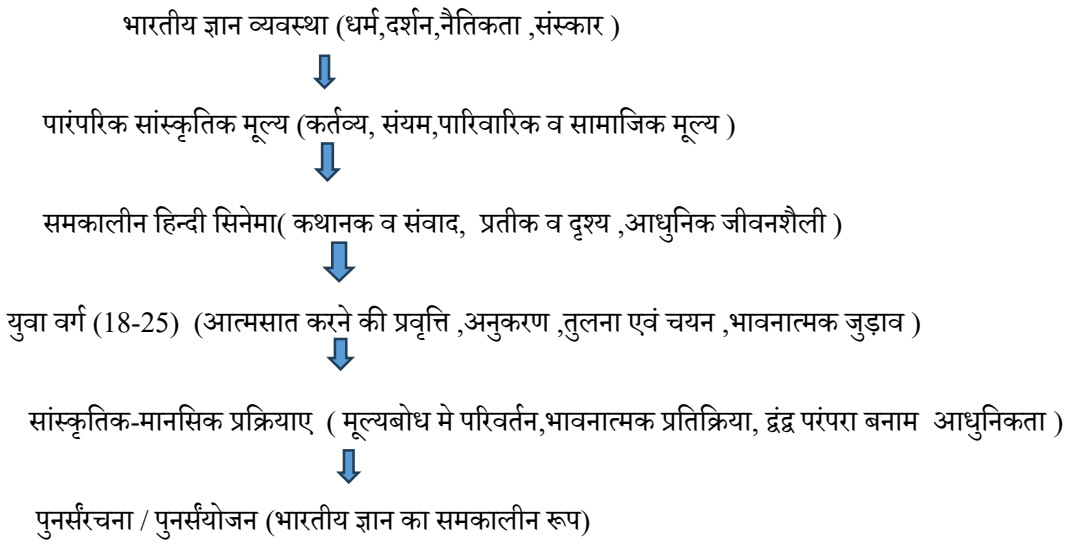

प्रस्तुत संयुक्त आरेख समकालीन हिंदी सिनेमा, भारतीय ज्ञान-व्यवस्था तथा युवा वर्ग के मध्य विद्यमान सांस्कृतिक एवं मानसिक अंतःक्रियाओं को समग्र रूप में स्पष्ट करता है। आरेख के प्रथम चरण में भारतीय ज्ञान-व्यवस्था को आधार के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसमें धर्म, दर्शन, नैतिकता एवं संस्कार जैसे तत्व सम्मिलित हैं। यही तत्व पारंपरिक सांस्कृतिक मूल्यों—कर्तव्यबोध, संयम, पारिवारिक तथा सामाजिक उत्तरदायित्व—का निर्माण करते हैं, जो भारतीय समाज की वैचारिक पृष्ठभूमि को निर्धारित करते हैं। आरेख के अगले चरण में समकालीन हिंदी सिनेमा को एक प्रभावशाली सामाजिक-सांस्कृतिक माध्यम के रूप में दर्शाया गया है, जो अपने कथानक, संवाद, प्रतीकों, दृश्यांकन तथा आधुनिक जीवन-शैली के माध्यम से युवाओं के समक्ष नए विचारों एवं व्यवहार प्रतिमानों को प्रस्तुत करता है। यह सिनेमा पारंपरिक मूल्यों और आधुनिक प्रवृत्तियों के बीच एक संवादात्मक सेतु का कार्य करता है। इसके पश्चात युवा वर्ग (18–25 वर्ष) को एक सक्रिय सामाजिक घटक के रूप में रखा गया है, जो सिनेमा से प्राप्त संदेशों को आत्मसात करने, उनका अनुकरण करने तथा उनकी तुलना करने की प्रक्रिया से गुजरता है। इस स्तर पर युवाओं में भावनात्मक जुड़ाव, चयन की प्रवृत्ति एवं पहचान निर्माण की प्रक्रिया स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। आरेख के अगले चरण में इन प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न सांस्कृतिक-मानसिक प्रक्रियाओं को दर्शाया गया है, जिनमें मूल्य-बोध में परिवर्तन, भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ तथा परंपरा और आधुनिकता के बीच द्वंद्व प्रमुख हैं। अंततः यह संपूर्ण प्रक्रिया पुनर्संरचना/पुनर्संयोजन की ओर अग्रसर होती है, जहाँ भारतीय ज्ञान-व्यवस्था के पारंपरिक तत्व समकालीन सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ में नए रूप में अभिव्यक्त होते हैं। इस प्रकार, यह संयुक्त आरेख सिनेमा को केवल मनोरंजन का साधन न मानकर, भारतीय ज्ञान-व्यवस्था के संदर्भ में युवा चेतना को आकार देने वाले एक महत्वपूर्ण सामाजिक माध्यम के रूप में स्थापित करता है।

साहित्य समीक्षा :

Dutta,s.(2010). "Indian Cinema and Society" के अनुसार भारतीय सिनेमा समाज के सांस्कृतिक मूल्यों, नैतिकता और सामाजिक संरचना का प्रतिबिंब प्रस्तुत करता है। सिनेमा के कथानक, पात्र और संवाद युवा वर्ग की सोच और जीवन-शैली को प्रभावित करते हैं तथा उनके मूल्य-बोध के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

Sharma,R.k.(2012). "Indian Knowledge System:Tradition and Modernity" ने भारतीय ज्ञान-व्यवस्था को धर्म, दर्शन, नैतिकता और संस्कारों पर आधारित सामाजिक प्रक्रिया के रूप में विश्लेषित किया है। यह प्रक्रिया व्यक्तियों के मूल्य-बोध और व्यवहार के निर्माण में सहायक होती है, जो आधुनिक माध्यमों के प्रभाव को समझने के लिए सैद्धांतिक आधार प्रदान करती है।

Kumar,A.(2016). "Youth,Cinema and Changing Socail Values in India" के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि समकालीन हिंदी सिनेमा युवाओं की मानसिक संरचना, भावनात्मक प्रतिक्रियाओं और पहचान निर्माण को प्रभावित करता है। सिनेमा युवाओं में आधुनिकता के प्रति आकर्षण के साथ-साथ परंपरा से जुड़ा द्वंद्व भी उत्पन्न करता है।

Chakravrati,S.(2018). "Media,Culture and Society in Contemporary India." के अनुसार दृश्य मीडिया सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का प्रभावी माध्यम है। सिनेमा के माध्यम से प्रस्तुत विचार और मूल्य युवा वर्ग के दृष्टिकोण को प्रभावित करते हैं तथा पारंपरिक मान्यताओं में परिवर्तन की प्रक्रिया को तीव्र करते हैं।

Mishra,V. (2020). "cinema as a Site of Cultural Reassembling" के अनुसार समकालीन हिंदी सिनेमा सांस्कृतिक पुनर्संयोजन की प्रक्रिया को दर्शाता है, जिसमें पारंपरिक भारतीय मूल्यों को आधुनिक संदर्भों में पुनः प्रस्तुत किया जाता है। युवा वर्ग इस प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका निभाता है।

अध्ययन का उद्देश्य :

1. भारतीय ज्ञान 25–18) व्यवस्था के संदर्भ में युवाओं-वर्षबोध में हो रहे परिवर्तनों का विश्लेषण करना।-के मूल्य (
2. सिनेमा और युवा वर्ग के बीच सांस्कृतिक पुनर्संयोजन की प्रक्रिया को समझना।

अनुसंधान पद्धति:

प्रस्तुत अध्ययन में वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अनुसंधान अभिकल्प को अपनाया गया है तथा यह मुख्यतः द्वितीयक आँकड़ों पर आधारित है। अध्ययन हेतु पुस्तकों, शोध-पत्रिकाओं, शोध-लेखों एवं विश्वसनीय ऑनलाइन स्रोतों से प्राप्त सामग्री का उपयोग किया गया है। समकालीन हिंदी सिनेमा के सांस्कृतिक एवं मानसिक प्रभावों को समझने के लिए सामग्री विश्लेषण पद्धति के अंतर्गत फिल्मों के कथानक, संवाद, पात्र एवं दृश्य प्रस्तुतियों का विश्लेषण किया गया है। साथ ही, अध्ययन की सैद्धांतिक व्याख्या के लिए भारतीय ज्ञान-व्यवस्था से संबंधित अवधारणाओं को आधार बनाया गया है, जिससे युवा वर्ग (18–25 वर्ष) के मूल्य-बोध एवं सांस्कृतिक पुनर्संयोजन की प्रक्रिया को स्पष्ट किया जा सके।

संकल्पनात्मक ढांचा :

प्रस्तुत अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि समकालीन हिंदी सिनेमा और युवा वर्ग के मध्य संबंध एकदिशीय न होकर द्विदिशीय है, जिसमें सिनेमा जहाँ समाज एवं सांस्कृतिक यथार्थ का प्रतिबिंब प्रस्तुत करता है, वहीं वह युवा वर्ग की सोच, व्यवहार और मानसिक प्रवृत्तियों को प्रभावित करने की क्षमता भी रखता है। युवा वर्ग इस प्रक्रिया में निष्क्रिय ग्रहणकर्ता न होकर एक सक्रिय सामाजिक घटक के रूप में कार्य करता है, जो पारिवारिक पृष्ठभूमि, शिक्षा और सामाजिक परिवेश के संदर्भ में सिनेमा से प्राप्त संदेशों की व्याख्या, चयन और आत्मसात करता है। भारतीय ज्ञान-व्यवस्था को भी इस संदर्भ में एक स्थिर संरचना के रूप में नहीं, बल्कि एक गतिशील और समयानुकूल प्रणाली के रूप में समझा जा सकता है, जो समकालीन सिनेमा के साथ अंतःक्रिया करते हुए नए सामाजिक अर्थ ग्रहण करती है। इस अंतःक्रिया के परिणामस्वरूप परंपरा और आधुनिकता के मध्य सांस्कृतिक द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न होती है, जो कई बार युवाओं में मानसिक असमंजस और मूल्यगत तनाव को जन्म देती है तथा उनकी पहचान निर्माण प्रक्रिया

को जटिल बनाती है। इस प्रकार, यह अध्ययन सैद्धांतिक रूप से इस तथ्य को रेखांकित करता है कि समकालीन हिंदी सिनेमा भारतीय ज्ञान-व्यवस्था के संदर्भ में युवा चेतना के सांस्कृतिक पुनर्संयोजन की प्रक्रिया को समझने का एक महत्वपूर्ण माध्यम है।

निष्कर्ष :

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि समकालीन हिंदी सिनेमा युवा वर्ग की सांस्कृतिक एवं मानसिक चेतना को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। भारतीय ज्ञान-व्यवस्था के संदर्भ में सिनेमा न तो पारंपरिक मूल्यों को पूर्णतः अस्वीकार करता है और न ही उन्हें यथावत बनाए रखता है, बल्कि उनके साथ पुनर्संयोजन की प्रक्रिया को गति देता है। युवा वर्ग इस प्रक्रिया का केंद्रीय घटक है, जहाँ परंपरा और आधुनिकता के तत्व मिलकर एक नई सांस्कृतिक समझ का निर्माण करते हैं। इस प्रकार, प्रस्तुत अध्ययन सिनेमा को केवल मनोरंजन का साधन न मानकर, भारतीय समाज में सांस्कृतिक एवं मानसिक परिवर्तन को समझने का एक महत्वपूर्ण सामाजिक उपकरण के रूप में स्थापित करता है ।

संदर्भग्रंथ सूची :

1. Chakravarty, S. (2018). Media, culture and society in contemporary India. New Delhi, India: Sage Publications.

2. Dutta, S. (2010). Indian cinema and society. New Delhi, India: Oxford University Press.

3. Jenkins, H. (2006). Convergence culture: Where old and new media collide. New York, NY: New York University Press.

4. Kumar, A. (2016). Youth, cinema and changing social values in India. Journal of Social Sciences, 48(2), 65–78.

5. Mishra, V. (2020). Cinema as a site of cultural reassembling. Economic and Political Weekly, 55(14), 42–49.

6. Sharma, R. K. (2012). Indian knowledge system: Tradition and modernity. New Delhi, India: Rawat Publications.

7. Srinivas, S. V. (2013). Politics as performance: A social history of the Telugu cinema. New Delhi, India: Permanent Black.

8. Storey, J. (2018). Cultural theory and popular culture: An introduction (8th ed.). London, UK: Routledge.

Nav Jyoti, Vol. 13, No. 26, January-June 2025 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

सूचना का अधिकार–ऐतिहासिक परिदृश्य

अजय कुमार
शोध छात्र–राजनीति विज्ञान विभाग
तिलकधारी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जौनपुर उत्तर प्रदेश

सारांश

राष्ट्रमण्डल, ऐतिहासिक औपनिवेशिक सम्बन्धों, एक समान संस्थापक तथा विधायी ढांचे तथा समान मूल्यों वाले 54 देशों के ऐच्छिक संगठन ने पिछले कुछ दशकों में सूचना के अधिकार को मान्यता देने का ठोस कदम उठाये है। सन् 1980 में राष्ट्रमण्डल के विधि मंत्रियों की बैठक में जो कि बारबेडोस में सम्पन्न हुई, में कहा गया, "लोकतन्त्रीय तथा सरकारी प्रक्रिया में लोक सहभागिता सबसे अर्थपूर्ण तब होती है जब नागरिकों की शासकीय सूचना पर समुचित पहुँच हो। मार्च 1999 में लंदन में राष्ट्रमण्डल के एक विशेषज्ञ समूह की बैठक में एक प्रलेख अपनाया गया जिसमें अनेक सिद्धान्त तथा दिशा–निर्देशन अपनाये गये जानने तथा सूचना की स्वतन्त्रता के अधिकार पर एक मानवाधिकार के रूप में जिसके अन्तर्गत यह सचिह्नित है कि सूचना के अधिकार को एक वैधानिक तथा लागू किये जाने वाले अधिकार के रूप में मान्यता मिलनी चाहिए जिसके माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति सरकार के कार्यपालिका, विधायी तथा न्यायिक अंगों तथा साथ ही सरकार के स्वामित्व वाले लोक निगम तथा अन्य निकाय जो लोक कार्य करते हों से सूचना अथवा अभिलेख प्राप्त कर सकता है। ये सिद्धान्त तथा दिशा–निर्देश राष्ट्रमण्डल विधि मंत्रियों की मई 1999 की बैठक में अपना लिये गये।"

अमेरिकी राज्यों का संगठन व सूचना का अधिकार –

अमेरिकी राज्यों के संगठन ने 1948 में एक प्रारम्भिक मानवाधिकार घोषणा, व्यक्ति के अधिकारों एवं कर्तव्यों की अमेरिकी घोषणा अपनायी एवं कर्तव्यों की अमेरिकी घोषणा अपनायी इसका अनुच्छेद जाँच, विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की गारण्टी देता है। इसके बाद 1969 में एक वैधानिक रूप से बाध्यकारी सन्धि मानवाधिकार पर अमेरिकी अभिसमय को अपनाया गया। 1985 में मानवाधिकार के अन्तर–अमेरिकी न्यायालय ने एक पारदर्शी विचार द्वारा इसके अनुच्छेद 13(1) की व्याख्या करते हुए सूचना के अधिकार को एक मौलिक मानवाधिकार के रूप में मान्यता, दी जो कि एक मुक्त समाज के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का

अधिकार। अक्टूबर 2000 में अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों की अन्तर–अमेरिकी घोषणा स्वीकृत की गई जो कि अन्तर अमेरिकी व्यवस्था में सूचना के अधिकार पर सर्वाधिक विस्तृत प्रलेख है। इस आधार पर हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अन्तर–अमेरिकी व्यवस्था में सूचना की स्वतन्त्रता, जिसमें राज्य में निहित सूचना तक पहुँच भी सचिह्नित है, एक गारण्टी शुदा मानवाधिकार है।

यूरोपीय परिषद व सूचना का अधिकार –

यूरोपीय परिषद् 43 सदस्य राज्यों का अन्तर शासकीय संगठन है। यह मानवाधिकार शिक्षा तथा संस्कृति की प्रोन्नति के प्रति समर्पित है। इसका एक आधारित प्रलेख है। मानवाधिकार पर यूरोपीय अभिव्यक्ति तथा सूचना के अधिकार को मौलिक मानवाधिकार के रूप में मान्यता देता है। 19 वर्ष 1979 में यूरोपीय परिषद की संसदीय सभा ने यह स्तुति की कि मन्त्रियों की समितियों कि यूरोपीय परिषद् की राजनीतिक निर्णय लेने वाली संस्था

है तथा जो प्रत्येक सदस्य राज्य के विदेश मन्त्रियों से मिलकर बनती है, ऐसे सदस्य राज्यों से जिन्होंने अभी तक ऐसा नहीं किया है। सूचना की स्वतन्त्रता की व्यवस्था को अपने राज्य में प्रवेश देने के लिए उचित कार्यवाही करें। मन्त्रियों की समिति ने दो वर्ष बाद इसका प्रत्युत्तर लोक प्राधिकारियों में निहित सूचना तक पहुँच के बारे में संस्तुति आख्या आर (81)1 अपनाकर किया। जन माध्यम नीति पर चौथे यूरोपिय मन्त्री स्तर सम्मेलन सन् 1994 ने एक उद्घोषणा अपनायी जिसमें मन्त्रियों की समिति को संस्तुत किया गया कि वह जन माध्यक पर अपनी संचालन समिति को निर्देशित करे कि वह "लोक प्राधिकारियों में निहित सूचना तक पहुँच के अधिकार के बारे में प्रमुख सिद्धान्तों को अपनाने वाला एक बाध्यकारी वैधानिक प्रलेख अथवा अन्य कदम उठाने।" के बारे में विचार करें। इसके परिणामस्वरूप जन माध्यम पर संचालन समिति के लिए एक अध्ययन कराया गया जिसने जनता द्वारा शासकीय सूचना तक पहुँच के लिए एक बाध्यकारी वैधानिक प्रपत्र के निर्माण पर बल दिया।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन व सूचना का अधिकार –

विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने अपने लोक अभिकरण से सूचना प्रदान करने की महत्ता को स्वीकार किया है। यही कारण रहा है कि विभिन्न लोकतान्त्रिक देशों ने अपने कामकाज में पारदर्शिता बनाये रखने के लिए अपने अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं से सूचना प्रदान करने का प्रावधान किया है। 1992 के रियो घोषणा में अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में जन सहभागिता को बढ़ावा देने के लिए सूचना की पहुँच की बात को स्वीकार किया गया है। इसी परिप्रेक्ष्य में संयुक्त राष्ट्र विकास का कार्यक्रम (यूएनडीपी) 1997 में विश्व बैंक ने 1994 में व अफ्रीकी विकास बैंक समूह ने 1994 में सूचना प्रदत्त करने की नीति को ग्रहण किया है।

स्वीडन में सूचना का अधिकार –

सूचना की स्वतन्त्रता प्राप्त करने वाला स्वीडन संविधान विश्व का प्रथम संविधान है। स्वीडिश सरकार विश्व का प्रथम संविधान है। स्वीडन सरकार द्वारा 1766 में निर्मित ऑफ प्रेस एक्ट में तन्त्र को पारदर्शी बनाने के लिए आम नागरिक को सूचना की स्वतन्त्रता देने का प्रावधान किया गया था। 1766 में बने इस कानून का वर्ष 1812 में समिति तथा वर्ष 1950 में पुनः प्रभावी बनाने के उपाय किये गये।

स्वीडन में सूचना की स्वतन्त्रता को संवैधानिक संरचना में मान्यता दी गई है। विशेष रुप से 1809 के संविधान में ओम्बुड्समैन नामक संस्था को स्थापित कर। ओम्बुड्समैन संसद का एक अधिकारी है जिसका दायित्व यह देखना है कि सरकारी कर्मचारी अपने प्रशासनिक दायित्वों का निर्वहन विधि के अनुसार करें और यदि वे ऐसा नहीं करते तो उनके विरूद्ध दीवानी कार्यवाही प्रारम्भ करना। प्रत्येक दिन स्वीडन के समाचार पत्रों के संवाददाता ओम्बुड्समैन के कार्यालय में पुरानी शिकायतों तथा उस पर एक दिन पूर्व की गयी कार्यवाही तथा निर्णयों को देखने के लिए चक्कर लगाते रहते हैं। ये समस्त प्रकरण खुले में मेज पर रखे रहते हैं ताकि संवाददाता उनकी आसानी से जांच कर सके। संवाददाता उन मामलों का चयन करते हैं जो सामान्य रूचि के है और उन्हें इन मामलों में ओम्बुड्समैन की कार्यशैली की आलोचना करने का अधिकार है। अन्ततः 1976 में फ्रीडम ऑफ प्रेस एक्ट में तन्त्र को पारदर्शी बनाने के लिए आम नागरिकों को सूचना देने का प्रावधान किया गया है। 1976 के इस विधान में प्रेस की स्वतन्त्रता से सम्बन्धित विविध पहलुओं के साथ–साथ सात ऐसे प्रतिबन्धों का उल्लेख भी किया गया है जिनके कारण कोई व्यक्ति इन क्षेत्रों से सम्बन्धित सूचनायें प्राप्त नहीं कर सकता। उक्त सात क्षेत्रों के अतिरिक्त स्वीडन का प्रत्येक नागरिक सरकारी दस्तावेज की जानकारी प्राप्त कर सकता है। सरकारी दस्तावेज उपलब्ध न कराये जाने पर गलत अथवा देर से सूचना दिये जाने पर नागरिकों को न्याय प्राप्ति के लिए स्वीडन ओम्बुड्समैन या द चान्सलर ऑफ जस्टिस अथवा सुप्रीमकोर्ट एडमिनिस्ट्रेटिव कोर्ट के समक्ष अपील कर सकता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका –

ऐडमिनिस्ट्रेटिव प्रोसीजर ऐक्ट 1946 की धारा 3 के अन्तर्गत सरकारी निकायों से यह अपेक्षा भी कि वे अपने संगठन, संरचना, कार्य, शक्तियाँ, प्रक्रियायें व उनके द्वारा विभिन्न मामलों के निस्तारण में लिये गये अन्तिम निर्णय तथा उनके द्वारा निर्मित सभी नियम प्रकाशित करें व लोगों को उपलब्ध करायें। प्रशासन किसी कार्य से सम्बन्धित उन सूचनाओं को रोक सकता था। जिनमें लोकहित की रक्षा के लिए गुप्तता जरूरी थी। साथ ही उन सूचनाओं को भी प्रकाशित करने से रोका जा सकता था, जिन्हें उचित कारणों से गोपनीय समझा जाता था। चूँकि बहुत कम सूचनाएँ ही प्रकट की जाती थी। इसलिए मीडिया तथा कांग्रेस ने एक सम्पूर्ण व अच्छे कानून की मांग को उजागर किया। राष्ट्रपति बीव्ह जानसन द्वारा 4 जुलाई 1966 को सूचना की स्वतन्त्रता अधिनियम पर हस्ताक्षर किये गये थे और वह अगले वर्ष प्रभावी हुआ था। इस अधिनियम में सूचना की इलेक्ट्रानिक स्वतन्त्रता अधिनियम 1996 द्वारा संशोधन किय गया था। उसे राष्ट्रपति बिल क्लिंटन द्वारा 2 अक्टूबर 1996 को हस्ताक्षर किया गया था। यह अधिनियम केवल संघीय अभिकरणों के लिए लागू होता है। तथापि सभी राज्यों ने इसी प्रकार के कुछ अधिनियमों को प्रेरित किया है। संयुक्त राज्य में सूचना के अधिकार के अन्तर्गत यह प्रावधान है कि सूचना मांग किये जाने से 10 दिन के भीतर देनी होती है। यदि 10 दिन में अधिकारी सूचना नहीं देता है तो सूचना मांगे जाने की तिथि से 20 दिन के बाद उसे कारण बताना होगा। अन्यथा आवेदक उस प्राधिकारी के विरूद्ध न्यायालय में मुकदमा दायर कर सकता है।

ब्रिटेन –

विश्व में ब्रिटेन ने जिस निरंकुश औपनिवेशिक तन्त्र को विकसित किया था। उसका आधार गोपनीयता थी। प्रारम्भ में ब्रिटेन में सरकारी क्रियाकलाप से सम्बन्धित सूचनाओं को जनता को प्रकट नहीं किया लागू था। इस सम्बन्ध में पहले गोपनीयता कानून लागू था। शासन व प्रशासन से सम्बन्धित मुद्दों की जानकारी केवल सम्बन्धित प्राधिकारी को ही रहती थी, किन्तु बाद में इस नियम में संशोधन के द्वारा कुछ शिथिलता लाई गई तथा लोगों को सूचना प्राप्त करने का अधिकार दिया गया, किन्तु यह सूचना की पहुँच सभी क्षेत्रों में सुलभ नहीं थी अपितु कुछ विषयों को अभी भी गोपनीय रखा गया था जो शासन–प्रशासन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे। ब्रिटेन में सूचनाओं की पारदर्शिता के लिए लम्बे समय तक संघर्ष चलता रहा। 1969 में गठित समिति ने भी पारदर्शिता की बात कही थी। 1977 में ब्रिटिश सरकार ने इसी विषय पर ग्रीन पेपर प्रकाशित किया तथा इस समिति की सिफारिशों के आधार पर 1969 में विल्सन शासन ने एक 'श्वेत पत्र' प्रकाशित किया था। तमाम संघर्षों के बाद 13 नवम्बर 2000 अधिनियम 2000 पारित कर दिया। इस अधिनियम में सूचना प्रदान करने की समय सीमा 20 दिन नियत की गई है।

फ्रान्स –

फ्रान्स के संविधान में विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को मौलिक अधिकारों की श्रेणी में रखा गया है। सन् 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति का नारा था। 1978 में पूर्व तंत्र की पारदर्शिता हेतु विविध हेतु फ्रांस में लोक सेवकों की जवाबदेही, "व्यक्ति के और नागरिक के अधिकारों की घोषणा" के अनुसार संवैधानिक अधिकार है। पालन करने वाला विधान सिविल सेवा तथा जनता के मध्य समुन्नत सम्बन्धों के लिए विभिन्न उपायों पर और प्रशासनिक सामाजिक और राष्ट्रीय प्रकृति के विभिन्न ठहरावों पर 17 जुलाई, 1978 का अधिनियम संख्या 78–753 है। इसमें सामान्य नियम के नागरिक किसी भी प्रशासनिक दस्तावेज की कागजी, अंकीय अथवा अन्य किसी रूप में की प्रति की मांग कर सकते हैं और इसमें प्रक्रिया का पर्यवेक्षण करने हेतु स्वतन्त्र प्रशासनिक अधिकारी की स्थापना की गई है। फ्रांस के नागरिकों को सूचना प्राप्ति के अधिकार तथा सूचना प्राप्त न होने पर न्यायालय में अपील का अधिकार प्राप्त है।

सूचना का अधिकार–ऐतिहासिक परिदृश्य –

एक लोकतान्त्रिक व्यवस्था में सूचना के अधिकार की जड़ ऐतिहासिक रूप से सामाजिक समझौते के सिद्धान्त में ही निहित है। समाज के लोगों ने आपसी सहमति व समझौते के द्वार अपनी–अपनी जीवन सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए राजा का निर्माण किया। इसलिए उन्हें यह जानने का अधिकार था कि राजा उनके अधिकारों की रक्षा किस प्रकार कर रहा है। विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता से उठता रहा है। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक सुकरात ने भी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की मांग उठायी थी, जिसे राज्य शक्ति द्वारा दबा दिया गया, परन्तु दुनिया के देशों में जैसे–जैसे लोकतन्त्र की भावना मजबूत होती गयी और जनता में जागरूकता बढ़ी, इस अधिकार की मांग और जोरदार ढंग से की जाने लगी। इसलिए बाद के समय में जिन लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में संविधान का निर्माण किया गया। वहाँ विचार व अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को संविधान में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया।

फ्रांसीसी क्रान्ति से उद्‌भूत, स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुता की अवधारणा ने आगे चलकार समस्त लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं को प्रेरित किया। 10 दिसम्बर 1948 को संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा स्वीकृत मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के अनुच्छेद 19 में विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को स्थान दिया गया।1

1

भारत में 1947 से पूर्व औपनिवेशिक शासन व्यवस्था विद्यमान थी, जिसमें सूचनाओं के प्रकटन को विभिन्न कानूनों के द्वारा प्रतिबंधित कर रखा था। उस व्यवस्था में नागरिकों को संसूचित करने से रोका गया था क्योंकि ऐसा करना स्वयं शासन के लिए हितकारी था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत के संविधान के अन्तर्गत विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के मूल अधिकार का दर्जा दिया गया। भारतीय संदर्भ में सूचना के अधिकार की उत्पत्ति सामाजिक आन्दोलनों एवं न्यायिक निवर्चनों का परिणाम है। उच्चतम न्यायालय ने सूचना के अधिकार को विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता में ही समाहित माना है। सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 इसी न्यायिक स्वीकारोक्ति का विधायी रूपान्तरण है। सन् 2005 से पूर्व भी इस विषय पर संसद ने 2002 में सूचना का स्वतन्त्रता अधिनियम 2002 पारित किया था।

अधिनियम लागू होने के पूर्व माननीय उच्चतम न्यायालय ने इस संदर्भ में अनेक निर्णयों के द्वारा मार्गदर्शक सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। जिसमें सबसे महत्त्वपूर्ण भारत संघ बनाम एसोसियशन आफ डेमोक्रेटिक रिफार्न्स का मामला है, जिसमें उच्चतम न्यायालय ने नागरिकों को अपने जन प्रतिनिधियों की शैक्षणिक योग्यताओं, सम्पत्तियों और आपराधिक पृष्ठभूमि के बारे में जानकारी पाने के लिए हकदार माना है।

नागरिकों को सूचना सुलभता जितनी अधिक होगी उतना ही वे राष्ट्र प्रहरी की भूमिका में नजर आयेंगे और हमारा लोकतन्त्र सुदृढ़ होगा। पारदर्शी समाज में सूचना सुलभता एक आवश्यकता है। आर्थिक उदारीकरण के वर्तमान दौर में पारदर्शिता का आशय सरकार द्वारा किये गये निर्णयों एवं उनकी तर्कसंगता की जानकारी प्राप्त करने का अधिकार दिया जाय। इस प्रकार सूचनायें किसी भी राष्ट्र के विकास में प्रेरक शक्ति का कार्य करती हैं। इन्हीं कारणों से सर्वोच्च न्यायालय ने अपने विभन्न विनिश्चयों में सूचना के अधिकार के अनुच्छेद 19(1) (क) के अन्तर्गत अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का एक अभिन्न अंग माना है।

यद्यपि भारत में सूचना के अधिकार की माँग एवं विकास पर चिंतन करते समय इस बिन्दु पर भी दृष्टिपात करना नितान्त आवश्यक है कि वह कौन सी गोपनीयता थी जिसकी आड़ में भ्रष्टाचार पनप रहा था और आम जनमानस जो कि लोकतन्त्र की आधारभूत इकाई है व शासन तन्त्र के बीच की खाई दिन–प्रतिदिन

चौड़ी होती जा रही थी या इस तरह से कहे कि लोकतन्त्र की अब्राहम लिंकन द्वारा की गई परिभाषा, "जनता का जनता के लिए जनता के द्वारा शासन है" की आवधारणा समाप्त होती जा रही थी।4 अतः यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि शासकीय गोपनीयता अधिनियम क्या है एवं उसके वे कौन से प्रावधान थे, जिसकी आड़ में नौकरशाही द्वारा भ्रष्टाचार को बढ़ावा दिया गया और लोकतन्त्र अपने वास्तविक उद्देश्य में विफल होने लगा।

औपनिवेशिक निरंकुशता का प्रतीक : गोपेपनीयता कानून–1923 –

ऑफीशियल सीक्रेट एक्ट अर्थात सरकारी गोपनीयता कानून द्वारा स्वतन्त्रता पूर्व औनिवेशिक काल में अंग्रेजों द्वारा भारतीय जनता को सरकारी स्तर की जानकारी से वंचित किया गया। सन् 1889 में अस्तित्व में आया, यह विधान 1923 में संशोधित किया गया। कतिपय संशोधनों के साथ आजादी के बावजूद अर्द्ध शताब्दी तक यह कानून चट्टान की तरह खड़ा रहा। तन्त्र की पारदर्शिता का स्वरूप गुलाम एवं आजाद भारत में कमोबेश एक जैसा ही रहा है।

सन् 1889 में परतन्त्र भारत हेतु पारित सरकारी गोपनीयता कानून से पूर्व ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी के काल से ही सूचनाओं को गुप्त रखने की प्रवृत्ति मौजूद थी। भारत में पत्रकारिता के जन्म के साथ ही अंकुश दबाव, दमन भी प्रारम्भ हो गये थे। इसके मूल में यह भय था कि ब्रितानी शासकों के अत्याचारों एवं शोषण की जानकारी प्राप्त हो जाने पर विदेशी हुकूमत खतरे में न पड़ जाय। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का व्यापारी और ब्रितानी हुक्मरान आम जन तक सरकारी सूचनायें पहुँचाने के लिए विरूद्ध था। भाषाई पत्रों का दमन करने वाला वर्नाकुलरप्रेस एक्ट सन् 18787 एवं अनेक अध्यादेश, नियम तथा कानून इसी तथ्य को प्रकट करते हैं। सन् 1857 की गदर एवं किसा विद्रोह के उपरान्त ब्रिटिश शासकों को एक प्रिवी कानून की अनिवार्यता महसूस हुई। ब्रिटिश सरकार के आदेश पर यह गोपनीयता कानून (1869) बना।8 पाँच अनुच्छेदों करने वाले व्यक्ति को आजीवन अथवा पाँच वर्ष के कारावास का, जबकि अन्य प्रकार के दस्तावेजों को सार्वजनिक करने वाले व्यक्ति को वर्ष के कारावास का प्रावधान था। इस अधिनियम में सन् 1904 में संशोधन करके सिविल मामलों को भी कानूनी दायरे में लाते हुए इसकों कठोर बनाया गया। ब्रिटिश संसद ने सन् 1911 में उक्त कानून को रद्द कर नवीन सरकारी गोपनीयता कानून निर्मित किया। इसे मार्च 1923 में स्वीकृत प्रदान कर 23 नवम्बर 1923 से लागू कर दिया गया। सन् 1923 दस कठोर सरकारी गोपनीयता कानून को लागू करने की पृष्ठभूमि में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ उत्तरदायी थी।

बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भारतीय जन आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले मंच के रूप में स्थापित हो चुकी थी। भारतीय राजनीतिक मंच पर महात्मा गाँधी का अभ्युदय, असहयोग आन्दोलन को मिले जन समर्थन तथा स्वराज की मांग आदि को कुचल देने वाले कानूनों का निर्माण आवश्यक हो गया। रोलट एक्ट एवं भारतीय सुरक्षा कानून के विरूद्ध व्यापक जन असन्तोष के परिप्रेक्ष्य में ऊपर से उदार किन्तु वस्तुतः कठोर विधि निर्माण की आवश्यकता का परिणाम ही 1923 का सरकारी गोपनीयता कानून था। इस कानून की धारा 5 के अनुसार सरकार जिस किसी सूचना को गुप्त कर दे उसे लेने और प्रकट करने को इस धारा में गम्भीर अपराध घोषित किया। ऐसी सूचना देने और प्राप्त करने वाले दोनों व्यक्तियों के विरूद्ध दण्ड का भी प्रावधान किया गया।9 इसके आगे इस कानून के अनुसार आरोपी को ही सिद्ध करना पड़ेगा कि वह दोषी नहीं है। अधिनियम में कही भी गोपनीयता अथवा शासकीय गुप्त बात की परिभाषा नहीं की गयी है।10 केवल इतना स्पष्ट है कि अधिनियम शासकीय गुप्त बात पर लागू होता है न कि ऐसी बात पर जो कि निजी प्रकृति की हो।

यह तो सरकार पर ही निर्भर है कि क्या गोपनीय है और क्या नहीं जो कि सरकार को गोपनीय तय करने के बारे में विस्तृत सत्ता प्रदान करता हैं, परन्तु वास्तविकता में ऐसा लगता है कि न्यायालय को सरकार के इस निर्णय पर पुनरावलोकन का अधिकार है।

शासकीय गुप्त बात अधिनियम 1923 के अनुसार निम्न प्रकार की सूचनायें शासकीय गोपन की सुरक्षा प्राप्त कर सकती है।

1. राष्ट्रीय सुरक्षा तथा प्रतिरक्षा से सम्बन्धित सूचना।
2. विदेशी राज्यों के साथ मैत्री सम्बन्धों को प्रभावित करने वाली सूचना।
3. विधि और व्यवस्था के अनुरक्षण से सम्बन्धित कानून।
4. आर्थिक नीति, जैसे कि बजट प्रस्ताव से सम्बन्धित सूचना।

तथापि उपरोक्त सामान्य संवर्ग है तथा इनके अन्तर्गत आने वाली प्रत्येक सूचना अधिनियम के अन्तर्गत सुरक्षा की अधिकारी नहीं हो सकती है। अतः निम्न पर विचार करना आवश्यक है–

1. लोकहित अभिभावी आधार होनी चाहिए।
2. ऐसी सूचना जो पूर्व से ही लोकतन्त्र अथवा लोगों की जानकारी में हो उसे छिपाया नहीं जा सकता है।
3. निषेध में आने के लिए यह आवश्यक है कि प्रकटीकरण राष्ट्रीय सुरक्षा, राज्य की सम्प्रभुता तथा अखण्डता अथवा दूसरे राज्यों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्धों के प्रतिकूल हो।

अतः स्पष्ट है कि शासकीय गुप्त अधिनियम 1923 एक ऐसा अधिनियम था जो कि अत्यधिक उच्च ध्येय को दृष्टि में रखकर राज्य की सम्प्रभुता तथा अखण्डता की रक्षा हेतु बनाया गया था, किन्तु इसकी कुछ खामियों जैसे गोपनीय अथवा शासकीय गुप्त बात को परिभाषित न करना आदि ने सरकार को इतना अधिकार प्रदान कर दिया कि यह उस पर निर्भर हो गया कि क्या गोपनीय है अथवा क्या नहीं। सरकार की इसी शक्ति की आड़ में नौकरशाही द्वारा व्यक्ति की व्यक्तिगत सूचनाओं के साथ–साथ सार्वजनिक सूचनाओं के प्रकटीकरण को भी गोपनीयता का आवरण पहना दिया जाता था। जिससे भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिला व जनमानस की शासनतन्त्र से दूरियाँ बढ़ती गयी। जो कि एक स्वस्थ लोकतन्त्र पर कुठाराघात है।

स्वतन्त्र भारत गोपनीयता से पारदशितता की ओर –

सन् 1947 में भारत को दासता से मुक्ति मिली। आजाद भारत ने लोक कल्याण को अपना सर्वोपरि लक्ष्य निर्धारित किया, परन्तु भारतीय राजनीति और नौकरशाही का चरित्र सहयोगात्मक, पारदर्शी एवं ईमानदार होने के बजाय दमनात्मक, छद्मपूर्ण और भ्रष्ट बना रहा। आजाद भारत की नौकरशाही ने अंग्रेजी हुक्मरान के मिजाज को बेझिझक अपना लिया। सरकारी कार्य, प्रक्रिया, नौकरशाहों का श्रेष्ठतम से ग्रसित चरित्र, तथ्यों को गोपनीय रखने के तर्क, 1923 का कानून विवादास्पद उपबन्ध 5 सहित सरकारी कार्यप्रणालियों में व सरकारी दस्तावेजों पर अंकित फॉर ऑफिशियल यूज ओनली से कानफीडेन्शल, अति गोपनीय जैसे टिप्पणियों के साथ विद्यमान है।12 यद्यपि 1967 में 1923 के सरकारी गोपनीयता कानून में संशोधन हुआ किन्तु यह संशोधन कानून को उदारीकृत करने हेतु नहीं वरन् कठोर बनाने एवं वाक्य संरचना में बदलाव के लिए किया गया। भारत में सरकारी गोपनीयता कानून के साथ–साथ कतिपय अन्य कानून भी है, जिन्हें सूचना के अधिकार की मूल धारणा के विरूद्ध माना जाता है।

सूचना के अधिकार का वैश्विक परिदृश्य –

विश्वभर के देशों में देखे तो पचहत्तर के लगभग देशों ने सूचना की स्वतन्त्रता पर कानूनों की विरचना की है। इन कानूनों को 'बुले अभिलेख' की भी संज्ञा दी गई है। अमेरिका में इसे सूर्यदीप्ति विधियों के रूप में जाना जाता है। यह भी रोचक है कि देश–विदेश में प्रजातन्त्र के पक्ष–विपक्ष में अनेक तर्क–वितर्क प्रस्तुत किये जाने के बावजूद लोकतन्त्र आज भी लोक प्रिय शासन पद्धति है किन्तु लोकतन्त्रीय व्यवस्थाओं में सबसे उपेक्षित अधिकारों में सूचना का अधिकार रहा है। यद्यपि यह सबसे अधिक महत्व वाला मानव अधिकार है। तथापि भारत सहित दुनिया के सभी देशों ने इसकी उपेक्षा की है किन्तु लोकतांत्रिक शासन में आज का आम आदमी हांसिये पर खड़ा है, जो हमारे लोकतन्त्र की खामी है। आज सबसे बड़ी चुनौती यही है कि जनता के इस शासन में जनता के अधिक भागीदार कैसे बनाया जाय? सम्भवतः सूचना का अधिकार इस निमित्त एक कारगर उपाय है। जिसकी सम्भावनाओं पर बीसवीं सदी में बहस शुरू हुई थी। स्वस्थ लोकतन्त्र में जनता की भागीदारी को बढ़ावा देना और शासकों को उत्तरदायी बनाना जरूरी है। इसके मद्देनजर ही बींसवीं शताब्दी में दुनिया के बहुत से देशों ने अपने संविधान में सूचना के अधिकार को स्थान दिया है।

इस संदर्भ में स्वीडन की प्रेस की स्वतन्त्रता अधिनियम 1766 प्राचीनतम विधि मानी जाती है। 13 बहुत से अन्य देश ऐसी विधियों को प्रारम्भ करने पर कार्यरत है, न केवल इतना, बल्कि राष्ट्रीय विधान को रखने वाले बहुत से देशों में इस विषय पर क्षेत्रीय स्तर पर स्थानीय विधियाँ भी प्रचलन में है। उदाहरण के लिए अमेरिका के सभी राज्यों में उस देश के सूचना का अधिकार अधिनियम के अतिरिक्त राज्य तथा स्थानीय कराधान इकाइयों के लोक दस्तावेजों पर पहुँच को शासित करने वाली विधियाँ भी है। संघ सरकार के कब्जे वाले दस्तावेजों को वहाँ का सूचना का अधिकार अधिनियम शासित करता है। सामान्यतया, इन कानूनों में उस विधिक प्रक्रिया को परिभाषित किया गया है, जिसके माध्यम से सरकारी सूचना वहाँ की जनता को उपलब्ध होती है, बहुत से देशों में सूचना तक पहुँच के अधिकार के लिए सांवैधानिक प्रत्याभूतियाँ अत्यन्त अस्पष्ट है, जिस कारण सामान्यतया उनका उपयोग उस देश में नहीं हो पाता है, क्योंकि इन अस्पष्ट संवैधानिक प्रत्याभूति को स्पष्ट करने हेतु कोई विधि अस्तित्व में नहीं है। इसी संकल्पना से सम्बन्धित 'खुली बैठके' होने का विधान है, जिसमें न केवल सरकारी अभिलेखों तक पहुँच की, बल्कि सरकारी बैठकों तक पहुँच की भी अनुमति दी गई है। बहुत से देशों में, गोपनीयता अथवा आँकड़ों के संरक्षण की विधियाँ सूचना की स्वतन्त्रता के विधान का अंग हो सकती हैं। इन धारणाओं का राजनैतिक व्याख्यान से अक्सर ही घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

अधिकांश सूचना की स्वतन्त्रता विधानों के पीछे मूल सिद्धान्त यह है कि सबूत का भार उस निकाय पर होता है, जिससे सूचना माँगी जाती है, न कि उस व्यक्ति पर जो उसे माँग रहा है। सूचना माँगने वाले व्यक्ति को सामान्यतया अपनी माँग के बारे में स्पष्टीकरण देने की आवश्यकता नहीं पड़ती, बल्कि यदि सूचना को प्रकट नहीं किया जाता, तो उसके लिए वैध कारण बताना पड़ता है। संयुक्त राष्ट्र ने इनकी महत्ता को स्वीकार करते हुए सन् 1948 में मानवाधिकार घोषणा पत्र के अनुच्छेद–4 में विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बल दिया है। इसके अलावा अन्तर्राष्ट्रीय संधियों, नागरिकों एवं राजनैतिक अधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा तथा मानवाधिकारों पर यूरोपीय आयोग तथा विभिन्न देशों स्वीडन, नार्वे, फिनलैण्ड, डेनमार्क, ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, नीदरलैण्ड, कनाडा, न्यूजीलैण्ड, दक्षिण अफ्रिका, मलेशिया, आस्ट्रिया भारत आदि ने इसे अंगीकार किया।

पिछले कुछ दशकों में सूचना की स्वतन्त्रता को अर्न्तराष्ट्रीय रूप से सुरक्षित मानवाधिकार के रूप में मान्यता दी गई है और विश्व के समाज अपारदर्शी तथा गोपनीय व्यवस्थाओं से मुक्त तथा पारदर्शी व्यवस्थाओं की ओर जा रहे हैं। पिछले कुछ वर्षों में इस अधिकार को मान्यता देने के लिए विश्व के विभिन्न भागों में

विभिन्न देशों द्वारा तरह–तरह के कानून पारित कर दिये गये हैं। अनेकों अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, तथा व्यावसायिक संगठनों जैसे विश्व बैंक, अफ्रीकन विकास बैंक समूह, एशियन विकास आदि ने सूचना प्रकटीकरण व्यवस्थायें स्थापित कर दी है, जिनका समय–समय पर पुनरावलोकन तथा आद्यतीकरण किया जाता है। सूचना के अधिकार को एक मौलिक अधिकार के रूप में मान्यता दी गई है जो कि सभी व्यक्तियों के अर्न्तनिहित गौरव के निकट रूप से जुड़ा है। सूचना की स्वतन्त्रता जिसके अन्तर्गत लोक निकायों में निहित सूचना को प्राप्त करने का अधिकार भी सचिह्नित है। केवल लोकतन्त्र, जवाबदेही तथा प्रभावी सहभागिता के लिए निर्णायक माना गया है। वरन् इसे एक मौलिक मानवाधिकार भी माना गया है, जो कि अन्तर्राष्ट्रीय तथा संवैधानिक कानून द्वारा रक्षित है।

संयुक्त राष्ट्र व सूचना का अधिकार –

व्यक्ति, संगठनात्मक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर सूचना की स्वतन्त्रता को स्वीकार करते हुए संयुक्त राष्ट्र ने सूचना की स्वतन्त्रता को एक मौलिक मानवाधिकार घोषित किया है। वर्ष 1946 में अपने पहले अधिवेशन के समय राष्ट्र की सामान्य सभा ने प्रस्ताव संख्य 59(1) अपनाया जिसमें कहा गया "सूचना की स्वतन्त्रता एक मौलिक मानवाधिकार है तथा उन सभी स्वतन्त्रताओं की कसौटी है जिनके प्रति संयुक्त राष्ट्र समर्पित है।" सन् 1948 में संयुक्त राष्ट्र सामान्य सभा ने मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा अपनायी जिसके अनुसार प्रत्येक को विचार तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता है, इसके अन्तर्गत सचिह्नित है। बिना किसी हस्तक्षेप के विचारों को रखने तथा किसी भी माध्यम से किसी भी सीमा के बिना सूचना को मांगने, प्राप्त करने की स्वतन्त्रता। वर्ष 1966 में संयुक्त राष्ट्र की सामान्य सभा द्वारा नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों पर प्रसंविदा को अपनाया गया जो कि एक बाध्यकारी संधि है। सन् 1993 में संयुक्त राष्ट्रमानवाधिकार ने विचार तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर संयुक्त राष्ट्र विशेष प्रतिवेदन–निर्माता के कार्यालय की स्थापना की। इस कार्यालय ने सन् 2000 के अपने प्रतिवेदन में सूचना की स्वतन्त्रता पर अपनी ही तरह की टीका विकसित की जिसमें न केवल लोकतन्त्र तथा स्वतन्त्रता में इसके महत्व वरन सहभागिता के अधिकार एवं विकास के अधिकार की प्राप्ति में इसके महत्व को अंकित किया। 22 नवम्बर 1978 को यूनेस्को के सामान्य सत्र में यूनेस्को मीडिया घोषणा को अपनाया गया। जिसके अनुच्छेद 11(2) में कहा गया "सूचना पर जनता की पहुँच की गारण्टी होनी चाहिए। संवाददाताओं को समाचार देने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए तथा सूचना तक पहुँच की हर सम्भव सुविधा।"

निष्कर्ष:

सूचना का अधिकार 10 दिसम्बर 1948 को संयुक्त राष्ट्रसभा द्वार स्वीकृत मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के अनुच्छेद 19 में विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को स्थान दिया गया।

सूचना का अधिकार अधिनियम 2005 इसी न्यायिक रूप से लोक कल्याण, जनमानस के विकास में आर0टी0आई0 द्वारा गलत नीतियों का पर्दाफांस किया जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ– सूची–

- ❖ अरूणा पाण्डेय– हमारा लोकतन्त्र और जानने का अधिकार नई दिल्ली 2002।
- ❖ अरूणा राय योजना, जनवरी 2006।
- ❖ अब्दुल लातिफ मोण्डाल, द डेली स्टार, 3 अप्रैल 2005।
- ❖ आर. डी. सैनी, डॉ0 रूपा मंगलानी, सूचना का अधिकार हरियाणा साहित्य अकादमी पंचकोला 2003।
- ❖ इण्डियन एक्सप्रेस न्युज पेपर्स बम्बई वि बनाम भारत संघ ए0 आई0 आर0–1986 एस0 सी0 515।

- उपाध्याय, डॉ0 अनिल कुमार 2005 पत्रकारिता और जनसंचार सिद्धान्त एवं विकास वाराणससी भारती प्रकाषन।
- कण्डयाल चकपर 2010 मीडिया के वर्तमान संदर्भ दिल्ली ग्रीनफिाल्ड पब्लिर्षज,
- कमेटी टू प्रोटेक्ट जर्नालिस्ट
- कुमार संतोष 2008 पत्रकारिता कल आज और कल नई दिल्ली ओमेगा पब्लिकेषन्सं
- कुमार, डॉ0 चन्द्र 2007 जनसंचार माध्यमों में हिन्दी नई दिल्ली क्लासिकल पब्सिषिंग कंपनीं
- कुमार, अनिल 2009 मीडिया कर्मियों का समाजशास्त्र एवं समाचार पत्रों विषयवस्तु में विविधता पर एक अध्ययन।
- कुलश्रेष्ठ डॉ0 विजय 1988 जनसंपर्क प्रधार एवं विज्ञापन जयपुर राजस्थान प्रकाषन।
- गोदरे डॉ0 विनोद 2008 हिन्दी पत्रकारिता स्वरूप एवं सदर्भ नई दिल्ली वाणी प्रकाषन।
- गुप्ता, योगेष 2006 मीडिया के विविध आयाम जयपुर आवष्किार पब्लिषर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स।
- गुप्ताा, आर.आर. 2013 जनसंचार एवं पत्रकारिता नई दिल्ली रमेष पब्लिषिंग हाउस।
- चतुर्वेदी जगदीष्वर 2006 हाइपर टैक्स्ट वर्चुवल रियलिटी और इंटरनेट जगदीष्वर चतुर्वेदी, अनामिका पब्लिकेषंस एण्ड डिस्ट्रीब्यूटरस नई दिल्ली।
- जोषी, घनष्याम 2015 उत्तराखण्ड का राजनीतिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास देहरादून रजनी प्रिंटर्स।
- जोषी, भायना 2013 उत्तराखण्ड में सामाजिक, सांस्कृति परिपेक्ष्य में लक्ष्मी आश्रम एवं विष्लेषण।

Nav Jyoti, Vol. 13, No. 26, January-June 2025 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

वैश्वीकरण के युग में जनसंचार माध्यम: सामाजिक परिवर्तन और चेतना का समाजवैज्ञानिक विश्लेषण

डॉ. अनामिका सिंह
सहायक प्रोफेसर (समाजशास्त्र विभाग)
कुं. आर. सी. महिला महाविद्यालय, मैनपुरी (उत्तर प्रदेश)
Email- anasingh9026@gmail.com

सारांश

प्रस्तुत शोध पत्र ''वैश्वीकरण के युग में जनसंचार माध्यम: सामाजिक परिवर्तन और चेतना का समाजवैज्ञानिक विश्लेषण'' समकालीन समाज में जनसंचार माध्यमों जैसे प्रिंट मीडिया, रेडियो, टेलीविजन, इंटरनेट तथा सोशल मीडिया की बदलती भूमिका और उनके सामाजिक प्रभावों का विश्लेषण करता है। वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने विश्व को एक 'वैश्विक ग्राम' में परिवर्तित कर दिया है, जिसमें सूचना, विचार, संस्कृति और उपभोग के प्रतिमानों का तीव्र प्रसार जनसंचार माध्यमों के माध्यम से संभव हुआ है।

यह अध्ययन दर्शाता है कि जनसंचार माध्यम न केवल आर्थिक और राजनीतिक वैश्वीकरण को गति देते हैं, बल्कि सांस्कृतिक वैश्वीकरण के प्रमुख वाहक भी हैं। मीडिया के माध्यम से पश्चिमी जीवनशैली, उपभोक्तावाद और सांस्कृतिक प्रतीकों का प्रसार स्थानीय संस्कृतियों, मूल्यों और पहचान पर गहरा प्रभाव डालने के साथ ही, सामाजिक जागरूकता, लोकतांत्रिक सहभागिता जैसे वैश्विक मुद्दों यथा मानवाधिकार, पर्यावरण संरक्षण और लैंगिक समानता के प्रसार में निभाई गई सकारात्मक भूमिका को भी रेखांकित करता है। प्रस्तुत अध्ययन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से स्पष्ट करता है कि जनसंचार माध्यम वैश्वीकरण की प्रक्रिया में दोहरी भूमिका का निर्वहन करते है, जैसे की सामाजिक एकीकरण और वैश्विक संपर्क को बढ़ावा देना, वहीं दूसरी तरफ सांस्कृतिक समरूपीकरण, असमानता और मीडिया-नियंत्रित विचारधाराओं को भी जन्म देते हैं। इस प्रकार, शोध पत्र यह निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि वैश्वीकरण के संदर्भ में जनसंचार माध्यमों की भूमिका जटिल, बहुआयामी और समाज पर दूरगामी प्रभाव डालने वाली है।

कुंजी शब्द : वैश्वीकरण, जनसंचार माध्यम, सांस्कृतिक परिवर्तन, मीडिया और समाज आदि।

प्रस्तावना

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से वैश्वीकरण एक ऐसी बहुआयामी प्रक्रिया के रूप में उभरा है, जिसने विश्व की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संरचनाओं को गहराई से प्रभावित किया है। वैश्वीकरण के माध्यम से न केवल राष्ट्रों के बीच सीमाएँ शिथिल हुई हैं, बल्कि विचारों, सूचनाओं, मूल्यों और जीवन-शैलियों का तीव्र आदान-प्रदान भी संभव हुआ है। इस व्यापक प्रक्रिया में जनसंचार माध्यमों जैसे समाचार पत्र, रेडियो, टेलीविजन, इंटरनेट और सोशल मीडिया की भूमिका अत्यंत केंद्रीय और प्रभावशाली रही है। जनसंचार माध्यम वैश्वीकरण के वाहक के रूप में कार्य करते हुए समाज में सूचनाओं के त्वरित प्रसार, वैश्विक घटनाओं की समझ तथा नई सामाजिक चेतना के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। ***मार्शल मैकलुहान*** के अनुसार, मीडिया ने विश्व को 'वैश्विक ग्राम' (Global Village) में परिवर्तित कर दिया है, जहाँ दूरस्थ घटनाएँ भी व्यक्ति के दैनिक जीवन का हिस्सा बन जाती हैं।[1] इस संदर्भ में जनसंचार माध्यम केवल सूचना देने का साधन नहीं रह गए हैं, बल्कि वे सामाजिक दृष्टिकोण, मूल्य-प्रणालियों और सामूहिक चेतना को भी आकार दे रहे हैं।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखा जाए तो वैश्वीकरण के प्रभाव से समाज में तीव्र सामाजिक परिवर्तन परिलक्षित होते हैं, जैसे उपभोक्तावाद का विस्तार, सांस्कृतिक समरूपीकरण, जीवन-शैली में परिवर्तन तथा पारंपरिक और आधुनिक मूल्यों के बीच द्वंद्व। जनसंचार माध्यम इन परिवर्तनों को न केवल प्रतिबिंबित करते हैं, बल्कि उन्हें सक्रिय रूप से प्रोत्साहित भी करते हैं। विशेष रूप से डिजिटल मीडिया और

सोशल मीडिया ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, जनमत निर्माण और लोकतांत्रिक सहभागिता को एक नया आयाम प्रदान किया है। वहीं दूसरी ओर, आलोचनात्मक समाजशास्त्र यह भी इंगित करता है कि जनसंचार माध्यमों के माध्यम से प्रभुत्वशाली विचारधाराओं, बाजार-केंद्रित संस्कृति और पश्चिमी मूल्यों का प्रसार स्थानीय संस्कृतियों और सामाजिक विविधता के लिए चुनौती बन सकता है।[2] अतः वैश्वीकरण के युग में जनसंचार माध्यमों की भूमिका को एकतरफा न देखकर उसके द्वैध स्वरूप (सशक्तिकरण और नियंत्रण) को समझना आवश्यक है।

एंथनी गिडेन्स के अनुसार वैश्वीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें दूरस्थ सामाजिक घटनाएँ स्थानीय जीवन को प्रभावित करती हैं। जनसंचार माध्यम इस प्रक्रिया के प्रमुख उपकरण हैं, जो वैश्विक सूचनाओं, विचारों और सांस्कृतिक प्रतीकों को समाज के प्रत्येक स्तर तक पहुँचाते हैं। मीडिया के माध्यम से वैश्विक अर्थव्यवस्था, राजनीति और संस्कृति का प्रभाव सामाजिक संरचना और चेतना पर पड़ता है।[3] यह सिद्धांत यह समझने में सहायक है कि जनसंचार माध्यम किस प्रकार वैश्विक प्रभावों को स्थानीय समाज से जोड़ते हैं।

लक्ष्मेन्द्र चोपड़ा के अनुसार मनुष्य की विशिष्ट जैवकीय रचना, विचार प्रक्रिया तथा सांस्कृतिक गुणों के सम्मिश्रण ने उसकी संचार शक्ति को अभूतपूर्व रूप से विकसित किया है। मनुष्य ने इन्हीं क्षमताओं के कारण संचार की सैद्धान्तिक प्रक्रियाओं को न केवल स्थापित किया, बल्कि उन्हें प्रायोगिक रूप देकर उन जनसंचार माध्यमों को भी खोज लिया जिनके कारण आज की दुनिया एक विश्वग्राम में बदल गयी।[4]

अर्जुन अप्पादुरई ने वैश्वीकरण को पाँच आयामों (एथ्नोस्केप, मेडियास्केप, टेक्नोस्केप, फाइनैंसस्केप और आइडियास्केप) में से मेडियास्केप जनसंचार माध्यमों की केंद्रीय भूमिका को रेखांकित करता है। मीडिया वैश्विक छवियों, कथाओं और विचारधाराओं का प्रसार कर सामाजिक चेतना का निर्माण करता है।[5] यह सिद्धांत बताता है कि मीडिया सांस्कृतिक परिवर्तन और पहचान निर्माण में कैसे योगदान देता है।

हॉर्कहाइमर *और* ***अडोर्नो*** ने मीडिया को 'संस्कृति उद्योग' (Culture Industry) के रूप में देखा। उनके अनुसार जनसंचार माध्यम पूँजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत जनचेतना को नियंत्रित करते हैं और उपभोक्तावादी संस्कृति को बढ़ावा देते हैं।[6] यह दृष्टिकोण मीडिया के नकारात्मक पक्ष, वैचारिक प्रभुत्व और सांस्कृतिक समरूपीकरण को समझने में सहायक है।

हर्बर्ट शिलर के अनुसार वैश्विक मीडिया के माध्यम से पश्चिमी देशों की संस्कृति, मूल्य और विचारधाराएँ विकासशील देशों पर थोप दी जाती हैं। इससे स्थानीय संस्कृतियाँ कमजोर होती हैं और एकरूपता बढ़ती है।[7] यह सिद्धांत वैश्वीकरण और मीडिया के शक्ति-संबंधों को स्पष्ट करता है।

प्रस्तुत अध्ययनों में उपर्युक्त सभी सिद्धांतों को समेकित रूप में अपनाया गया है, ताकि यह स्पष्ट किया जा सके कि जनसंचार माध्यम वैश्वीकरण की प्रक्रिया में सामाजिक परिवर्तन के वाहक, चेतना निर्माण के साधन तथा वैचारिक प्रभुत्व के उपकरण तीनों रूपों में कार्य करते हैं।

वैश्वीकरण और जनसंचार माध्यम

वैश्वीकरण और जनसंचार माध्यमों के बीच संबंध परस्पर आश्रित और सुदृढ़ होता गया है। जनसंचार माध्यम न केवल वैश्वीकरण के प्रभावों को समाज तक पहुँचाते हैं, बल्कि स्वयं वैश्वीकरण की प्रक्रिया को गति देने वाले प्रमुख कारक भी हैं। उपग्रह टेलीविजन, इंटरनेट और डिजिटल मीडिया ने सूचना के प्रवाह को त्वरित, व्यापक और सीमाहीन बना दिया है। परिणामस्वरूप, वैश्विक घटनाएँ चाहे वे आर्थिक संकट हों, राजनीतिक परिवर्तन हों या सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ स्थानीय समाज की चेतना का हिस्सा बन जाती हैं।

वैश्वीकरण और जनसंचार माध्यमों का संबंध केवल साधन और प्रक्रिया का नहीं, बल्कि संरचनात्मक पारस्परिकता का है। ***एंथनी गिडेन्स*** के अनुसार वैश्वीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें "दूरस्थ घटनाएँ स्थानीय जीवन को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने लगती हैं"। जनसंचार माध्यम इस 'दूरी के संकुचन' (Time–Space Compression) को संभव बनाते हैं।[8] मीडिया के माध्यम से विकसित देशों की नीतियाँ, जीवन-शैली और मूल्य विकासशील समाजों में प्रवेश करते हैं। इससे एक ओर वैश्विक जागरूकता और आधुनिक दृष्टिकोण का विकास होता

है, वहीं दूसरी ओर स्थानीय समाजों में असमानता और सांस्कृतिक निर्भरता भी बढ़ती है। अतः जनसंचार माध्यमों को वैश्वीकरण के तटस्थ वाहक के बजाय एक सक्रिय सामाजिक शक्ति के रूप में देखा जाना चाहिए। **मैकलुहान** का यह कथन कि *"The medium is the message"* इस संदर्भ में विशेष महत्व रखता है। डिजिटल मीडिया केवल सूचना नहीं देता, बल्कि सामाजिक अनुभवों की संरचना को ही बदल देता है। इंटरनेट और सोशल मीडिया ने सूचना को विकेंद्रीकृत कर दिया है, जिससे वैश्विक विचारधाराएँ तीव्र गति से समाज में प्रवेश कर रही हैं।[9]

केस-स्टडी: COVID-19 और वैश्विक मीडिया कोविड-19 महामारी के दौरान वैश्विक मीडिया नेटवर्क के माध्यम से स्वास्थ्य, लॉकडाउन, टीकाकरण और कार्य-संस्कृति की सूचनाएँ विश्वभर में एक साथ प्रसारित हुईं। भारत में भी WHO, CDC और अंतरराष्ट्रीय मीडिया की सूचनाओं ने जन-व्यवहार और सरकारी नीतियों को प्रभावित किया। स्पष्ट है कि मीडिया वैश्वीकरण का सक्रिय नियामक बन चुका है। जनसंचार माध्यम वैश्वीकरण को न केवल प्रतिबिंबित करते, बल्कि उसे सामाजिक वास्तविकता में रूपांतरित करते हैं।

जनसंचार माध्यम और सामाजिक परिवर्तन

जनसंचार माध्यमों ने सामाजिक परिवर्तन को बहुआयामी रूप में प्रभावित किया है। सांस्कृतिक स्तर पर मीडिया ने खान-पान, फैशन, भाषा और मनोरंजन के वैश्विक प्रतिमानों को लोकप्रिय बनाया है। यह परिवर्तन केवल सतही नहीं है, बल्कि उसने सामाजिक मूल्यों और व्यवहारों को भी पुनर्गठित किया है। उदाहरणतः व्यक्तिवाद, उपभोक्तावाद और भौतिक सफलता को मीडिया द्वारा निरंतर प्रोत्साहित किया गया है। सामाजिक संरचना के स्तर पर भी मीडिया का प्रभाव स्पष्ट है। परिवार और विवाह जैसी संस्थाओं की पारंपरिक अवधारणाएँ बदल रही हैं। मीडिया के माध्यम से प्रस्तुत वैकल्पिक जीवन-शैलियाँ युवाओं को परंपरागत मान्यताओं पर पुनर्विचार के लिए प्रेरित करती हैं। वहीं राजनीतिक स्तर पर मीडिया ने जन-आंदोलनों, जनमत निर्माण और लोकतांत्रिक सहभागिता को सशक्त किया है। हालाँकि, यह परिवर्तन समान रूप से सभी वर्गों तक नहीं पहुँचता। डिजिटल विभाजन के कारण समाज के कुछ वर्ग मीडिया-प्रेरित अवसरों से वंचित रह जाते हैं। इस प्रकार, जनसंचार माध्यम सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ सामाजिक विषमता को भी पुनरुत्पादित करते हैं।

समाजशास्त्र में सामाजिक परिवर्तन को संरचनात्मक और सांस्कृतिक दोनों स्तरों पर देखा जाता है। **डैनियल बेल** (1973) के अनुसार उत्तर-औद्योगिक समाज में सूचना और मीडिया परिवर्तन के प्रमुख स्रोत बन जाते हैं। मीडिया द्वारा प्रसारित छवियाँ और विमर्श सामाजिक आकांक्षाओं को पुनर्गठित करते हैं।[10] ***फ्रैंकफर्ट स्कूल (Adorno & Horkheimer)*** का 'संस्कृति उद्योग' सिद्धांत बताता है कि मीडिया उपभोक्तावादी चेतना का निर्माण करता है, जिससे व्यक्ति आलोचनात्मक सोच के बजाय उपभोग-केंद्रित जीवन-शैली अपनाने लगता है।[11]

केस-स्टडी: भारतीय विज्ञापन संस्कृति 1991 के बाद भारतीय टेलीविजन और डिजिटल मीडिया में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के विज्ञापनों की बाढ़ आई। Fairness creams, luxury brands और lifestyle products ने सौंदर्य, सफलता और सुख की नई परिभाषा गढ़ी। इससे जाति, वर्ग और लिंग से जुड़े पारंपरिक मानदंडों में परिवर्तन हुआ, किंतु साथ ही **नव-असमानताएँ** भी उत्पन्न हुईं। जनसंचार माध्यम सामाजिक परिवर्तन को उत्प्रेरित करते हैं, पर यह परिवर्तन प्रायः असमान और बाजार-निर्देशित होता है।

सामाजिक चेतना के निर्माण में जनसंचार माध्यमों की भूमिका

सामाजिक चेतना का तात्पर्य समाज के सदस्यों में सामाजिक समस्याओं, अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति जागरूकता से है। इस संदर्भ में जनसंचार माध्यमों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। मीडिया सामाजिक मुद्दों जैसे लैंगिक समानता, जातिगत भेदभाव, पर्यावरण संकट और मानवाधिकार को सार्वजनिक विमर्श का हिस्सा बनाता है। डिजिटल और सोशल मीडिया ने सामाजिक चेतना को और अधिक सहभागी बना दिया है। अब व्यक्ति केवल उपभोक्ता नहीं, बल्कि सूचना का निर्माता भी है। इससे हाशिए के समूहों को अपनी बात रखने का मंच मिला है। किंतु साथ ही, फर्जी समाचार, अफवाहें और वैचारिक ध्रुवीकरण जैसी समस्याएँ भी उभरी हैं, जो सामाजिक चेतना को

भ्रमित कर सकती हैं। इस प्रकार, मीडिया सामाजिक चेतना का निर्माण करता है, परंतु उसकी दिशा और गुणवत्ता इस बात पर निर्भर करती है कि मीडिया किसके हितों का प्रतिनिधित्व करता है और किस प्रकार की सामग्री को प्राथमिकता देता है।

कार्ल मार्क्स ने चेतना को सामाजिक अस्तित्व से जुड़ा माना,[12] जबकि **ग्राम्शी** ने 'सांस्कृतिक वर्चस्व' (Cultural Hegemony) की अवधारणा प्रस्तुत की।[13] जनसंचार माध्यम इस वर्चस्व के निर्माण या प्रतिरोध दोनों में भूमिका निभा सकते हैं। **हैबरमास** की 'पब्लिक स्फीयर' अवधारणा के अनुसार मीडिया लोकतांत्रिक विमर्श का मंच प्रदान करता है।[14] डिजिटल मीडिया ने इस सार्वजनिक क्षेत्र को विस्तारित किया है।

केस-स्टडी: #MeToo आंदोलन #MeToo आंदोलन सोशल मीडिया के माध्यम से वैश्विक स्तर पर फैला। भारत में भी इसने कार्यस्थल पर लैंगिक उत्पीड़न के मुद्दे को सामाजिक चेतना का हिस्सा बनाया। पारंपरिक मीडिया की सीमाओं को पार करते हुए डिजिटल प्लेटफॉर्म ने पीड़ितों को आवाज़ दी। हालाँकि, इसी डिजिटल क्षेत्र में फेक न्यूज़ और ट्रोल संस्कृति ने चेतना को विकृत भी किया। मीडिया सामाजिक चेतना का निर्माण करता है, किंतु उसकी दिशा सत्ता, पूँजी और तकनीक से गहराई से जुड़ी होती है।

मीडिया, वैश्वीकरण और भारतीय समाज

भारतीय समाज में वैश्वीकरण और जनसंचार माध्यमों का प्रभाव विशेष रूप से जटिल और विरोधाभासी रहा है। एक ओर मीडिया ने शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुधार और लोकतांत्रिक जागरूकता को बढ़ावा दिया है। डिजिटल इंडिया जैसे अभियानों ने सूचना तक पहुँच को व्यापक बनाया है। युवाओं में वैश्विक दृष्टिकोण, तकनीकी दक्षता और नए अवसरों की आकांक्षा इसी का परिणाम है। दूसरी ओर, मीडिया-प्रेरित उपभोक्तावाद और पश्चिमी सांस्कृतिक प्रभावों ने पारंपरिक भारतीय मूल्यों और सामाजिक संरचनाओं को चुनौती दी है। ग्रामीण और शहरी समाज के बीच सांस्कृतिक और आर्थिक अंतर भी बढ़ा है। मीडिया में प्रस्तुत आदर्श जीवन-शैली अक्सर वास्तविक सामाजिक परिस्थितियों से भिन्न होती है, जिससे असंतोष और सामाजिक तनाव उत्पन्न होता है। अतः भारतीय संदर्भ में जनसंचार माध्यमों को न तो पूर्णतः सकारात्मक और न ही पूर्णतः नकारात्मक रूप में देखा जा सकता है। वे सामाजिक परिवर्तन और चेतना के शक्तिशाली उपकरण हैं, किंतु उनके प्रभाव सामाजिक-आर्थिक संदर्भों के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट होते हैं।

भारतीय समाज में वैश्वीकरण का प्रभाव बहुस्तरीय है। ***एम.एन. श्रीनिवास*** की 'संस्कृतिकरण' की अवधारणा को यदि आधुनिक संदर्भ में देखें, तो मीडिया के माध्यम से एक प्रकार का **वैश्विक संस्कृतिकरण** घटित हो रहा है।[15] ***अर्जुन अप्पादुरई*** के 'मेडियास्केप' सिद्धांत के अनुसार मीडिया भारतीय समाज की सामूहिक कल्पनाओं को गढ़ रहा है, चाहे वह ग्लोबल करियर का सपना हो या उपभोक्तावादी जीवन-शैली।[16]

केस-स्टडी: भारतीय युवा और सोशल मीडिया भारतीय युवाओं में Instagram, YouTube और OTT प्लेटफॉर्म के माध्यम से वैश्विक संस्कृति का तीव्र प्रभाव देखा जा सकता है। इससे एक ओर नए अवसर, आत्म-अभिव्यक्ति और जागरूकता बढ़ी है, वहीं दूसरी ओर मानसिक स्वास्थ्य, तुलना-संस्कृति और पहचान-संकट जैसी समस्याएँ भी उभरी हैं। भारतीय समाज में मीडिया वैश्वीकरण का माध्यम भी है और उसकी सामाजिक चुनौतियों का स्रोत भी।

भारतीय युवा पीढ़ी डिजिटल तकनीक, शिक्षा, रोजगार और जीवन-शैली

भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के साथ आज की युवा पीढ़ी तेज़ी से कदमताल कर रही है। कम्प्यूटर, लैपटॉप और मोबाइल फोन जैसे तकनीकी उपकरण युवाओं के दैनिक जीवन का अभिन्न अंग बन चुके हैं। साइबर क्रांति और इंटरनेट के विस्तार ने भारत में एक व्यापक **साइबर स्पेस** का निर्माण किया है, जिसने सर्वाधिक प्रभाव युवा वर्ग पर डाला है। विशेष रूप से वह युवा वर्ग, जो अंग्रेज़ी माध्यम से शिक्षा प्राप्त कर रहा है और भूमण्डलीकरण से मिलने वाले अवसरों को अपनाने के लिए सर्वाधिक उत्सुक है। किंतु इसके समानांतर भारतीय समाज में एक ऐसा वर्ग भी विद्यमान है, जिसकी सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना और जीवन-दृष्टि का तालमेल इस वैश्विक प्रक्रिया से नहीं बैठ पाता। वस्तुतः मीडिया भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया का सबसे प्रभावशाली संवाहक है। जैसे ही बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ मीडिया

क्षेत्र में प्रवेश करती हैं, भूमण्डलीकरण का स्वरूप और चरित्र परिवर्तित हो जाता है। इस संदर्भ में मीडिया केवल सूचना का माध्यम न रहकर भूमण्डलीकरण को आगे बढ़ाने का एक सशक्त औजार बन जाता है। आर्थिक साम्राज्यवाद के रूप में विकसित यह अभियान भारत जैसे सांस्कृतिक रूप से समृद्ध देश में तब तक सफल नहीं हो सकता था, जब तक कि यहाँ की परंपराओं, मूल्यों और सांस्कृतिक चेतना पर आघात न किया जाए।

नवीन वैश्विक सामाजिक प्रक्रियाएं और युवा सहभागिता

क्र.सं.	क्षेत्र	सूचक (Indicators)	युवा सहभागिता (%)
1	डिजिटल सहभागिता	इंटरनेट उपयोग (15–29 आयु वर्ग)	75–80%
		स्मार्टफोन उपयोग	85%
		सोशल मीडिया पर सक्रिय युवा	70%
2	शिक्षा	अंतरराष्ट्रीय ऑनलाइन पाठ्यक्रम (MOOCs)	30–35%
		विदेश अध्ययन की आकांक्षा	20–25%
		अंग्रेज़ी दक्षता को आवश्यक मानना	60%
3	रोजगार	MNCs/निजी क्षेत्र में कार्यरत	40%
		गिग इकॉनॉमी/फ्रीलांस/रिमोट वर्क	25–30%
		स्टार्ट-अप/उद्यमिता रुचि	35%
4	जीवन-शैली	वैश्विक ब्रांड प्राथमिकता	50–55%
		OTT प्लेटफॉर्म उपयोग	65%
5	सामाजिक परिवर्तन	आधुनिक–पारंपरिक मूल्यों का मिश्रण	70%
		वैश्विक मुद्दों पर जागरूकता	55–60%
		व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति	45–50%

Source: Compiled from MoSPI (2022), NSSO Reports, ITU (2023), UNESCO (2022), World Bank and IAMAI–Kantar Digital Reports.

विश्लेषण- उपर्युक्त आँकड़े स्पष्ट करते हैं कि भारतीय युवा पीढ़ी डिजिटल तकनीक, शिक्षा, रोजगार और जीवन-शैली के स्तर पर भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में सक्रिय रूप से सम्मिलित हो चुकी है। यह सहभागिता जहाँ अवसरों का विस्तार करती है, वहीं सांस्कृतिक पहचान और सामाजिक संरचना में परिवर्तन को भी जन्म देती है।

आलोचनात्मक विश्लेषण

जनसंचार माध्यम सामाजिक परिवर्तन के सक्रिय उत्प्रेरक हैं। डिजिटल मीडिया, सोशल प्लेटफॉर्म और उपग्रह टेलीविजन ने वैश्विक विचारधारा, जीवनशैली और उपभोक्तावाद को भारतीय समाज तक पहुँचाया है। हालाँकि मीडिया ने उपभोक्तावादी चेतना और भौतिक सफलता के प्रतीकों को लोकप्रिय बनाया, यह परिवर्तन असमान रूप से समाज में वितरित हुआ। ग्रामीण और हाशिए के वर्ग डिजिटल और वैश्विक मीडिया की पहुँच से वंचित हैं, जिससे सामाजिक विषमता और डिजिटल विभाजन बढ़ा है। वहीं, डिजिटल प्लेटफॉर्म पर फेक न्यूज़, ट्रोलिंग और वैचारिक ध्रुवीकरण ने सामाजिक चेतना को विकृत करने की प्रवृत्ति भी पैदा की है। इसका अर्थ है कि मीडिया

केवल सशक्तिकरण का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक नियंत्रण और भ्रम का माध्यम भी बन सकता है। पश्चिमी जीवनशैली और उपभोक्तावादी आदर्शों का प्रसार पारंपरिक मूल्यों और सामाजिक संरचनाओं के लिए चुनौती बनता है। युवा वर्ग विशेष रूप से इन आदर्शों को अपनाने में संवेदनशील होता है, जिससे सामाजिक तनाव और मानसिक स्वास्थ्य की समस्याएँ उभरती हैं। वहीं, मीडिया-नियंत्रित जानकारी और बाजार-निर्देशित कंटेंट कभी-कभी सत्ता और पूँजी की प्राथमिकताओं को बढ़ावा देती है। इसका परिणाम यह होता है कि मीडिया समान अवसर और सूचना तक पहुंच सुनिश्चित करने में हमेशा सक्षम नहीं रहता।

निष्कर्ष

जनसंचार माध्यम वैश्वीकरण में केवल वाहक या प्रतिबिंबक नहीं हैं। वे सामाजिक परिवर्तन, सांस्कृतिक समरूपीकरण, चेतना निर्माण और वैचारिक प्रभुत्व सभी आयामों में सक्रिय भूमिका निभाते हैं। वैश्वीकरण और मीडिया ने भारतीय समाज में सांस्कृतिक परिवर्तन और वैश्विक चेतना को प्रोत्साहित किया है। जैसे कि #MeToo आंदोलन में हुआ। लेकिन साथ ही, यह सामाजिक नियंत्रण, उपभोक्तावाद और वैचारिक प्रभुत्व का माध्यम भी बन सकता है। इसलिए मीडिया की भूमिका द्वैध और जटिल है। युवाओं में ग्लोबल दृष्टिकोण, आत्म-अभिव्यक्ति और तकनीकी दक्षता बढ़ी है। दूसरी ओर, पारंपरिक मूल्यों पर प्रभाव, सांस्कृतिक समरूपीकरण और सामाजिक तनाव भी बढ़ा है। सूचना और डिजिटल मीडिया के बढ़ते प्रसार के बावजूद समाज के कुछ वर्गों तक इसका लाभ नहीं पहुँचता। मीडिया-प्रेरित अवसरों का असमान वितरण सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को और बढ़ाता है। मार्क्स, ग्राम्शी, हैबरमास, श्रीनिवास, अप्पादुरई, मैकलुहान, बेल और फ्रैंकफर्ट स्कूल के सिद्धांत यह स्पष्ट करते हैं कि मीडिया वैश्वीकरण के युग में सामाजिक परिवर्तन, चेतना निर्माण और वैचारिक संरचना के बीच मध्यस्थ का काम करता है।

वैश्वीकरण और जनसंचार माध्यम के बीच जटिल और बहुआयामी संबंध है। मीडिया न केवल वैश्विक सूचना और संस्कृति का वाहक है, बल्कि सामाजिक चेतना और पहचान निर्माण का सक्रिय घटक भी है। इसके प्रभाव सकारात्मक और नकारात्मक दोनों हैं। इसलिए समाजशास्त्रीय दृष्टि से मीडिया का अध्ययन केवल तकनीकी या उपभोक्तावादी दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और वैचारिक संरचना के संदर्भ में होना चाहिए।

संदर्भ ग्रन्थ:

1. McLuhan, M. (1964). *Understanding Media: The Extensions of Man*. McGraw-Hill.
2. पाण्डेय, अरविंद कुमार (2015). *वैश्वीकरण और भारतीय समाज*. रावत पब्लिकेशन्स.
3. Giddens, A. (2000). *Runaway World: How Globalization is Reshaping Our Lives*. Routledge.
4. Chopra, L. (2018). जनसंचार का समाजशास्त्र (पृ. 19). नई दिल्ली: आर्य प्रकाशन. Appadurai, A. (1996). *Modernity at Large: Cultural Dimensions of Globalization*. University of Minnesota Press.
5. Adorno, T. & Horkheimer, M. (1972). *Dialectic of Enlightenment*. Herder and Herder.
6. Schiller, H. (1976). *Communication and Cultural Domination*. M.E. Sharpe.
7. Giddens, A. (2000). *Runaway World: How Globalization is Reshaping Our Lives*. Routledge.
8. McLuhan, M. (1964). *Understanding Media: The Extensions of Man*. McGraw-Hill.
9. Bell, D. (1973). *The Coming of Post-Industrial Society: A Venture in Social Forecasting*. New York: Basic Books.
10. Adorno, T. W., & Horkheimer, M. (1972). *Dialectic of Enlightenment*. New York: Herder and Herder. (मूल जर्मन संस्करण: 1944)

11. Marx, K. (1846). *The German Ideology*. London: Lawrence & Wishart.

12. Gramsci, A. (1971). *Selections from the Prison Notebooks*. New York: International Publishers.

13. Habermas, J. (1989). *The Structural Transformation of the Public Sphere: An Inquiry into a Category of Bourgeois Society*. Cambridge: MIT Press.

14. Srinivas, M. N. (1952). *Religion and Society among the Coorgs of South India*. Oxford: Clarendon Press.

15. Appadurai, A. (1996). *Modernity at Large: Cultural Dimensions of Globalization*. University of Minnesota Press.

AIR POLLUTION AND ITS EFFECTS: A LEGAL REVIEW

Abdul Wahab
Assistant Professor - Department Of Law
A.P.N.PG College, Basti (U.P)

ABSTRACT:

The atmosphere, a vital gaseous envelope essential for life, maintains a delicate balance of nitrogen, oxygen, and trace gases. Scientifically, the text highlights that air pollution is driven by the rapid pace of industrialization and urbanization. Key pollutants include ***Carbon Monoxide (CO)****, which constitutes 50% of all pollutants and arises principally from the incomplete combustion of fossil fuels in automobiles, causing respiratory suffocation.* ***Carbon Dioxide (CO_2)****, while a natural resource for photosynthesis, has become a threat due to deforestation and fossil fuel burning. Its accumulation intensifies the "Greenhouse Effect" by allowing shortwave solar radiation to enter while trapping outgoing longwave terrestrial radiation, leading to global warming, reduced soil moisture, and increased oceanic acidity which alters marine albedo. Furthermore, it analyses* ***Chlorofluorocarbons (CFCs)****, stable industrial chemicals that deplete the stratospheric ozone layer, thereby increasing UV radiation exposure and skin cancer risks.* ***Sulphur Dioxide (SO_2)*** *and* ***Nitrogen Oxides (NO_2)*** *are identified as precursors to hazardous phenomena like "Acid Rain" (with pH values dropping between 5 and 2.5) and poisonous smog. These pollutants cause irreparable damage to agriculture, corrode buildings, and trigger severe human health issues ranging from gum inflammation to lung cancer. Legally, the text documents India's constitutional evolution via the* ***42nd Amendment Act (1976)****, which introduced Articles 48-A and 51-A(g), imposing duties on the State and citizens to protect the environment. The Supreme Court's shift from the 19th-century English doctrine of "Strict Liability" (Rylands Vs. Fletcher) to the tougher standard of* ***"Absolute Liability"*** *in the M.C. Mehta Vs. Union of India (Oleum Gas Leak Case)[1]. This new principle dictates that hazardous industries are absolutely liable for accidents, with compensation amounts correlated to the enterprise's magnitude to ensure a deterrent effect. The judicial handling of the Union Carbide (Bhopal Gas Tragedy)[2] mass disaster, where 2,660 lives were lost due to Methyl Iso-cyanate leakage, and the Taj Trapezium case[3] ,where the Court mandated 292 industries to switch from coal/coke to natural gas to preserve the Taj Mahal.*

KEY WORDS:

Environment , Ecosystem, Pollutants, Air Pollution ,Trace Gases like neon, krypton, helium, ozone,Biosphere,Greenhouse Effect, Photosynthesis,Albedo,Ozone Depletion, Acid Rain, Smog ,Carbon Monoxide, Carbon Dioxide, Chlorofluorocarbons, Sulphur Dioxide, Nitrogen Oxide ,Methane. Methyl Iso-cyanate, Industrialisation, Urbanization, Legal Review,Judicial Activism, Absolute Liability, Strict Liability, Anthropogenic.

The atmosphere is a gaseous envelope which surrounds the earth from all sides and the air is a mechanical mixture of several gases,mainly, nitrogen (78.09%), oxygen (20.95%), argon (0.93%) and carbon dioxide (0.03%).Besides, other trace gases like neon, krypton, helium, hydrogen ,xenon and ozone are also present.Air is very important for all types of life in the biosphere.

It may be pointed out that air is never pure because some gases such as sulphur dioxide, hydrogen sulphide, carbon monoxide, emissions from volcanoes and swamps, wind blown dusts pollens from plants etc. are continuously added to the air by the natural process. Thus the air becomes polluted when its natural composition is disturbed either by natural or man made sources or by both.

" Air pollution" means the presence in the atmosphere of any air pollutant[4]. "Air pollutant" means any solid,liquid or gaseous substance (including noise) present in the atmosphere in such concentration as may be or tend to be injurious to human beings or other living creatures or plants or property or environment[5].

Air pollution is generally accomplished through the pollutants of gases, solid and liquid particles of both organic and inorganic chemical.

Major sources of air pollution are natural sources (volcanic eruptions, deflation of sands and dusts, wild fires of natural vegetation etc.) and man made sources (industries,urban centres, automobiles, aircrafts, agriculture, power plants, etc.). Air pollution may be divided into two bases viz. (i) on the basis of type of pollutants and (ii) on the basis of sources of pollutants. Air pollution is primarily caused through rapid rate of industrialization and urbanization.

The major source of the production of carbon monoxide (CO) is incomplete burning of fossil fuels like coal and petroleum and wood charcoal. The automobiles using diesel and petroleum are the major sources of carbon monoxide. Besides, carbon monoxides are also produced from oil refineries, metallurgical operations and numerous combustion engines. It is apparent that urban areas and industrial centres are the most significant contributors of carbon monoxide because they account for the largest number of automobiles and industries. Carbon monoxide constitutes about 50% of the total air pollutants. It may be noted that carbon monoxide is not toxic to plants but it causes respiratory problem and suffocation, when inhaled, in the human bodies.

Carbon dioxide gas is one of the natural gaseous components of the atmosphere and in itself it is not harmful to human health rather it is a resource because plants manufacture their food through the process of photosynthesis by using carbon dioxide (CO_2) in the presence of sunlight and it is the food manufactured by green plants upon which depends all organisms including man.The content of carbon dioxide in the atmosphere is increasing at an alarming rate because of two major factors viz. (i)release of carbon dioxide due to burning of fossil fuels (coal and petroleum) at ever increasing rate and (ii)gradual decrease in the consumption of carbon dioxide because of shrinking forest covers due to rapid rate of deforestation.

The higher concentration of carbon dioxide in the atmosphere increase the "Greenhouse Effect" of the atmosphere and thus increases the temperature of the earth's surface because carbon

dioxide is more or less transparent to incoming shortwave solar radiation and thus allows the solar radiations to pass through the atmosphere and reach the earth's surface but stops the outgoing longwave terrestrial radiation from escaping to the space.

The increasing content of atmosphere carbon dioxide from anthropogenic sources is expected to have far reaching effects on global climate through gradual rise in temperature. Rise in temperature because of increased "Greenhouse Effect" is caused by increased content of atmospheric carbon dioxide would cause decrease in precipitation and soil moisture content in the most developed agricultural regions of the world. If the concentration of atmospheric carbon dioxide goes on increasing the oceans would be overburdened to absorb the additional carbon dioxide which would result in gradual increase in the oceanic acidity. Increased oceanic acidity would decrease biological productivity of the marine ecosystem and thus decreased plant covers in the oceanic areas would change the albedo of the ocean surface.

Chlorofluorocarbons And Ozone Depletion:

The chlorofluorocarbons, popularly known as CFCs, belonging to the category of chemicals synthesized by man for use in several kinds of industries including refrigeration, are relatively simple compounds of the elements Chlorine, Flourine and Carbon are initially stable compounds which do not have any toxic effect on life process in the biosphere at the ground level. It may be pointed out that the air is being increasingly polluted due to release of CFCs in the atmosphere. Thus the depletion of the ozone due to increased concentration of the chlorofluorocarbons is one of the most dangerous forms of air pollution.

Thus the ozone depletion caused by increased concentration of chlorofluorocarbon would adversely affect the global climate, biotic communities and human beings. The substantial increase in the surface temperature of the earth would cause climatic changes at regional and global levels. The increased surface temperature and exposure of human bodies to increased ultra-violet solar radiation would cause skin cancer. Increased exposure of human bodies to ultra-violet solar radiation would decrease immunity of human body against infectious diseases.

Methane (CH_4)

The major sources of the production of methane, which belongs to the category of greenhouse gases is anthropogenic activities, such as burning of biomass and fossil fuels (coal, petroleum and natural gas).Concentration of methane gas in the stratosphere increases water vapour there and thus increased water vapour together with other factors intensifies the greenhouse effect of the atmosphere which causes rise in the temperature of the earth's surface.

Sulphur Dioxide And Air Pollution:

Sulphur dioxide gas (SO_2) is produced by both natural and man made sources. After carbon monoxide (CO), sulphur dioxide (SO_2) is the second most important contributor of air pollutants as it accounts for about 29% of the total weight of all air pollutants. It may be pointed out that sulphur is essential element for both plants and animals only in trace amount but when the concentration of sulphur increases in the atmosphere, it becomes, injurious to both plants and animals because increased concentration of sulphur increases the acidity of water and lowers the pH of water significantly. The major man-made sources of sulphur dioxide are thermal power

plants (where huge amount of coal is burnt to generate power), crude oil refineries and automobiles which together account for 50% of total sulphur dioxide pollution from man originated sources.

Sulphur dioxide (SO_2) through the photochemical reactions with atmospheric oxygen (O_2) and with water films on suspended particulates produces sulphuric acid (H_2SO_4) which is highly corrosive and leading to culprit to human health and wealth. Sulphuric acid coming down with rainfall cause ACID RAIN having very low pH value ranging between 5 and 2.5.Acid rain is very dangerous hazard as it causes irreparable damage to agricultural crops, forests, aquatic life and human bodies. It corrodes buildings, pollutes drinking water ,storage sources and degrade soil biological processes. The sulphur content present in the coal and petroleum gets converted into sulphur dioxide on burning. This sulphur dioxide after combining with smoke over urban and industrial areas forms poisonous SMOG which causes respiratory diseases in human body and sometimes causes deaths.

Oxides Of Nitrogen And Air Pollution:

A few oxides of nitrogen such as nitric oxide(NO), nitrogen oxide(N_2O), nitrogen dioxide(NO_2),etc. are important air pollutants. Nitrogen oxides are formed through natural processes as well as through man induced processes. The main sources of man originated nitrogen oxides are thermal power station, factories, automobiles and aircrafts. In other words, nitrogen oxides are released to the atmosphere through the burning of coal and petroleum. According to an estimate each ton of coal after burning produces between 5 to 10 kilograms of nitrogen dioxide whereas 1 ton of diesel and petroleum consumed by transport vehicles releases 25 to 30 kilograms of nitrogen dioxide.

High concentration of nitric oxide causes several diseases in human bodies such as gum inflammation, internal bleeding, oxygen deficiency, pneumonia, lung cancer etc.

Constitutional Provisions :

For a better appreciation of the legal setting it is necessary to first consider the basic relevant constitutional and legislative provisions. The Forty Second Amendment, Act of 1976 of the Constitution, introduced Article 48-A and Article 51-A(g) into the Constitution. Article 48-A declares: 'The state shall endeavour to protect and improve the environment and to safeguard the forests and wild life of the country.' Article 51-A(g) imposes a duty on every citizen to protect and improve the natural environment including forests, lakes, rivers and wildlife and to have compassion for living creatures.

The Indian Courts have embraced judicial activism in developing environmental jurisprudence. The right to pollution free environment is treated as a fundamental right.

M.C. Mehta Vs Union of India[6]

There was escape of oleum gas from one of the units of Shriram on 4th and 6th December, 1985, and applications were filed by the Delhi Legal Aid and Advice Board and the Delhi Bar Association for award of compensation to the persons who had suffered harm on account of escape of oleum gas.

The Supreme Court held that where an enterprise is engaged in a hazardous or inherently dangerous activity and harm results to anyone on account of an accident in the operation of such

hazardous or inherently dangerous activity resulting for example, in escape of toxic gas the enterprise is strictly an absolutely liable to compensate all those who are affected by the accident and such liability is not subject to any of the exceptions which operate vis-a-vis the tortious principle of strict liability. In such a case, the measure of compensation must be correlated to the magnitude and capacity of the enterprise because such compensation must have a deterrent effect.The larger and more prosperous the enterprise, the greater must be the amount of compensation payable by it for the harm caused on account of an accident in the carrying on off the hazardous or inherently dangerous activity by the enterprise.

The following statement of Bhagwati,C.J., which laid down the new principal may be noted:

"We are of the view that an enterprise which is engaged in hazardous or inherently dangerous industry which poses a potential threat to the health and safety of the persons working in the factory and residing in the surrounding areas owes an absolute and non delegable duty to the community to ensure that no harm results to anyone on account of hazardous or inherently dangerous activity which it has undertaken. The enterprise must be held to be under an obligation to provide that the hazardous or inherently dangerous activity in which it is engaged must be conducted with the highest standards of safety and if any harm results on account of such activity, the enterprise must be absolutely liable to compensate for such harm and it should be no answer to the enterprise to say that it had taken all reasonable care and that the harm occurred without any negligence on its part."

The Supreme Court took a bold decision holding that it was not bound to follow the 19th century rule of English Law, and it could evolve a rule suitable to the social and economic conditions prevailing in India at the present day . It evolved the rule of absolute liability as part of Indian Law in preference to the rule of strict liability laid down in Rylands Vs Fletcher. It expressly declared that the new rule was not subject to any of the exceptions under the rule in Rylands Vs Fletcher.

Union Carbide Corporation Vs Union Of India[7]

The Bhopal gas leak tragedy that occurred at midnight on 2nd December, 1984, by the escape of deadly chemical fumes. Methyl Iso-cyanate from the appellants pesticide factory was a horrendous industrial mass disaster, unparalleled in its magnitude and devastation and remains a ghastly monument to the dehumanising influence of inherently dangerous technologies. The tragedy took an immediate toll of 2660 innocents human lives and left tens of thousands of innocent citizens of Bhopal physically impaired or affected in various degrees. What added grim poignance to the tragedy was that the industrial enterprise was using Methyl Iso-cyanate a lethal toxic poison, whose potentiality for destruction of life and biotic communities was apparently, matched only by the lack of a pre-package of relief procedures for management of any accident based on adequate scientific knowledge as to the ameliorative medical procedures for immediate neutralisation of its effects.

The matter concerns the interest of a large number of victims of a mass disaster .The Court directed the settlement with the earnest hope that it would do them good and bring them immediate relief.

M.C. Mehta Vs Union of India[8]

Taj Mahal degradation due to pollution, emission generated by coke/coal using industries in Taj trapezium found to be main polluters.The Supreme Court issued the direction to 292 industries located and operating in Agra to change-over within fixed time schedule to natural gas as industrial fuel or stop functioning with coal/coke and get relocated. Industries not applying for gas or relocation to stop functioning with coal/coke from 30.04.1997.

The incorporation of protection of environment as an obligation of the state and as a mandate to the citizens of India as part of the fundamental duties is notable indication to the importance of the protection of environment. The Indian courts have embraced judicial activism in developing environmental jurisprudence. The right to pollution free environment is treated as a fundamental right. In municipal council , Ratlam Vs. Vardichand the Supreme Court has recognised the importance of pollution free environment and gave it the status of a human right.

Chhetriya Pradushan Mukti Sangharsh Samiti Vs. State of U.P.[9]

The Supreme Court has again affirmed that every citizen has a fundamental right to have the enjoyment of quality of life as contemplated by Article 21 of the Constitution of India.

CONCLUSION:

The comprehensive analysis of atmospheric science and environmental jurisprudence leads to the conclusion that air pollution is a systemic crisis requiring a synchronized scientific and legal intervention. The data establishes that the atmosphere's capacity to absorb anthropogenic by-products is critically overextended. We are witnessing a transformation of essential resources into hazards: Carbon Dioxide, vital for plant life, is now the agent of global warming and oceanic acidity; chemically stable CFCs have become destroyers of the ozone shield. The text clarifies that the consequences are not merely aesthetic but existential, threatening the biological productivity of marine ecosystems, reducing agricultural soil moisture, and exposing humanity to increased UV radiation and respiratory ailments like pneumonia and internal bleeding caused by Nitrogen Oxides. From a legal perspective, there’s a paradigm shift in Indian law: the recognition that the "right to a pollution-free environment" is a fundamental right. The judiciary has successfully argued that modern industrial risks cannot be managed by archaic laws. The rejection of the "Strict Liability" doctrine (which allowed for exceptions) in favour of "Absolute Liability" signifies a judicial determination to hold "inherently dangerous" industries fully accountable. The Supreme Court’s rulings in the Oleum Gas Leak Case and Bhopal Gas Tragedy Case established that the cost of human safety must be internalized by corporations, with compensation directly proportional to their prosperity. Furthermore, the Taj Mahal Trapezium verdict illustrates that environmental protection supersedes economic convenience, forcing industries to either adapt (switch to gas) or cease operations. Ultimately, the text concludes that while natural sources of pollution exist, the acceleration of environmental degradation is unmistakably anthropogenic. The remedy lies in the authoritarian enforcement of Constitutional Articles 48-A and 51-A(g), ensuring that the "deterrent

effect" of the law keeps pace with the hazardous potential of modern technology. The intersection of these environmental warnings and legal mandates creates a clear directive that economic development cannot continue at the cost of the biosphere's stability.

REFERENCES

1. AIR 1987 SC 1086
2. AIR 1990 SC 273
3. AIR 1997 SC 734
4. Section 2(b) of Air (Prevention and Control of Pollution) Act,1981
5. Section 2(a) of Air (Prevention and Control of Pollution) Act 1981
6. AIR 1987 SC 1086
7. AIR 1990 SC 273
8. AIR 1997 SC 734
9. (1990) 4 S.C.C. 449

BOOKS

1. Arun C.V,"Economic Aspects Of Environmental Pollution In India." 1984.
2. Arvill R, "Man and environment-crisis and the strategy of choice 1967.
3. Beena Devi Singh "Environmental Management A geographical study", Edition 1992.
4. Lal's; Environment Protection And Pollution Laws, 6th Edition 2021.
5. Savindra Singh, "Environmental Geography", Edition 2015.

Nav Jyoti, Vol. 13, No. 26, January-June 2025 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

भारतीय समाज सेवा एवं आधुनिक समाज कार्य : मूल्य–आधारित परंपरा और व्यवसायिकता का समन्वित दृष्टिकोण

डॉ. राहुल गुप्ता
सह–आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी
प्रो. बंशीधर पाण्डेय
आचार्य, समाज कार्य विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

सारांश(Abstract)

भारत मे समाज सेवा की परंपरा अत्यंत प्राचीन, मूल्य–आधारित एवं आध्यात्मिक चेतना से युक्त रही है। सेवा, धर्म, करुणा, त्याग और लोक–कल्याण जैसे मूल्य भारतीय सामाजिक चिंतन की आधारशिला रहे हैं। दूसरी ओर, आधुनिक समाज कार्य एक सुव्यवस्थित, वैज्ञानिक एवं व्यावसायिक अनुशासन के रूप में विकसित हुआ है, जिसका उद्देश्य व्यक्ति, समूह और समुदाय की सामाजिक प्रकार्यात्मकता को सुदृढ़ करना है। समकालीन समाज में उत्पन्न जटिल सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु इन दोनों ही दृष्टिकोणों का समन्वय अत्यंत आवश्यक हो गया है। प्रस्तुत शोध पत्र समाज सेवा की भारतीय अवधारणा, आधुनिक समाज कार्य की प्रकृति एवं दोनों के बीच अंतर्संबंध, समन्वय की आवश्यकता, संभावनाओं एवं चुनौतियों का विश्लेषण करता है। यह शोध पत्र इस ओर इंगित करता है कि मूल्य–आधारित भारतीय परंपरा और आधुनिक समाज कार्य का समन्वय व्यावसायिक समाज कार्य को अधिक मानवीय, सांस्कृतिक रूप से संवेदनशील तथा टिकाऊ बना सकता है।

बीज शब्द *: भारतीय समाज सेवा, आधुनिक समाज कार्य, सेवा, धर्म, मूल्य–आधारित परंपरा, व्यवसायिक दृष्टिकोण।*

प्रस्तावना (Introduction)

समाज सेवा मानव सभ्यता के विकास के साथ–साथ विकसित हुई एक मूलभूत सामाजिक प्रक्रिया है। यद्यपि प्रत्येक समाज में सामाजिक सहयोग, पारस्परिक सहायता और कमजोर वर्गों के संरक्षण की परंपरा किसी न किसी रूप में विद्यमान रही है तथापि भारतीय समाज में यह परंपरा विशेष रूप से मूल्य–आधारित रही है, जहाँ समाज सेवा को केवल सामाजिक दायित्व मात्र नहीं, बल्कि धार्मिक एवं नैतिक कर्तव्य भी माना गया है। भारतीय ज्ञान व्यवस्था में सेवा को आत्मिक उन्नति और मोक्ष के मार्ग से जोड़ा गया, जिससे समाज सेवा को एक उच्च नैतिक गरिमा प्राप्त हुई।

आधुनिक काल में जिस समाज कार्य का प्रचलन है उसका उद्भव पश्चिमी देशों से माना जाता है। समाज कार्य की आधुनिक अवधारणा एक पेशेवर अनुशासन के रूप में विकसित हुई है जो वैज्ञानिक पद्धतियों, सैद्धांतिक ढाँचों और नैतिक संहिताओं पर आधारित है। औद्योगीकरण, शहरीकरण, वैश्वीकरण और तकनीकी विकास के परिणामस्वरूप उत्पन्न जटिल सामाजिक समस्याओं ने समाज कार्य को एक संगठित और प्रशिक्षित व्यवसाय के रूप में स्थापित किया। वर्तमान संदर्भ में यह प्रश्न अत्यंतसमीचीन है कि क्या भारतीय समाज सेवा की पारंपरिक मूल्य–आधारित अवधारणा और आधुनिक समाज कार्य का व्यावसायिक दृष्टिकोण परस्पर विरोधी हैं या एक–दूसरे के पूरक। वर्तमान शोध पत्र इसी प्रश्न का विश्लेषण करता है।

भारतीय समाज सेवा की अवधारणा :

भारतीय समाज सेवा की अवधारणा का विकास वैदिक काल से ही प्रारंभ हो गया था। ऋग्वेद, उपनिषद, स्मृतियाँ, पुराण, बौद्ध और जैन साहित्यकृसभी में समाज कल्याण के सिद्धांत स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। "सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः" की भावना सम्पूर्ण मानवता के कल्याण की कामना को व्यक्त करती है।

सेवा (Seva) की अवधारणा :

सेवा भारतीय समाज का केंद्रीय मूल्य रहा है। सेवा को निःस्वार्थ भाव से किया गया ऐसा कार्य माना गया है, जो दूसरों के दुःख को कम करे और समाज में सामंजस्य एवं सद्भाव स्थापित करे। भगवद्गीता में निष्काम कर्मयोग की अवधारणा सेवा को आत्मकेंद्रित स्वार्थ से मुक्त करती है।

धर्म और सामाजिक उत्तरदायित्व :

भारतीय चिंतन में धर्म केवल धार्मिक अनुष्ठानों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक कर्तव्यों, नैतिक आचरण और न्यायपूर्ण जीवन–पद्धति का समुच्चय है। राजा से लेकर सामान्य नागरिक तक, सभी के लिए समाज के प्रति उत्तरदायित्व निर्धारित किए गए।

दान, करुणा और त्याग :

दान को सामाजिक संतुलन बनाए रखने का साधन माना गया है । अन्नदान, विद्यादान और अभयदान जैसी परंपराएँ सामाजिक सुरक्षा की प्रारंभिक व्यवस्थाएँ थीं। करुणा और त्याग ने समाज सेवा को मानवीय संवेदना से जोड़ा।

आधुनिक समाज कार्य की अवधारणा और विकास :

आधुनिक समाज कार्य का विकास 19वीं और 20वीं शताब्दी में पश्चिमी देशों से प्रारंभ हुआ। औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप उत्पन्न गरीबी, बेरोजगारी, श्रमिक शोषण और पारिवारिक विघटन जैसी समस्याओं ने समाज कार्य को एक संगठित व्यवसाय के रूप में जन्म दिया।

समाज कार्य :

इंटरनेशनल फेडरेशन ऑफ सोशल वर्क (IFSW) द्वारा दी गई नवीनतम परिभाषा के अनुसार, समाज कार्य एक ऐसा व्यवसाय है जो सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक न्याय और मानव अधिकारों को बढ़ावा देता है। इसका उद्देश्य व्यक्ति और समाज के बीच संतुलन स्थापित करना है।

आधुनिक समाज कार्य की प्रमुख विधियाँ हैं–

- सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य,
- सामाजिक समूह कार्य,
- सामुदायिक संगठन,
- सामाजिक अनुसंधान,
- सामाज कल्याण प्रशासन और सामाजिक क्रिया।

इन विधियों के माध्यम से समाज कार्य विभिन्न समस्याओं के वैज्ञानिक विश्लेषण और समाधान पर बल देता है।

व्यावसायिक नैतिकता :

आधुनिक समाज कार्य एक स्पष्ट आचार संहिता पर आधारित है, जिसमें गोपनीयता, आत्मनिर्णय का अधिकार , सामाजिक न्याय और व्यवसायिक उत्तरदायित्व जैसे सिद्धांत शामिल हैं।

भारतीय समाज सेवा और आधुनिक समाज कार्य का अंतर्संबंध :

भारतीय समाज सेवा और आधुनिक समाज कार्य को अक्सर अलग–अलग दृष्टिकोणों के रूप में देखा जाता है, किंतु दोनों का मूल उद्देश्य मानव कल्याण ही है। अंतर केवल दृष्टिकोण और कार्य–विधि का है।

- भारतीय समाज सेवा नैतिकता व आध्यात्मिक प्रेरणा पर आधारित, स्वैच्छिक, अनौपचारिक तथा समुदाय केंद्रित होती है
- जबकि आधुनिक समाज कार्य, वैज्ञानिक, व्यावसायिकता से आच्छादित, औपचारिक, विधि और नीति आधारित होता है।

इन दोनों के समन्वय से ही भारतीय समाज कार्य अधिक प्रभावी बन सकता है।

समाज कार्य के भारत में प्रभावी क्रियान्वयन हेतु आवश्यक है कि इसमें मूल्य–आधारित परंपरा और व्यावसायिक दृष्टिकोण का समन्वय हो। समन्वय से यह आशय नहीं है कि एक दृष्टिकोण दूसरे पर हावी हो, बल्कि दोनों की श्रेष्ठ विशेषताओं को एकीकृत किया जाए। यह ध्यातव्य है कि सेवा और व्यावसायिक दक्षता का सन्निधान समाज कार्यकर्ता को मानवीय बनाता है। सांस्कृतिक संवेदनशीलता एवं भारतीय मूल्यों के समावेश से समाज कार्य को स्थानीय संस्कृति के अनुरूप बनाया जा सकता है, जिससे हस्तक्षेप अधिक स्वीकार्य होगा। भारतीय नैतिक मूल्य के सन्निवेश से आधुनिक समाज कार्य की आचार संहिता को और सुदृढ़ बनाया जा सकता है। भारतीय संदर्भ में महात्मा गांधी का रचनात्मक कार्यक्रम, विनोबा भावे का भूदान आंदोलन, स्वयंसेवी संगठनों द्वारा संचालित शिक्षा और स्वास्थ्य कार्यक्रम आदि मूल्य–आधारित और पेशेवर दृष्टिकोण के समन्वय के सजीव उदाहरण हैं।

चुनौतियाँ और सीमाएँ :

पारंपरिक समाज सेवा में प्रायः वैज्ञानिक मूल्यांकन का अभाव होता है जबकि आधुनिक व्यावसायिक समाज कार्य में कभी–कभी मानवीय संवेदना की कमी दृष्टिगोचर होती है इसीलिए प्रशासनिक दबाव और नैतिक मूल्यों के बीच संतुलन स्थापित करने के लिए इन चुनौतियों के समाधान हेतु समाज कार्य शिक्षा में भारतीय मूल्यों का समावेश आवश्यक है।

समकालीन प्रासंगिकता :

सतत विकास लक्ष्य (SDGs), सामाजिक न्याय और समावेशी विकास की अवधारणाएँ इस समन्वय को और अधिक प्रासंगिक बनाती हैं। भारतीय समाज कार्य तभी प्रभावी होगा जब वह अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़ा रहेगा।

निष्कर्ष (Conclusion) :

भारतीय समाज सेवा की मूल्य–आधारित परंपरा और आधुनिक समाज कार्य का व्यवसायिक दृष्टिकोण परस्पर पूरक हैं। इनका समन्वय समाज कार्य को न केवल तकनीकी रूप से सक्षम बनाता है, बल्कि नैतिक और मानवीय आधार पर भी मजबूती प्रदान करता है। भविष्य का समाज कार्य वही होगा जो परंपरा की आत्मा और आधुनिकता की विधि–दोनों को साथ लेकर चले।

संदर्भ (References):

- Desai, M. (2007), Ideologies and Social Work- Jaipur: Rawat Publications-
- Gore, M. S. (1993), Social Work and Social Work Education- Mumbai: Asia Publishing House-
- Gandhi, M. K. (1951), The Moral and Political Writings of Mahatma Gandhi- Ahmedabad: Navajivan Publishing House-
- IFSW,(2014), Global Definition of Social Work- International Federation of Social Workers.

Nav Jyoti, Vol. 13, No. 26, January-June 2025 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

हिंदी कहानी में किन्नर जीवन

प्रो० मंजु मिश्रा
हिंदी विभाग
महाराज बलवंत सिंह पी०जी० कॉलेज
गंगापुर, वाराणसी

सार (Abstract)

हिंदी साहित्य में किन्नर जीवन का चित्रण लंबे समय तक उपेक्षित रहा है। समाज के हाशिए पर खड़े किन्नर समुदाय को साहित्य में या तो हास्य, विकृति अथवा प्रतीकात्मक पात्र के रूप में प्रस्तुत किया गया। किंतु आधुनिक हिंदी कहानी में किन्नर जीवन को मानवीय संवेदना, सामाजिक संघर्ष, अस्मिता और अधिकारबोध के साथ चित्रित करने की प्रवृत्ति विकसित हुई है। किन्नर शब्द मुख्यतः तृतीय लिंगी प्रकृति के मनुष्य के लिए प्रयुक्त होता है। इसके अतिरिक्त सामान्य लोगों द्वारा इस समुदाय के लिए हिजड़ा शब्द का प्रयोग किया जाता है। हिजड़ा शब्द जहां इस समुदाय की नकारात्मक छवि को प्रस्तुत करता है। वही किन्नर शब्द आधुनिक किन्नर क्षेत्र में प्राचीन काल में निवास करने वाली जनजाति विशेष के लिए प्रयोग होता है।यह शोध–पत्र हिंदी कहानी में किन्नर जीवन के चित्रण, उसके सामाजिक संदर्भों, समस्याओं तथा रचनात्मक दृष्टि का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

बीज शब्द : हिंदी कहानी, किन्नर जीवन, हाशिए का समाज, अस्मिता, सामाजिक भेदभाव,अधिकार बोध, तृतीय लिंगी, हिजड़ा।

किन्नर समाज भारतीय सामाजिक संरचना का एक प्राचीन किंतु उपेक्षित वर्ग है। धार्मिक और सांस्कृतिक मान्यताओं में किन्नरों को विशिष्ट स्थान प्राप्त होने के बावजूद सामाजिक यथार्थ में उन्हें घृणा, उपेक्षा और बहिष्कार का सामना करना पड़ा है। लिंग निर्धारण के आधार पर मानव मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित है, स्त्री एवं पुरुष। इन्हीं दो वर्गों से समाज का विकास होता है। लेकिन हम यह भूल जाते हैं कि इन्हीं दो स्त्री पुरुष से ही एक वर्ग का जन्म होता है जिसका नाम है– किन्नर। किन्नर शब्द मुख्यतः तृतीय लिंगीय प्रकृति के मनुष्य के लिए प्रयुक्त होता है। हिंदी साहित्य, विशेषकर कहानी विधा, समाज का प्रतिबिंब होने के कारण इस वर्ग की पीड़ा और संघर्ष को धीरे–धीरे स्वर देने लगी है।

वृहद संस्कृत – हिन्दी शब्दकोश में 'किन्नर" शब्द का प्रयोग तीन अर्थो में हुआ है" बुरा या विकृत पुरुष, पुराणोक्त पुरुष जिसका सर घोड़े का हो तथा शेष शरीर मनुष्य का। कुबेर का विशेषण ।[1]

किन्नर चार प्रकार के होते है– बुचरा, नीलिमा, मनसा और हंसा। बुचरा जन्मजात किन्नर होते है। इन्हें जन्म के समय से ही स्त्री और पुरुष के लैंगिक विधानों से भिन्न अन्य में गिना जाता है। नीलिमा किन्नरों का वह प्रकार है जो किसी कारणवश किन्नर बनते है। मनसा किन्नर वह होते है जो, मानसिक तौर पर स्वयं को हिजडा समझने लगते है। हंसा किन्नरो कि वह कोटी है, जो अपनी किसी शारीरिक कमी या यौन न्यूनता के कारण किन्नर बन जाते है। यदि कोई बच्चा किन्नर वर्ग में जन्म ले लेता है, तो उसमें उसका दोष नहीं है। हमें और हमारे समाज को उनके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसे एक लड़का या लड़की के साथ हमारा समाज करता है। क्योकि वह भी ईश्वर की सृष्टि ही होता है।

दयाबाई कहानी में कहानीकार ने दयाबाई नामक किन्नर को बचपन में ही अपने परिवार द्वारा किन्नर गुरु को सौंप देने की कहानी कही है। दयाबाई अपने गुरु को अपने माता–पिता से भी बढ़कर प्रेम करती हैं। गुरु के प्रति सच्चा प्रेम एवं समर्पण दयाबाई को लक्ष्मी गुरु के और करीब ले जाता है। लक्ष्मी गुरु दयाबाई को अपने किन्नर घराने के सभी रीति–रिवाजों से परिचित कराती है। '**वह अपने गुरु लक्ष्मीबाई को ही माँ कहकर पुकारती है। लक्ष्मीबाई उसके लिए क्या नहीं है? उसके लिए अच्छे गुरु हैं। एक अच्छी माँ है। माँ होने के साथ–साथ यह खुद उसके लिए बाप भी हैं। इसके साथ ही वह खुद उसके लिए दादा–दादी भी हैं। इसके साथ–साथ नाना–नानी भी हैं। उसका प्रशिक्षक भी है। उन्होंने दयाबाई को नाचना–गाना और हिजड़ा मंडली के सारे दांवपेच और राजनीति सिखाई है।**[2]

गुरु लक्ष्मीबाई के मृत्यु के बाद भी दयाबाई का अपने परिवार के प्रति मोह बना रहता है। इसी प्रेम के वशीभूत वह अपने भाई की बेटी की शादी में परिवार की आर्थिक सहायता भी करती है। लेकिन जब भाई द्वारा उसे सबके सामने परिवार का सदस्य नहीं माना जाता तब इस घटना से उसका मोह भंग हो जाता है।

प्रतिशोध कहानी किन्नरों के आधिकारिक व्यवसाय बधाईगिरी पर आधारित है। ईश्वरी प्रसाद की बेटी रेखा के विवाह के अवसर पर जब हिजड़े बधाई माँगने आते हैं, तब रकम को लेकर अनबन हो जाती है। यह अनबन इतनी बढ़ जाती है कि किन्नर राखी और उसके समूह को दूल्हा व बाराती पीट देते हैं। ऐसी स्थिति में राखी अपने समूह के साथ बिना पैसे लिए ही दूल्हा–दुल्हन को दुआएँ देती हुई चली जाती है। **'तुम लोग क्या करोगे। गलती क्या की है हमने... जिसकी सजा, ईश्वर हमें किश्तों में दे रहा है रोज इतना कहते–कहते सभी ने अपने कपड़े जैसे–तैसे ठीक किए और निकलने लगे जाने के लिए। जाते.. जाते. राखी एक बार पलटी और कातर भाव से बोली–साहब!... ऊपरवाला आपकी जोड़ी बनाए रखें। ओ गाली वाले बूढ़े बाबा तेरी बेटी सदा सुहागन रहे ईश्वर आप सब को खुश रखें।**[3] कहानी किन्नरों के मानवीय पक्ष को उजागर करने के साथ ही तथाकथित व पुरुषों की मर्दानगी पर कटाक्ष करती है।

द्विलिंगी समाज के असमान सामाजिक और नैतिक मूल्यों से उत्पन्न यातना, संत्रास और उपेक्षित जीवन की पीड़ा को इस कहानी में मार्मिकता से चित्रित किया गया है। बिन्दा महाराज के अकेलेपन की पीड़ा को इन शब्दों से भलीभाँति समझा जा सकता है **'दुनिया के सारे नाते– रिश्ते केवल पुरुष और स्त्री से हैं... विपरीत लिंगों का आकर्षण, एक के दायरे की तमाम वस्तुएँ दूसरे से उसी प्रकार संबद्ध। बिन्दा महाराज का दुनिया में कोई रिश्ता नहीं, हो भी तो कैसे, न तो वह मर्द है न औरत।**[4]

बिन्दा महाराज जैसे पात्र को गढ़ने के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए शिवप्रसाद सिंह कहते हैं –**"बिन्दा महाराज जैसे पात्र तो हर जगह आते–जाते हुए दिखाई पड़ते रहते हैं... इस कहानी में बिन्दा महाराज की जो पीडा उभरी है, यह किसी एक व्यक्ति में नहीं देखी गयी, बल्कि सिचुएशन्स के द्वारा क्रिएट की गई है। इस चरित्र के माध्यम से, मैं उस उपेक्षित जीवन को भी एक मूल्य देना चाहता था, जिसके अन्दर पीडा का बोध, मानवीय पीड़ा को भी लाँघ जाता है। जो पुरुष नहीं दे पाता, नारी नहीं दे पाती, वह एक हिजड़ा दे जाता है।**[5]

किरण सिंह की संझा कहानी ट्रासजेंडर लड़की संझा के जीवन पर आधारित मार्मिक कथा है जो जन्मजात लिंगदोषी है। संझा के माता–पिता समाज की मानसिकता से वाकिफ है कि समाज इस रूप में संझा को स्वीकार नहीं करेगा। अपनी बेटी को दुनिया की नजरों से बचाकर घर में ही रखने की कोशिशों में उनकी मनोव्यथा को बारीकी से चित्रित किया गया है। मात्र जन्मजात लिंगदोष के आधार पर इन्हें अपना बचपन चहारदीवारी में व्यतीत करना पड़ता है, क्यों उन्हें मूलभूत अधिकारों से वंचित होना पड़ता है, क्या यह इतना बड़ा दोष है? समाज की इस जड़ मानसिकता पर संझा प्रश्न चिह्न लगाते हुए कहती है– **'जीवन के लिए सबसे जरूरी तो आँख हैं। जोगी चाचा अंधे पैदा हुए। जरूरी तो हाथ है। बिन्दा बुआ का दाहिना हाथ कोहनी**

से कटा है। रामाधा भइया तो शुरू से खटिया पर पड़े हैं, रीढ़ की हड्डी बेकार है। बिसम्भर तो पागल है, जनम से बिना दिमाग का। क्या... वो.. वो आँख, कान, हाथ, पाँव दिमाग से भी बढ़ कर होता है?[6]

लिंग को वंश वृद्धि से जोड़कर लिंगदोषी मनुष्यों को नारकीय जीवन जीने को बाध्य करना किसी भी दृष्टि से स्वीकार्य नहीं हो सकता है। यदि मुख्यधारा समाज में शारीरिक रूप से विकलांगों के प्रति संवेदनशील नजरिया अपनाया जाता है तो लिंगदोषियों के साथ भी यही भाव अपनाते हुए समावेशी समाज का निर्माण किया जाना चाहिए। अपनी वास्तविकता पर पर्दा रखते हुए संझा समाज को बहुत कुछ देती है। एक दिन, वही समाज संझा के लिंगदोष होने की सच्चाई जान कर इसे पचा नहीं पाता है। भले ही उसने बीमार लोगों को औषधि देकर इलाज किया, ललिता महाराज के घर को सँभाला, गाँव के प्रति सहयोग और उदारतापूर्ण रही। यह कहानी संझा की कथा के माध्यम से लिंगदोषी समुदाय के प्रति मुख्यधारा समाज के अमानुषिक आचरण की तस्वीर पेशकरते हुए थर्ड जेंडर विमर्श को नए आयाम देने का प्रयास करती है।

'पहचान' कहानी एक किन्नर माँ की अपनी संतान की पहचान बनाने एवं उसके बेहतर भविष्य के लिए अपनी किन्नर पहचान छुपाने की कहानी है। रुबीना किन्नर अपनी पालित पुत्री जेबा को बेहतर भविष्य देने की खातिर अपने किन्नर समुदाय से भागकर अन्यत्र चली जाती है। ऐसी जगह जहाँ उसे कोई नहीं जानता। जेबा को शिक्षित कर स्वयं समाज सेवा में भी योगदान देती है। जेबा एवं कुंवर के प्रेम को कुंवर के पिता से बचाने के लिए वह कुंवर व जेबा को विदेश भेज देती है। अपने प्राण त्याग कर भी वह कुंवर के पिता को उनकी जानकारी नहीं देती।

प्रतिमान' लक्ष्मी और पायल किन्नर माँओं के संघर्ष को दिखाती है। गाँव के मंदिर में मिली अनाथ बालिका जिसे परिवार द्वारा किन्नर होने के कारण त्याग दिया जाता है को पायल और रेशमा अपनी संतान की तरह प्रेम करती है। दोनों किन्नर माँए अपनी पुत्री शिवालिका की शिक्षा के लिए सजग हैं। जिसमें उन्हें हेड मास्टर प्रभुदीन का सहयोग प्राप्त होता है। शिवालिका सिर्फ पढ़ाई में ही अव्वल नहीं है बल्कि तीरंदाजी में भी अपना उत्कृष्ट प्रदर्शन कर देश का नाम रोशन करती है। कहानी दर्शाती है कि एक किन्नर को अगर उचित मूलभूत सुविधाएँ मिले तो वह भी अपनी पूर्ण क्षमता से देश का नाम रोशन कर सकता है।

'मिस्टी कहानी किन्नर मिस्टी से ज्यादा उसकी माँ सुधा के संघर्ष की कहानी कहता है। सुधा अपनी किन्नर बेटी को बचाने के लिए अपने परिवार को छोड़ देती है। पति के अपनाने से मना करने के कारण अपनी बेटी को लेकर अलग दुनिया बसाती है। सुधा मिस्टी की शारीरिक कमी के बावजूद उसे शिक्षित कर डॉक्टर बनाती है। कहानी के अंत में अपने सौतेले भाई को किडनी देकर अपने माता–पिता व परिवार को भी एक कर देती है।

कादंबरी मेहरा रचित हिजड़ा कहानी की रागिनी श्रीवास्तव जब पंद्रह वर्ष की थी तभी उसकी माँ चेचक की बीमारी के कारण चल बसती है. पिता दूसरा विवाह कर लेता है। और अंततः रागिनी अपनी बहन और जीजा के रहमोकरम पर जीने के लिए विवश होती है। रागिनी के जीजा को लोग बहुत भला आदमी मानते हैं। किन्तु जीजा की हकीकत सिर्फ रागिनी ही जानती है। पढ़ाई के खर्च के बदले उसका जीजा उसका शारीरिक शोषण करता है। अपनी बेबसी के कारण ही रागिनी सबकुछ सहती है। वह कहती है–

"मेरा क्या है मुझसे कोई शादी तो करेगा नहीं। ऐसे ही ठीक है। बस पढ़ाई खत्म कर लूं। फिर कहीं दूर भाग जाउंगी। किसी गाँव में टीचर या सोशल वर्कर बन जाउंगी ।सौ–दो सौ कुछ तो मिलेगा ही।[7]

जो पीड़ा उसे अपने पिता, सौतेली माँ और जीजा से मिलती है. कदाचित उस पीड़ा का ही परिणाम था कि एक स्त्री होकर भी वह किन्नर या हिजड़ा बनने पर विवश होती है ।

डॉ. पद्मा शर्मा रचित इज्जत के रहबर कहानी में किन्नर जीवन की वेदना, लोगों द्वारा किन्नरों के प्रति अपमान, शोषण आदि का चित्रण हुआ है। अक्सर किन्नरों पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे अपनी संख्या बढ़ाने के लिए जबरन लोगों का अंग भंग करके उन्हें हिजड़ा बनाते हैं। इसी प्रकार के आरोप के बारे में जब श्रीलाल सोफिया से पूछते हैं तो वह कहती है –

'नहीं लाल जी हमारी संख्या तो ईश्वर बढाता है। खुदा न करे वह और अधिक संख्या बढ़ाये। हमें कितना कष्ट है इस योनि में होने का, ये तो हम ही जानती हैं।[8]

श्री लाल के घर से सोफिया का नीजी सम्बन्ध था। अतः जब श्रीलाल की बेटी प्रतिभा का एक गुंडे द्वारा बलात्कार हो जाता है और श्रीलाल गुंडे का नाम जानकर भी समाज के डर से पुलिस में रिपोर्ट नहीं लिखवाते, तब सोफिया स्वयं इसका बदला लेती है और उस गुंडे को नपुंसक बना देती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी कहानियों के किन्नर विमर्श में इस समुदाय की व्यथा, वंचना और उपेक्षित जीवन को पर्याप्त स्थान दिया है। हिन्दी कहानियों में किन्नर की दयनीय दशा के साथ– साथ सामाजिक अधिकारों से वंचित उनकी अवस्था पर भी विचार किया गया है। हालाँकि इस दिशा में अभी भी कई संभावनाएँ हैं। मुख्यधारा समाज से विलग रहने के कारण इनके जीवन की विस्तृत जानकारी भी दुर्लम हो जाती है। इसके कारण इस समुदाय के प्रति कई तरह की गलत धारणाएँ भी चल पड़ी है। हालाँकि मानवीय संवेदना और सहानुभूति आधारित साहित्य की रचना करके इस वर्ग की सामाजिक स्वीकार्यता के लिए हिंदी साहित्य प्रयासरत है। इसके अलावा किन्नर समुदाय के लोगों द्वारा स्वानुभूत आधारित साहित्य लिखे जाने की आवश्यकता है ताकि प्रामाणिक अभिव्यक्ति सामने आए। इसके लिए इस वर्ग की शिक्षा जैसी मूलभूत अधिकार तक पहुँच को आसान करना होगा। बदलते हुए सामाजिक परिदृश्य में तृतीय लिंगी समाज के मानवीय अधिकारों और सम्मानजनक स्थिति के लिए उम्मीद की जा सकती है। उत्तर आधुनिक काल में प्रौद्योगिकी और तकनीकी के बढ़ते प्रयोग से द्विलिंगी समाज (जेंडर बाइनरी) की सीमाओं को तोड़ कर एक समावेशी समाज के निर्माण का अवसर भी है। समाज के एक बड़े तबके तक पहुँच बनाते हुए हिंदी कहानियों का स्थान इस दिशा में काफी महत्वपूर्ण हो जाता है। हमारा समाज उनकी दुआओं की तो चाह करता है लेकिन उनको घृणा की दृष्टि से देखता है। हमें अपने समाज के नजरीए को बदलकर एक स्वस्थ समाज का निर्माण करना बेहद जरूरी है।

संदर्भ– सूची

1)वृहद संस्कृत हिन्दी शब्दकोश: सः वामन शिवराम आप्टे, पृ०–311

2)राकेश शंकर भारती : इस जिन्दगी के उस पार, (दयाबाई), पृ०–39

3)विजेन्द्र प्रताप सिंहः प्रतिशोध, विजेन्द्र प्रताप सिंह, रवि कुमार गॉड (स): कथा और किन्नर, पृ०–28

4)थर्ड जेंडर चर्चित कहानियां, सम्पादक डॉ. विमल ग्यानोबाराव सूर्यवंशी, रोशनी पब्लिकेशंस, कानपुर प्रथम संस्करण, 2018, पृ०–17

5) थर्ड जेंडर चर्चित कहानियां, सम्पादक डॉ. विमल ग्यानोबाराव सूर्यवंशी, रोशनी पब्लिकेशंस, कानपुर प्रथम संस्करण, 2018, वही पृ०–11

6) थर्ड जेंडर चर्चित कहानियां, सम्पादक डॉ. विमल ग्यानोबाराव सूर्यवंशी, रोशनी पब्लिकेशंस, कानपुर प्रथम संस्करण, 2018, वहीं पृ०–45

7)वाङ्मय पत्रिका, खंड एक, थर्ड जेंडर हिन्दी कहानियां, कांदबरी मेहरा, हिजड़ा, पृ०–85

8)वाङ्मय पत्रिका, खंड एक, थर्ड जेंडर हिन्दी कहानियां, डा पदमा शर्मा, इज्जत के रहबर,पृ०–95

Nav Jyoti, Vol. 13, No. 26, January-June 2025 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

दसवीं पंचवर्षीय योजना के पश्चात भारत के कृषिगत निर्यातों की संरचना एवं दिशा का समीक्षात्मक अध्ययन

अमित कुमार सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर(अर्थशास्त्र)
शहीद मंगल पाण्डेय राजकीय महिला महाविद्यालय, बलिया
डॉ ऋषि विवेक धर
असिस्टेंट प्रोफेसर(अर्थशास्त्र)
अमरनाथ मिश्र पी जी कॉलेज ,दुबे छपरा , बलिया

सारांश

कृषि का वैश्वीकरण, कृषिगत उत्पादों के निर्यात में उत्पादों की संख्या बढ़ाने के लिए अपार अवसर प्रदान करता है। यह केवल हमारे उत्पादन प्रणाली में वृद्धि की दक्षता, उत्पादन की गुणवत्ता में सुधार, मूल्य संवर्द्धन, बाजार सूचना और लम्बी अवधि में अच्छी तरह से देश के भीतर और बाहर दोनों में से एक अनुकूल माहौल से पूरी तरह समर्थित निर्यात नीतियों और नियोजनों के माध्यम से प्रयोग किया जा सकता है जिसके अपार अवसर मौजूद हैं। लेकिन वर्तमान में इन अवसरों का पूर्ण उपयोग नहीं किया गया है। इस सम्बन्ध में एकल खिड़की प्रणाली पर जोर देने के साथ–साथ एक संस्थागत तंत्र भारत से कृषिगत उत्पादों के निर्यात की पूरी प्रक्रिया को उत्प्रेरित करेगा। भारतीय आर्थिक समीक्षा में वर्ष 2022–23 में 8.0 से 8.5 प्रतिशत आर्थिक विकास का अनुमान लगाया गया, जबकि कृषि क्षेत्र में 2022–23 में 3.9 प्रतिशत की वृद्धि दर की संभावना की गई। समीक्षा में कहा गया की महामारी का कृषि और उससे जुड़े क्षेत्र पर बहुत के असर पड़ा है। व्यापक आर्थिक स्थायित्व संकेतक यह इंगित कर रहे हैं कि भारतीय अर्थव्यवस्था 2023–24 की चुनौतियों का सामना करने के लिए पूरी तरह तत्पर है और इसका कारण यह है की अर्थव्यवस्था अपनी विशिष्ट प्रतिक्रिया रणनीति के तहत अच्छी स्थिति में है ।

मुख्य शब्द– कृषिगत निर्यात ,भारतीय कृषिगत निर्यात संरचना और दिशा ,चाय का निर्यात ,मसाले का निर्यात ,भारतीय कृषि का महत्व**,** कृषि और आर्थिक विकास

प्रस्तावना

कृषि क्षेत्र भारतीय अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है और यह अर्थव्यवस्था को कई प्रकार से सहयोग प्रदान करता है। वर्ष 1985 ई0 में कृषि के महत्व को रेखाकिंत करते हुए कृषि प्रशासनिक समिति ने कहा था *''कृषि ही सभी उद्योगों की जननी है और मनुष्य को जीवन प्रदान करने वाली है।''* कृषि क्षेत्र केवल खाद्यान्न और चारा ही उपलब्ध नहीं कराता है वरन उद्यमों को कच्चे माल की आपूर्ति भी करता है। कृषिगत वस्तुओं के निर्यात का भारत के कुल निर्यातों में योगदान वर्ष 1960–61 ई0 में 44.3 प्रतिशत था वहीं कम होकर 1980–81 में 30.7 प्रतिशत था तथा 2020–21 ई0 में 10.24 प्रतिशत रह गया। यदि कृषिगत क्षेत्र द्वारा उपलब्ध कराये गये कच्चे माल से निर्मित निर्यातों को भी शामिल कर लें तो यह भारत के कुल निर्यातों का 20% से अधिक उपलब्ध कराता है।

आर्थिक विकास करना विश्व के किसी भी देश का महत्वपूर्ण उद्देश्य होता है और बहुत से देशों ने निर्यात आधारित कृषि को विकास का आधार बनाया है। भारत में कृषिगत उत्पादों का निर्यात अर्थव्यवस्था के विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भारत के निर्यातों में कृषिगत उत्पादों के निर्यातों की भूमिका प्रारम्भ से ही महत्वपूर्ण रही हैं। कृषिगत उत्पादों के निर्यात प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार उत्पन्न करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं साथ ही साथ इनके द्वारा ग्रामीण सीमान्त किसानों तथा ग्रामीण जनसंख्या के आय के स्तर में भी सुधार हुआ है। ग्रामीण विकास और कृषिगत उत्पादों के निर्यात न एक दूसरे से सम्बन्धित है वरन् एक दूसरे को प्रभावित भी करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी भारतीय कृषि की भूमिका को इन्कार नहीं किया जा सकता है। विश्व बाजार में परम्परागत कृषि वस्तुओं के साथ–साथ ताजे फल और परिष्कृत फलों और सब्जियों की संभाव्य मांग उपलब्ध है। आज भारत विभिन्न राष्ट्रों को प्रचुर मात्रा में मसाले, तिलहन, तम्बाकू, मेवे आदि का निर्यात करता है, जिसका आधार कृषि ही है। भारतीय कृषि क्षेत्र द्वारा उत्पादित एवं विनिर्मित वस्तुओं के भी बड़े निर्यातक हैं। अच्छे किस्म एवं गुणवत्तापूर्ण उत्पादों की वजह से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत की छवि अच्छी बनी हुई है। इनके निर्यात से हमें विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है जिससे हमारी अर्थव्यवस्था सुदृढ़ होती है।

भौगोलिक और प्राकृतिक विविधताओं के पश्चात् भी हमारा देश भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है और वर्तमान में भी देश की लगभग दो तिहाई जनसंख्या प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर आश्रित है। भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का निष्पादन देश की अर्थव्यवस्था को हमेशा से प्रभावित करता रहा है। यद्यपि देश के सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का योगदान लगातार कम होने की प्रवृत्ति पायी गयी है। देश के सकल घरेलू उत्पाद में वर्ष 2018–2019 में कृषि का योगदान 16.10 प्रतिशत (वर्ष 2011–12 की कीमतों पर) तथा इस कृषि क्षेत्र द्वारा कुल कार्यशील जनसंख्या के 48.9 प्रतिशत (2011 की जनगणना के आधार पर) लोगों को प्रत्यक्ष रूप से रोजगार प्रदान किया गया।

वर्ष 1990 से पूर्व अधिकांश भारतीय कृषिगत उत्पादों के निर्यात विभिन्न प्रकार के नियंत्रण के अधीन थे। प्रारम्भ में कृषिगत उत्पादों के निर्यात का उद्देश्य सर्वप्रथम आत्मनिर्भरता को प्राप्त करना था इसीलिए कृषिगत उत्पादों के निर्यातों को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया गया। लगभग 60% कृषिगत एवं पशुधन उत्पाद वर्ष 1992 ई0 के अंत तक निर्यात नियंत्रण की सीमा में थे। कृषिगत उत्पादों के निर्यातों पर नियंत्रण का मुख्य उद्देश्य घरेलू कीमतों को व्यावहारिक स्तर पर बनाये रखना जिससे निर्यातों का दुष्प्रभाव घरेलू कीमतों पर न पड़ सके। इन विभिन्न प्रकार के नियंत्रणों से आयातों एवं निर्यातों में अनिश्चितता पायी गयी, साथ ही दीर्घ कालीन निवेशों में कमी की प्रवृत्ति पायी गयी।

कृषि में विकास एवं निवेश को गति देने में महत्वपूर्ण भूमिका कृषि में सकल पूंजी निर्माण (AGCF) की होती है। जो वस्तुतः कृषि G.D.P. के प्रतिशत के तौर पर सरकारी व निजी दोनों क्षेत्रों का वास्तविक निवेश होता है। राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी के अनुसार भारत में कृषि में निवेश मुख्यतः मध्यम व बड़ी सिंचाई परियोजनाओं में होता है। यद्यपि यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि भारत में कृषि क्षेत्र में सार्वजनिक क्षेत्र का निवेश कुल निवेश का मात्र 20 प्रतिशत है। निजी क्षेत्र शेष 80 प्रतिशत निवेश करता है। 1980 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में AGCF में सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के निवेश का अंश (घरेलू क्षेत्र सहित) लगभग समान रहा करता था परन्तु 2000 के दशक के आते–आते निजी निवेश सरकारी निवेश का चार गुना से भी अधिक हो गया। निजी क्षेत्र का निवेश सरकारी निवेश के पूरक के रूप में कार्य करता है। कृषि विकास को गति देने में 21वीं सदी के पहले दशक में बेहतर मूल्य के रूप में उन्नत निवेश ने उत्प्रेरक का काम किया है।

कृषि एवं आर्थिक विकास–

किसी देश की अर्थव्यवस्था में कृषि क्षेत्र, आर्थिक विकास की प्रक्रिया में एक रणनीतिक भूमिका निभाता है। विश्व के प्रत्येक का आर्थिक ढांचा उस देश विशेष के प्रकृति प्रदत्त संसाधनों, उनके दोहन, वहाँ की सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियों आदि से प्रभावित होता है। खासकर ऐसी स्थितियाँ उन अल्प विकसित राष्ट्रों की जिनकी अर्थव्यवस्था पूर्णरूपेण कृषि पर आश्रित होती हैं।

कृषि प्राचीन समय से ही मानव के जीवन यापन का प्रमुख आधार रही है। वर्तमान औद्योगिक काल में भी कृषि क्षेत्र विश्व के अधिकांश देशों की जनसंख्या का प्रमुख व्यवसाय व आय का स्रोत है। वास्तव में कृषि सभी प्रकार के उद्योगों की जननी, मानवीय क्रियाकलापों की पोषक, प्रगति व सम्पन्नता की प्रतीक मानी जाती है। आधुनिक काल में विश्व में समस्त विकसित व विकासशील देश उपलब्ध संसाधनों का अपनी क्षमता एवं परिस्थितियों के अनुसार अनुकूलतम प्रयोग कर कृषि उत्पादों में गुणात्मक एवं परिमाणात्मक सुधार तथा व्यवासायिक कृषि के प्रगतिशील विकास हेतु सतत प्रयासरत हैं।

विकासशील अर्थव्यवस्था वाले देशों में कृषि प्रधान व्यवसाय होने के कारण राष्ट्रीय आय का सबसे बड़ा स्रोत, जीवन–यापन एवं रोजगार का प्रमुख साधन, औद्योगिक विकास, वाणिज्य एवं वदेशी व्यापार का प्रमुख आधार है। जैसा हम जानते है कि कृषि विकासशील अर्थव्यवस्था वाले देशों की रीढ़ तथा विकास की कुंजी है आज कृषि क्षेत्र के विकास के सोपान पर आरूढ़ होकर ही विश्व की अनेक विकसित अर्थव्यवस्थाएं आर्थिक विकास के शिखर पर हैं। विकसित देशों जैसे इंग्लैण्ड, रूस, जर्मनी, जापान आदि के आर्थिक विकास में कृषि ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है तथा तीव्र औद्योगीकरण के लिए किए सुदृण आधार प्रदान करने का काम किया है। कृषि के इसी महत्व के कारण प्राचीन काल से लेकर आज तक के विचारकों ने कृषि विकास का पुरजोर समर्थन किया है।

केने का वकत्व्य है कि – ''कृषि राष्ट्र की अमूल्य सम्पत्ति तथा समस्त जनमानस के धन का स्रोत है। फलतः कृषि का लाभप्रद व्यवहार वहाँ की सरकार एवं देश के लिए अनुकूल स्थिति होगी।'' किसी भी अर्थव्यवस्था के आर्थिक विकास में कृषि क्षेत्र निम्न प्रकार से योगदान करती है– 1.कृषि क्षेत्र द्वारा अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों को खाद्यान्न व कच्चा माल उपलब्ध कराती है।2. कृषिक्षेत्र अन्य प्रगतिशील क्षेत्रों का ''निवेश योग्य अतिरेक'' प्रदान करती है। परिणाम स्वरूप बिक्री योग्य बचत के विक्रय द्वारा ग्रामीण जनसंख्या को प्राप्त राशि से देश की अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों के उत्पादों की मांग में वृद्धि होती है। कृषि अर्थव्यवस्था को कृषिगत वस्तुओं के निर्यातों द्वारा या आयात प्रतिस्थापन द्वारा विदेशी विनिमय के दबाव से छुटकारा प्रदान करती है और श्रमिक वर्ग को रोजगार के अवसर उपलब्ध कराती है।

कृषि को महत्ता का वर्णन करते हुए गांधी जी ने कहा था कि – ''प्रारम्भ से ही मेरा यह अटूट विश्वास रहा है कि केवल कृषि ही इस देश की जनता को एक अचूक और निरन्तर सहायता प्रदान करती है।''

जो भारत लगभग सन् 1925 ई0 तक खाद्यान्नों का निबल निर्यात करता था, 1943 के बंगाल दुर्भिक्ष के बाद से वह उनका आयात करने लगा। 1970 तक के बीस वर्ष में खाद्य सामग्री के आयात पर हमें औसतन 207.8 करोड़ रूपया प्रतिवर्ष खर्च करना पड़ता था और 1970 के बाद के पांच वर्षों में अर्थात 1971–76 में इस मद में खर्च बढ़कर 414.14 करोड़ वार्षिक हो गया। वर्ष 1974, 1975, तथा 1976 के तीन वर्षों के अवधि में ही 18796000 मीट्रिक टन खाद्यान्न का आयात किया जिसका मूल्य 2503 करोड़ रूपया हुआ (इसमें 461 करोड़ रूपये किराया भी शामिल है)। इसमें अमेरिकी–भारत समझौते, विश्व खाद्य कार्यक्रम, केयर इत्यादि के समान कार्यक्रमों के अन्तर्गत उपहार के रूप में प्राप्त खाद्य सम्मिलित नहीं है। वर्ष 1965–67 के दो वर्षों के दौरान 4576000 मीट्रिक टन गेहूँ भेंट के रूप में मिला। 1975 ई0 में केवल कनाडा से 37.8 करोड़ रूपये

मूल्य का 250000 मीट्रिक टन गेहूं भेंट मिला। हमें केवल खाद्यान्न ही नहीं, कृषि से प्राप्त होने वाले कच्चे माल का भी आयात करना पड़ा। मिसाल के लिए कपड़ा जो भोजन के बाद मनुष्य के लिए सबसे अधिक आवश्यक वस्तु है उसके उत्पादन के लिए आवश्यक कच्चा माल भी हमें बाहर से मंगाना पड़ता था। सन् 1971–72 तक विश्व मंडी में लम्बी रेशे के कपास के मुख्य खरीददारों में भारत की गिनती होती थी।

विकासोन्मुख कृषि से उत्पन्न अतिरिक्त खाद्य पदार्थ व कच्चा माल हमें विदेशी मुद्रा कमाने में बहुत मदद दे सकते हैं और इस विदेशी मुद्रा से हम औद्योगिक विकास के लिए पूंजीगत माल का आयात कर सकते है– ऐसे पूंजीगत माल का जिसकी आवश्यकता हर देश को होती है चाहे उसकी अर्थव्यवस्था कैसी भी हो। कनाड़ा ने अपने उद्योगों का निर्माण इमारती लकड़ी का निर्यात करके तथा जापान ने रेशम का निर्यात करके किया है।

कृषि की उपेक्षा के बाद भी 1974–75 तक हमारे देश से निर्यात हुए मुख्य माल का पूरा दो तिहाई ऐसा माल था जो कृषि की उपज का था। कृषि में मत्स्य, वन तथा पशुपालन क्षेत्र के उत्पाद शामिल है। उस वर्ष हमारे देश से निर्यात हुए माल का 79 प्रतिशत ऐसा माल था जिसे हमारे यहां का मुख्य निर्यात माल कहा जाता है और शेष 21 प्रतिशत ऐसा निर्यात था जिसे छोटा–मोटा समझना चाहिए। इस छोटे–मोटे निर्यात में कृषि एवं कृषितर दोनों क्षेत्रो का ही माल था। 1950–51 में मुख्य निर्यात का 77 प्रतिशत कृषि का उत्पाद था और छोटा–मोटा निर्यात 23 प्रतिशत था।

इसके अतिरिक्त औद्योगिक विकास तभी हो सकता है जब कृषि क्षेत्र में समृद्धि हो या बहुत हुआ तो दोनों साथ–साथ हो सकते हैं। लेकिन औद्योगिक विकास पहले हो, बाद को कृषि में खुशहाली आये यह नहीं हो सकता। जब कृषक के पास क्रय शक्ति हो तभी औद्योगिक व कृषितर क्षेत्र के माल व सेवाओं (जैसे शिक्षा, परिवहन, विद्युत) की मांग पैदा हो सकती है।

क्रय शक्ति कृषि की उपज बेंचकर ही उत्पन्न हो सकती है चाहे बिक्री देश में हो या देश के बाहर। जितना अधिक बिक्री के लिए अतिरिक्त उत्पादन होगा, उतना ही बेंचने वाले अथवा कृषि के उत्पादक की क्रय शक्ति बढ़ेगी। जहाँ जन साधारण की क्रय शक्ति नहीं बढ़ती, अर्थात जहाँ कृषकों के उपयोग से अधिक अतिरिक्त उत्पादन नहीं होता, वहाँ कोई औद्योगिक संमृद्धि नहीं हो सकती। कृषि विकास से एक ओर तो जनमानस को क्रयशक्ति मिलेगी, जिससे वह तैयार माल व सेवाएं खरीद सकेंगे, दूसरी ओर कामगारों को अवसर मिलेगा जिससे वे औद्योगिक विकास तथा रोजगार प्राप्त कर सकें।

कृषि एवं उद्योग

कृषि एवं उद्योग किसी भी विकासशील राष्ट्र की विकास प्रक्रिया में उनकी परस्पर आश्रितता और आपसी सम्बन्धों के कारण एक दूसरे के पूरक है। औद्योगिक विकास भी कृषि क्षेत्र के विकास के लिए एक आवश्यक घटक है। औद्योगिक क्षेत्र का विकास, कृषि क्षेत्र के विकास में कई महत्वपूर्ण योगदान देता है– प्रथम औद्योगिक क्षेत्र, कृषि क्षेत्र को आधुनिकतम कृषि आगतों, जैसे–नवीनतम कृषि यंत्रों, कीटनाशक दवाईयों, उर्वरक, उच्च उत्पादकता वाले बीजों आदि की आपूर्ति करता है। द्वितीयक योगदान के रूप में औद्योगिक क्षेत्र कृषिक्षेत्र के विकास के लिए आधार भूत संरचनात्मक आवश्यकताओं की आपूर्ति करता है जिनमें– विद्युत ऊर्जा, परिवहन व्यवस्था, पर्याप्त संचार व्यवस्था सामाजिक उपरिव्यय पूंजी नवीनतम तकनीकि आदि। तृतीयक अंशदान के रूप में औद्योगिक क्षेत्र वैकल्पिक रोजगार की संभावनाएं उत्पन्न करके तथा श्रमिकों के स्थानांतरण को अनुकूलतम बना करके कृषि क्षेत्र में व्याप्त जनसंख्या के दबाव को कम करने में योगदान करता है।

विकासशील अर्थव्यवस्थाओं खासकर भारत के संदर्भ में समग्र औद्योगिक एवं आर्थिक विकास के लिए कृषि क्षेत्र का विकास अत्यंत आवश्यक है। इसके लिए निम्न प्रकार के परिवर्तन आवश्यक है–

(1) कृषिगत उत्पादों के उत्पादन में वृद्धि

(2) औद्योगिक क्षेत्र के लिए आवश्यक कृषिगत उत्पादों की संरचना में परिवर्तन

(3) बजाज अधिशेष में आवश्यक वृद्धि

उपर्युक्त विश्लेषणों का अध्ययन करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि कृषि क्षेत्र एवं औद्योगिक क्षेत्र के बीच अन्तक्षेत्रीय संबंध पाया जाता है जिसमें उनके द्वारा उत्पादित वस्तुएं एक दूसरे क्षेत्र के लिए आगत– निर्गत के रूप में कार्य करती है, साथ ही एक क्षेत्र के उत्पादक दूसरे क्षेत्र के लिए उपभोक्ता के रूप में कार्य करते हैं। जहाँ तक सरकार का प्रश्न है सरकार दोनों क्षेत्रों के समग्र हितों की रक्षा के लिए एवं उनके बीच आपसी संतुलन बनाये रखने के उद्देश्य से नीतियों का निर्माण करती है।

भारत में कृषिगत उत्पादों के निर्यात की रूपरेखा –

कृषि का वैश्वीकरण, कृषिगत उत्पादों के निर्यात में उत्पादों की संख्या बढ़ाने के लिए अपार अवसर प्रदान करता है। यह केवल हमारे उत्पादन प्रणाली में वृद्धि की दक्षता, उत्पादन की गुणवत्ता में सुधार, मूल्य संवर्द्धन, बाजार सूचना और लम्बी अवधि में अच्छी तरह से देश के भीतर और बाहर दोनों में से एक अनुकूल माहौल से पूरी तरह समर्थित निर्यात नीतियों और नियोजनों के माध्यम से प्रयोग किया जा सकता है जिसके अपार अवसर मौजूद हैं। लेकिन वर्तमान में इन अवसरों का पूर्ण उपयोग नहीं किया गया है। इस सम्बन्ध में एकल खिड़की प्रणाली पर जोर देने के साथ–साथ एक संस्थागत तंत्र भारत से कृषिगत उत्पादों के निर्यात की पूरी प्रक्रिया को उत्प्रेरित करेगा।

भारत में निर्यातों का वर्गीकरण मुख्य रूप से दो भागों में किया जा सकता है–

(i) कृषिगत वस्तुओं का निर्यात

(ii) गैर कृषिगत वस्तुओं का निर्यात

चूँकि भारत एक कृषि प्रधान देश है और देश की अर्थव्यवस्था में कृषि क्षेत्र की महती भूमिका है। देश की जीवन निर्वाह, पूंजी निर्माण, रोजगार, राष्ट्रीय आय, विदेशी व्यापार और औद्योगिक विकास आदि में कृषि क्षेत्र की भूमिका के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। देश की लगभग 70 प्रतिशत जनसंख्या कृषि कार्य में संलग्न है तथा कुल जनसंख्या का लगभग 52 प्रतिशत श्रमिकों को रोजगार प्राप्त है। विगत कुछ वर्षों में चावल, गेहूं, तिलहन, गन्ना तथा अन्य नगदी फसलों के पैदावार में वृद्धि हुई है। भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि क्षेत्र के सराहनीय योगदान के साथ–साथ वैश्विक स्तर पर भी कृषि क्षेत्र का महत्व बना हुआ है। चाय और मूंगफली के उत्पादन में भारत को विश्व में प्रथम स्थान प्राप्त है तो वहीं चावल जैसी महत्वपूर्ण खाद्य फसल के उत्पादन में दूसरा तथा तम्बाकू के उत्पादन में तीसरा स्थान प्राप्त है। (आर्थिक समीक्षा 2018–19)

कृषिगत वस्तुओं के निर्यात के अन्तर्गत वनीय उत्पाद, बागवानी तथा अन्य कृषिगत उत्पादों के प्रसंस्करण, भण्डारण व निर्यात के साथ ही साथ कृषिगत उपकरणों का वितरण और अर्न्तराज्यीय स्तर पर कृषिगत वस्तुओं का व्यापार भी शामिल है। इसके अतिरिक्त कृषिगत वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि हेतु वैज्ञानिक तकनीकी सहायता प्रदान करना भी निर्यात की रूपरेखा में शामिल है। कृषिगत वस्तुओं के निर्यातों के क्रियाकलापों के अन्तर्गत उत्पादों के परिवहन, प्रसंस्करण, भण्डारण, ग्रेडिंग आदि जैसी गतिविधियाँ सम्मिलित है, जो देश भी अर्थव्यवस्था के सुदृणीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।कृषिगत वस्तुओं के निर्यात का तात्पर्य उन निर्यातों

से है जिनका उत्पादन कृषि क्षेत्र द्वारा किया जाता है जबकि कृषि क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों द्वारा उत्पादित वस्तु के निर्यात को गैर कृषिगत उत्पादों के निर्यात कहते हैं।

यद्यपि स्वतंत्रता के बाद यह पद्धति देखने में आयी है कि जहाँ भारत के कुल निर्यातों में कृषिगत उत्पादों के निर्यातों के योगदान में कमी पायी गयी वहीं गैर कृषिगत उत्पादों के निर्यात में वृद्धि की प्रकृति पायी गयी है। भारत के कृषिगत उत्पादों के निर्यातों की संरचना पर दृष्टि डालें तो यह देखा गया कि खासकर द्वितीय चरण (2000–01) के आर्थिक सुधारों के उपरान्त कृषिगत वस्तुओं के निर्यात में कमी की प्रवृत्ति पायी गयी साथ ही गैर कृषिगत वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि दर्ज की गयी है। जैसे वर्ष 2001–02 में जहां कृषिगत वस्तुओं का निर्यात 13.5% था बाद के वर्षों में घटते–घटते वर्ष 2008–2009 में 9.1 प्रतिशत तथा 2013–14 में बढ़कर 13.7% तथा 2018–19 में घटकर 11.8% रह गया है वहीं गैर कृषिगत वस्तुओं के निर्यात 2001–02 में 82.2% से बढ़कर 2012–13 में 84.0% हो गया तथा 2018–19 में 84.8% हो गया है। (आर्थिक समीक्षा 2018–2019)

अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार और भारतीय कृषिगत वस्तुओं के निर्यात

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आशय, अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं या क्षेत्रों के आर–पार पूंजी, माल व सेवाओं का आदान प्रदान करना है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अधिकांश देशों में सकल घरेलू उत्पाद (GDP) के महत्वपूर्ण भाग के रूप में पाया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि क्षेत्र का योगदान न केवल राष्ट्रीय आय में, रोजगार के सृजन में और औद्योगिक विकास में रहा है बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी कृषि क्षेत्र का महत्वपूर्ण योगदान पाया गया। भारतीय कृषि की भूमिका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में लगातार दृष्टिगोचर होती है। कई कृषि पदार्थ जैसे चाय, मसाले, तम्बाकू, तिलहन और चीनी भारत के महत्वपूर्ण कृषिगत उत्पादों के निर्यात रहे हैं। यदि 1950–51 ई0 के भारत के निर्यातों का विश्लेषण करें तो लगभग 50 प्रतिशत निर्यात कृषि क्षेत्र से सम्बन्धित थे। 1960 के दशक में भारत के तीन महत्वपूर्ण निर्यात जूट, चाय, और सूती वस्त्र थे जिन्हें भारत का परम्परागत निर्यात कहा जाता है। यद्यपि उदारीकरण के बाद कृषिगत उत्पादों के निर्यातों में विविधीकरण पाया गया और कुल निर्यातों में कृषि क्षेत्र के हिस्से में कमी पायी गई। नीचे तालिका में APEDA (Agricultural And Processed Food Products Export Development Authority) Report 2018 के आधार पर कृषिगत उत्पादों के निर्यात की वस्तुओं का मात्रात्मक आंकड़ा प्रदर्शित है–

क्रम संख्या	वस्तुएँ	2010-2011	2011-2012	2012-2013	2013-2014	2014-2015	2015 &-2016	2016-2017	2017-2018
1)	चाय	**736.2**	**851.1**	**867.3**	**798**	**680**	**719**	**734**	**837**
2)	मसाले	**1730.9**	**2734.1**	**2789.3**	**2497**	**2429**	**2502**	**2890**	**3104**

3)	चावल	**2542.9**	**5030.7**	**6222.8**	**7784**	**7853**	**5847**	**5748**	**7733**
4)	तम्बाकू	**874.7**	**836.0**	**924.5**	**1013.9**	**958**	**980**	**961**	**933**

Table :1 (Source: APEDA Report; 2018

विश्व व्यापार संगठन की व्यापार सांख्यिकी के अनुसार वर्ष 2020–21 में भारत के कृषिगत उत्पादों के निर्यात और आयात का हिस्सा क्रमशः 2.2 प्रतिशत (41.25 बिलियन डालर) और 1.6 प्रतिशत (20.67 बिलियन डालर) था। कृषि के सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में कृषिगत उत्पादों के निर्यात वर्ष 2009–10 में 7.7 प्रतिशत से बढ़कर 2020–2021 में 19.9 प्रतिशत हो गया है। इसी अवधि में कृषि के सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में कृषि आयात भी 4.90% से बढ़कर 5.82% हो गया।

भारत के कृषिगत उत्पादों का निर्यात वर्ष 2016–17 से 2020–2021 के बीच 4.6% था जिसका मुख्य कारण समुद्री उत्पाद, गैर बासमती चावल था। यद्यपि 2012–13 की तुलना में वर्ष 2018–19 में भारत के कुल निर्यातों में कृषिगत निर्यात का हिस्सा कम हुआ है। DGCI & S, Kolkata (2018) के अनुसार भारत के महत्वपूर्ण कृषिगत उत्पादों के निर्यात को यदि कीमतों के संदर्भ में विश्लेषित करें तो बासमती चावल, बासमती के अतिरिक्त अन्य चावल, मसाले तथा कपास हैं। जो तालिका में अंकित हैं–

वस्तुएं	2016 - 2017	2017 - 2018	2018 - 2019	2019-20	2020-21
बासमती चावल	21512.91	26870.67	32804.30	31026.33	29847.70
अन्य चावल	16929.88	23437.23	21171.17	14400.32	13149.21
गेहूं	447.85	624.37	424.47	444.20	4173.08
अन्य अनाज	1425.77	1604.28	2426.07	1454.71	5198.42
मसाले	19111.25	20084.91	23217.77	25642.04	29529.39
कपास	10907.32	12200.05	14627.55	7539.53	13968.38

Table:2 Source : DGCI & S, Department of Commerce - 2022 (value in Crore), Agricultural statistics at a glance,2022

विश्व व्यापार संगठन (WTO) की पूर्ववर्ती संस्था जनरल एग्रीमेंट ऑन टैरीफ्स एण्ड ट्रेड (GATT) की स्थापना द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की गयी। इस नियम आधारित संगठन का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ाना था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विकासशील देशों की स्थिति यह थी कि वे अपने कृषि माल के लिए कीमतें तो मांगते थे लेकिन अपने उत्पादन उद्योगों का संरक्षण नहीं कर पाते थे। विकासशील देशों से निर्यात की प्रमुख वस्तुएं कृषि उत्पाद थी। लेकिन गरीब देशों को अक्सर व्यापार में गिरावट वाले नियमों का सामना करना पड़ता था। मूल्यों में लचीलापन होता था। अतः मूल्य कम हो जाने के कारण अधिक आय नहीं हो पाती थी। अर्थशास्त्री जगदीश भगवती (1958) ने इस स्थिति को '**विस्मय पैदा करने वाली वृद्धि**' बताया था। जहाँ व्यापार की गिरावट वाली शर्तें वृद्धि दर पर नकारात्मक प्रभाव डाल रही थीं। अतः विकासशील देशों ने आयात प्रतिस्थापन नीति को अपनाते हुए घरेलू उद्योगों को बढ़ावा देना शुरू किया।

कृषिगत उत्पादों के निर्यातों में कमी का मुख्य कारण WTO उरूग्वे राउंड में होने वाले कृषि समझौते (AOA) को भी माना जाता है और इसीलिए जहाँ 1991 ई0 में भारत के कुल निर्यातों में कृषि क्षेत्र का योगदान 25.8% था वह 2008–09 में न्यूनतम 9.64% हो गया जबकि 2020–21 में यह 14.30% पाया गया। इसी प्रकार गैर कृषिगत उत्पादों के निर्यातों का भारत के कुल निर्यातों में योगदान जो 1990–1991 में 74.2% था 2008–09 में बढ़कर 90.3% हो गया ।

कृषि उत्पादों के वैश्विक व्यापार में भारत अग्रणी स्थिति में है किन्तु विश्व कृषि व्यापार में उसका लगभग 2. 2 प्रतिशत योगदान है। भारतीय कृषिगत वस्तुओं के निर्यात में मुख्य भागीदारों में संयुत राज्य अमेरिका, सऊदी अरब, ईरान, नेपाल व बांग्लादेश आते है। महत्वपूर्ण बात यह है कि वर्ष 1991 के आर्थिक सुधारों की शुरूआत से, भारतीय कृषि उत्पादों के निर्यात निरन्तर बने हुए है, जिसने निर्यात के रूप में 2020–21 में 3.08 लाख करोड़ रूपये के आंकड़े को प्राप्त कर लिए हैं। वर्ष 2020–21 में 1.54 लाख करोड़ रूपये का आयात किया गया है।

कृषिगत वस्तुओं के निर्यातों की दिशा

भारत के कृषिगत निर्यातों की संरचना में आजादी के बाद से व्यापक बदलाव भारत में आज़ादी के बाद से हरित क्रांति ,आर्थिक सुधार , आर्थिक उदारीकरण, कृषि का वैश्वीकरण और विश्व व्यापार संगठन के निर्माण के बाद कृषि निर्यात की मात्रा और संरचना में व्यापक परिवर्तन हुआ । विदेशी व्यापार की दिशा का तात्पर्य उन देशों से होता है जिनके द्वारा देश द्वारा व्यापार किया जाता है।यदि भारत के महत्वपूर्ण कृषिगत वस्तुओं के निर्यातों की दिशा का विश्लेषण करें तो इन्हें मुख्य रूप से अमेरिका, यूरोप, एशिया और अफ्रीका जैसे महाद्वीपों के बीच वर्गीकृत किया जा सकता है। कुल निर्यातों में 1960–61 में 78% आर्थिक सहयोग विकास संगठन(OECD) के देशों से कम हो 2017–18 में 39.4% हो गया जबकि इसी दौरान विकासशील देशों को कुल निर्यात 11.8% से बढ़कर 44.1% हो गया ।कुल निर्यातों में एशिया और अफ़्रीकी देशों का हिस्सा बढ़ा है।

भारत द्वारा चाय के निर्यात की दिशा

चाय को भारत के परम्परागत निर्यातों में से एक माना जाता है। 1960 के दशक में जूट, चाय व सूती वस्त्र भारत के तीन महत्वपूर्ण निर्यात थे जो कुल निर्यातों का 50 प्रतिशत पाए गए थे। अकेले चाय का योगदान 19 प्रतिशत का था। वर्तमान समय में यद्यपि भारत चाय के निर्यात में श्रीलंका से पीछे है परन्तु इसका मुख्य कारण चाय के घरेलू मांग में होने वाली वृद्धि है। भारत द्वारा चाय के निर्यात को सारणी में दर्शाया गया है–

सारणी

India's Tea export to Regions
USD Million : 2002-03 to 2020-21

Year	Africa	America	Europe	Asia
2002-03	6.5	27	148.8	148.7
2003-04	5.8	31.7	154.3	152.5
2004-05	5.8	30.9	155.5	199.5
2005-06	6.3	37.7	159.8	168
2006-07	13.7	39.5	178.4	183.5
2012-13	38	73.5	345.9	383.3
2017-18	57.5	78.4	308.2	374.6
2018-19	45.8	73.2	288	408.6
2019-20	35.4	75.0	232.7	329
2020-21	42.0	84.7	242.7	300.5

वर्ष 2002– 2003 में भारत द्वारा एशियाई देशों को कुल 148 US Million $ चाय का निर्यात किया गया जो वर्ष 2006–07 में बढ़कर 183.5 US Million $, वर्ष 2020–21 में 300.5 US Million $ जबकि वर्ष 2018–19 में 408.6US Million $ चाय का निर्यात किया गया।

भारत द्वारा निर्यातित चाय का दूसरा प्रमुख आयातक क्षेत्र यूरोपीय देश रहे है। वर्ष 2002– 2003 में इन देशों को किया गया कुल निर्यात 148.8 US Million $ था जो वर्ष 2006–07 में 178.4 US Million $ तथा वर्ष 2020–21 में 242.7 US Million $ और वर्ष 2018–19 में 288 US Million $ रहा।

भारत द्वारा मसाले के निर्यात की दिशा में परिवर्तन का विश्लेषण

मसाले भारत के कृषिगत वस्तुओं के निर्यातों का प्राचीन काल से एक महत्वपूर्ण भाग रहे हैं। भारत के द्वारा विश्व के विभिन्न देशों को कई प्रकार के मसालों का निर्यात प्राचीन काल से होता रहा है।

सारणी

India's Spices exports to Regions
USD Million : 2002-2003 to 2020-21

Year	Africa	America	Europe	Asia
2002-03	11.6	98.1	87.5	138.3
2003-04	13.5	89.7	73.3	153.5
2004-05	15.8	107.6	89.3	199.1
2005-06	20.7	125.2	108.2	215.1

2006-07	23.3	166.8	139.4	355.7
2012-13	134.4	612	481.5	1,561.00
2017-18	130.1	622.9	464.5	1,848.60
2018-19	152.7	653.7	415.3	2,048.70

सारणी में वर्ष 2002–2003 में एशिया को कुल 138.3 US Million $ मसाले का निर्यात किया गया। जो 2006–07 में बढ़कर 355.7 US Million$ हो गया। वर्ष 2017–18 में एशिया को कुल 1848.6 US Million $ का निर्यात किया गया जो वर्ष 2018–19 में 2048.70 US Million $ पाया गया।

भारत द्वारा यूरोप को वर्ष 2002–2003 में 87.5 US Million $ मसाले का निर्यात किया गया जो वर्ष 2006–07 में बढ़कर 139.4 US Million $ हो गया वर्ष 2017–18 में यह बढ़कर 464.5 US Million $ पाया गया जबकि वर्ष 2018–19 में यह मात्र 415.305 US Million $ रहा।

भारतीय कृषि की महत्ता पर विकासशील अर्थशास्त्री प्रो0 आर्थर लुईस के अनुसार– ''किसी भी देश की अर्थव्यवस्था के आर्थिक विकास की प्रारम्भिक एवं मध्यम अवस्था में कृषि क्षेत्र का महत्वपूर्ण स्थान होता है, क्योंकि इसका राष्ट्रीय आय में, रोजगार प्रदन करने में एवं विदेश व्यापार में सर्वोपरि योगदान होता है।''[1] अर्थशास्त्री प्रो0 कूस के मतानुसार–''अर्थव्यवस्था में कृषक उस धमनी प्रवाह व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग है जिसके द्वारा देश की अर्थव्यवस्था की वस्तुएं एवं सेवायें प्रवाहित होती हैं और यह तथ्य विशेष रूप से एक विकासशील अर्थव्यवस्था के संदर्भ में सत्य है।''[2]

निष्कर्ष

इस प्रकार हम कह सकते है कि कोई भी देश आर्थिक प्रगति के उच्च शिखर पर क्यों न पहुँच जाय वह कृषि क्षेत्र की उपेक्षा नहीं कर सकता है, क्योंकि कृषि अर्थव्यवस्था का मेरूदण्ड है। किसी भी देश की अर्थव्यवस्था चाहे कितनी सम्पन्न ही क्यों न हो उस देश में मनुष्य की बुनियादी आवश्यकताओं जैसे भोजन आदि भी पूर्ति कृषि क्षेत्र द्वारा प्रदान की जाती है। अतः किसी भी राष्ट्र को अपनी बुनियादी आवश्यकताओं के लिए दूसरे राष्ट्र पर निर्भर रहना उचित नहीं कहा जा सकता है। कृषिगत निर्यात की मात्रा और संरचना किसी भी अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान रखता है । बहुत से देशों ने तो इसे आर्थिक विकास का प्रमुख साधन बनाया है ।भारत मे भी कृषिगत निर्यात और ग्रामीण विकास एक–दुसरे से जुड़े हैं और एक–दुसरे को प्रभावित भी करते हैं । भारत अपनी जलवायु , मौसम और मिट्टी की विविधता के कारण कृषिगत उत्पादों में विविधता और विशिष्टता रखता है । इसी कारण अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी भारत के कृषिगत निर्यातों की संभाव्य मांग उपलब्ध है । भारत विश्व के 15 अग्रणी कृषि उत्पादों के निर्यातकों में एक है (State of Indian agriculture 2015–16) ।

भारत के कृषि निर्यातों और उनकी दिशा में ये संरचनात्मक परिवर्तन हरित क्रांति, आर्थिक सुधार, वैश्वीकरण, WTO का समझौता, कृषि क्षेत्र में निवेश प्रवृति में परिवर्तन ,फसलों के उत्पादन में परिवर्तन ,वैश्विक मांग ,विश्व कृषि उत्पादों के कीमत प्रतिस्पर्धा इत्यादि का सम्मिलित परिणाम है । भारत सरकार भी कृषकों की आय को 2015–16 से 2022–23(07 वर्ष) तक दोगुना करना चाहती है और इसमें कृषिगत निर्यात को प्रमुखता

[1] लुईस आर्थर, द थ्योरी ऑफ इकोनॉमिक ग्रोथ, पृ0–4

[2] एरिक रोल, ए हिस्ट्री ऑफ इकोनॉमिक थॉट, पृ0–27

प्रदान करते हुए कृषिगत निर्यात को बढ़ावा देने वाले राज्यों के लिए प्रोत्साहन नीति भी बना रही है । कृषि उत्पादों की मांग मानव अस्तित्व से जुड़ा है इस कारण यह सतत रहने वाली है अत: निर्यात के अवसर भी रहेंगे । ऐसे में प्रतिस्पर्धी माहौल में हमें कृषिगत निर्यातों में शुम्पीटर के नवप्रवर्तन सिद्धांत के अनुरूप नीति की आवश्यता है जो कृषिगत निर्यातों के संरचना और उनकी दिशा का निरंतर विश्लेषण द्वारा ही संभव है ।

References

1. गुन्नार मिर्डाल, इकॉनामिक थ्योरी एण्ड अण्टर डेवलेप्ड रीजन पृष्ठ 9
2. शुल्ज, रोल ऑफ गवर्नमेंट इन प्रोमोटिंग इकोनॉमिक डेवलपमेंट, पृष्ठ 372
3. भारत सरकार कृषि मंत्रालय प्रतिवेदन 2018–19, 2021–22
4. लोकनाथन, द इकानोमिक ऑफ पालिटिकल वीकली पत्रिका 2001
5. अग्रवाल एवं सिंह, द इकोनामिक्स ऑफ अन्डर डेवलमपेंट, पृ0 11–191
6. हिगिन्स, इकानॉमिक डेवलपमेंट, पृ0–07
7. रास्टोव W.W. , द स्टेजेस ऑफ इकोनामिक ग्रोथ, पृ0–2
8. रास्टोव W.W. , द स्टेजेस ऑफ इकोनामिक ग्रोथ, पृ0–16–17
9. मेडिसन, इकॉनामिक प्रोग्रेस एण्ड पालिसी इन डेवलपिंग कन्ट्रीज, पृ0–11–12
10. आर्थिक समीक्षा भारत सरकार 2001–2005, 2017, 2018, 2020, 2022
11. कॉल, हूबर, पापुलेशन ग्रोथ एण्ड, इकोनॉमिक डेवलेपमेंट इन लो इनकम कंट्रीज पृ0 127
12. रिक रोल, ए हिस्ट्री ऑफ इकोनॉमिक थॉट, पृ0–27
13. मेयर एवं वाल्डबिन, इकोनॉमिक डेवलपमेंट, पृ0–25–26
14. रिक रोल, ए हिस्ट्री ऑफ इकोनॉमिक थॉट, पृ0–99
15. लुईस आर्थर, द थ्योरी ऑफ इकोनॉमिक ग्रोथ, पृ0–4
16. एरिक रोल, ए हिस्ट्री ऑफ इकोनॉमिक थॉट, पृ0–27
17. DGCI & S, Kolkata - 2018

Nav Jyoti, Vol. 13, No. 26, January-June 2025 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

रामधारी सिंह दिनकर और उनका राष्ट्रबोध

रोहित कुमार सिंह
शोध छात्र
हिन्दी और अन्य भारतीय भाषा विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

सारांश (Abstract)

रामधारी सिंह 'दिनकर' का रचनाकाल आधुनिक भारतीय इतिहास के जिस कालखंड में व्याप्त है, वह सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्रत्येक युग को सामाजिक, सांस्कृतिक हलचल की ऐसी लहलहाती फसल नसीब नहीं होती है।रामधारी सिंह 'दिनकर' हिंदी के प्रमुख कवि, लेखक व निबंधकार है। दिनकर जी स्वतंत्रता पूर्व एक विद्रोही कवि के रूप में स्थापित हुए और स्वतंत्रता के बाद राष्ट्रकवि के रूप में जाने गए। उनका राष्ट्रबोध केवल राजनीतिक स्वतंत्रता तक सीमित नहीं है, बल्कि विडंबनाओ, विसंगतियों और अंतर्विरोधों के परिणाम स्वरुप सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में फैले हुए हैं,फैले हुए गरीबी, बेरोजगारी, छुआछूत और भ्रष्टाचार से लोहा लेते हुए ब्रिटिश साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकना चाहती है। दिनकर का साहित्य भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की चेतना से अनुप्राणित है और उसमें जनसाधारण की आकांक्षाएं मुखर रूप में अभिव्यक्त होती है। उनके राष्ट्रबोध में नर–नारी, युद्ध– प्रेम, प्रेम– सन्यास, संवेदना– विचार, कर्तव्य–अधिकार, पूंजीवाद–समाजवाद, ऊंच– नीच, अमीरी– गरीबी के बीच समन्वय स्थापित करती हुए, देशवासियों को एकता के सूत्र में बांधने का असफल प्रयास दिखाई पड़ता है। दिनकर ने भोगवाद, भाग्यवाद,अकर्मण्यता,असमानता,सांप्रदायिकता और ब्राह्मणवाद का पुरजोर विरोध किया है।दिनकर का काव्य समाज में व्याप्त कुरीतियों एवं पाखंड के खिलाफ मानवता का प्रतीक बनकर सामने आया है। वे अपने काव्य में ईश्वर, भाग्य या देवी सत्ता से अधिक मनुष्य को महत्वपूर्ण माना है। वे मनुष्य को कर्मशील, संघर्षशील और इतिहास निर्माता के रूप में देखते हैं। देश में चल रहे राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम ने दिनकर की चेतना को गढ़ा है। दिनकर के काव्य में ओज और पौरुष विद्यमान है यह ओज और पौरुष अकारण नहीं आया है, बल्कि उसके मूल में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का समावेश है। वे समाज में व्याप्त सभी प्रकार के अन्याय के खिलाफ है। संपूर्ण अन्याय की जड़ पूंजी को मानते हैं। जिसने समाज को कई स्तरों पर बाट दिया है ।दिनकर समय की भीषण गर्जना को अपने तीक्ष्ण विवेक से भांप गए थे और उस भीषण गर्जना पर उन्होंने बेहतरीन ढंग से विजय प्राप्त की। दिनकर जी जनचेतना, राष्ट्रीयता और प्रेम के संस्थापक कवि हैं ।उनका संपूर्ण रचना साहित्य हमारी जातिय साहित्य की अनमोल धरोहर है।कुरुक्षेत्र, उर्वशी,रश्मिरथी,रेणुका, हुंकार,रसवंती, सामधेनी और परशुराम की प्रतीक्षा आदि काव्य कृतियां ऐसी कृतियां हैं जो आज भी प्रासंगिक है।उनके केवल काव्य में ही नहीं, बल्कि गद्य साहित्य के माध्यम से भी राष्ट्रबोध को देखा और समझा जा सकता है। उनके गद्य कृतियां– मिट्टी की ओर, अर्धनारीश्वर, लोकदेव नेहरू, वेणुवन, मेरी यात्राएं, संस्कृति के चार– अध्याय आदि हैं।

बीज शब्द–: सांस्कृतिक, विद्रोही, राष्ट्रबोध, विडंबना, विसंगति, अंतर्विरोध, बेरोजगारी, छुआछूत, भ्रष्टाचार, जनसाधारण, आकांक्षा, राष्ट्रीय–चेतना, भाग्यवाद, भोगवाद, अकर्मण्यता, सांप्रदायिकता, ब्राह्मणवाद, मानवता, स्वतंत्रता, संघर्ष, कर्म, जनचेतना, राष्ट्रीयता।

राष्ट्रबोध का अर्थ है–राष्ट्र के प्रति आंतरिक अनुभूति, सांस्कृतिक पहचान और ऐतिहासिक निरंतरता का बोध। यह संवेदनात्मक और वैचारिक होता है। यह संस्कृति, परंपरा, भाषा, साहित्य,धर्म,दर्शन से जुड़ा होता है। यह व्यक्ति के अंतर्मन में विकसित होने वाली भावना है।

हिंदी साहित्य में राष्ट्रबोध की परंपरा आदिकाल से चली आ रही है किंतु आधुनिक युग में यह चेतना सर्वाधिक मुखर रूप में हिंदी साहित्य के कवियों व लेखकों में दिखाई देती है। राष्ट्रबोध के विकास की शुरुआत जो भारतेंदु युग में हुई थी। वह द्विवेदीयुगीन पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण से पोषित होती हुई, प्रसाद, पंत,निराला आदि छायावादी कवियों के यहां विकसित हुई और दिनकर के यहां चरम विकास के रूप में परिणत हुई। दिनकर स्वतंत्रता आंदोलन के साक्षी और सहभागी रहे। उनका साहित्य औपनिवेशिक दासता के विरुद्ध प्रतिरोध का स्वर बनकर उभरा। उन्होंने राष्ट्र को केवल राजनीतिक स्वतंत्रता तक सीमित न रखकर उसे सांस्कृतिक गौरव, सामाजिक न्याय और मानवी गरिमा से जोड़ा।

राष्ट्रबोध से आशय उस चेतना से है जिसके माध्यम से व्यक्ति राष्ट्र के इतिहास, संस्कृति, परंपरा, भाषा,समाज और भविष्य से आत्मिक रूप से जुड़ता है। यह चेतना केवल भावनात्मक नहीं,बल्कि वैचारिक और नैतिक भी होती है। दिनकर के लिए राष्ट्रबोध का अर्थ है– राष्ट्रीय स्वाभिमान की रक्षा,सामाजिक विषमता का विरोध, सांस्कृतिक विरासत का पुनर्जागरण, मानवता और लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना करना।

रामधारी सिंह दिनकर की ख्याति मुख्य राष्ट्रीय कवि के रूप में रही है। अतीत और वर्तमान के प्रति कवि की अनुभूति अत्यंत सजक रहा है। यह लिखते हैं कि मेरे अंदर कवि हृदय भारतीय जनता की व्याकुलता से प्राप्त हुआ है–**"मेरी कविता के भीतर जो अनुभूतियां थी, जिसके अंक में बैठकर मैं रचना कर रहा था।कवि होने का सामर्थ शायद मुझ में नहीं थी। यह क्षमता मुझे भारतवर्ष का ध्यान करने से जागृत हुई।यह शक्ति मुझ में भारतीय जनता की आकुलता से आत्मसात करने से स्फुरित हुई।**[1]

दिनकर मातृभूमि से प्रेम करते हैं।उनकी सहज कोमल भावना में प्रकृति के प्रति सहज आकर्षण विद्यमान है। भारत माता अथवा मातृभूमि के प्रति प्रेम उनके साहित्य में सहज ही दिखाई पड़ते हैं। भारत माता की पूजा करने के विविध आयाम है। केवल मूर्ति बैठाकर, फुल चढा़कर ही पूजा नहीं होती बल्कि सच्चे हृदय से देश की महानता का वर्णन तथा स्वाधीनता की ललक के लिए किए गए प्रयत्न भी पूजा के अंतर्गत ही समाहित है।

मातृभूमि के प्रति अनुराग दिनकर की कविताओं में अधिक दिखाई दिया है। हिमालय जो भारत माता का मुकुट है कवि ने इसी यति को जानने का आवाहन किया है–

मेरे नगपति! मेरे विशाल!
साकार,दिव्य, गौरव विराट
पौरुष की पूंजीभूत ज्वाल!
मेरी जननी के हिम कीरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल
मेरे नगपति! मेरे विशाल[2]

राष्ट्रीय ध्वज राष्ट्र का प्रतीक होता है। भारत देश जब स्वतंत्र हुआ, उस स्वतंत्रता पर उन्होंने ध्वज वंदना के गीत गाये–

नमो, नमो, नमो...
नमो स्वतंत्र भारत की ध्वजा, नमो, नमो !

नमो नगाधिराज–शृंग की विहारिणी!
नमो अनंत सौख्य–शक्ति–शील–धारिणी!
नमो मनुष्य की शुभेषणा–प्रचारिणी!
प्रणय–प्रसारिणी, नमो अरिष्ट–वारिणी!
नवीन सूर्य की नई प्रभा, नमो, नमो!
नमो स्वतंत्र भारत की ध्वजा, नमो, नमो ![3]

भारत के शौख्य, शक्ति, प्रेम, उदारता, बलिदान और पौरुष आदि गुणों का अंकन उनकी कविताओं में विशेष रूप से हुआ है।

दिनकर के सामंजस्यपूर्ण व्यक्तित्व ने देश की विभिन्न राजनीतिक समस्याओं को आत्मसात कर लिया है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने वाले कवि की विचारधारा से ही उनके राजनीतिक व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है। उनका राजनीतिक के साथ प्रत्यक्ष संबंध रहा है। साम्राज्यवाद के विरुद्ध क्रांति करने के लिए जनता को जागृत करते हैं साथ ही साम्राज्यवादियों को प्राण रक्षा हेतु भाग जाने के लिए कहते हैं उन्हें सचेत करते हुए ऐतिहासिक क्रांतियां की ओर संकेत करते हैं–

मत खोलो या बेखबरी में
जनसमुद्र जान नहीं सिंधु है
यह अमोघ ज्वाला का
जिनमें पड़कर बड़े–बड़े कंगूरे पिघल चुके हैं
लील चुका है यह समुद्र जाने कितने देशों में
राजाओं के मुकुट और सपना नेताओं के भी[4]

इस तरह दिनकर ने अनेक रचनाओं के माध्यम से सामंतवादी देशों के अत्याचारों एवं दमन नीति का विरोध किया है।

भारत,जिसका अतीव उज्जवल और गौरवशाली रहा हो, जब वह गुलामी और शोषण के तले पीसने लगे तब देश की जनता विशेष कर कवि का यह दायित्व होता है कि वह अपने उज्जवल अतीत को स्मरण कर देश को गुलामी और शोषण से मुक्त कराये।वे लिखते है–

जिस कवि को अपने राष्ट्र की अतीत गरिमा के प्रति गर्भ नहीं वह प्रगतिशील नहीं अधोशील है।[5]

दिनकर अतीत गौरव को याद करते हुए कहते हैं–

ये रोक युधिष्ठिर को न यहां
जाने दो उसको स्वर्ग धीर
पर, फिरा हमें गाड़ीव–गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर[6]

कवि को उस गौरवशाली अतीत की स्मृति बार–बार उद्वेलित कर देती है। जो देश कला,कारीगरी, वाणिज्य और विद्या सभी रुपों में चरम शिखर पर था–

जगती पर छाया करती थी कभी हमारी भुजा विशाल ।
बार–बार झुकते थे पद पर ग्रीक, यवन के उन्नत भाल ।
विजयी चन्द्रगुप्त के पद पर सैल्यूकस की वह मनुहार ।
तुझे याद है देवी ! मगध का वह विराट उज्वल–श्रृंगार ।"[7]

राष्ट्रीयता के योग चरण दिनकर प्रारंभ से अखंड भारत के समर्थक रहे स्वतंत्रता युद्ध के सेनानियों की तरह उन्होंने अखंड भारत पर बलिदान होने का संदेश दिया उन्होंने अंग्रेजों के फूट डालो राज करो नीति का खुलकर विरोध किया कवि एकता का समर्थन करते हुए कहता है

जलते हैं हिंदू मुसलमान भारत की आंखें जलती है
आने वाली आजादी की लौ दोनों पाखी जलती है
लाठी खाकर भारत माता बेहोश हुई जाती है[8]

दिनकर के यहां अखंड भारत का आशय किसी साम्राज्यवादी या बलात एकीकरण की अवधारणा नहीं है, बल्कि साझा संस्कृति और परंपरा, एक समान सभ्यता बोध, ऐतिहासिकता, निरंतरता, भाषा, धर्म और दर्शन का समन्वय है। उनकी अखंड भारत की कल्पना भावात्मक और सांस्कृतिक एकता पर टिकी हुई है।

दिनकर के राष्ट्रबोध में अकर्मण्यता,भोगवाद, भागवाद, सामाजिक आर्थिक और समानता, सांप्रदायिकता और ब्राह्मणवाद का विरोध दिखता है। वह असमानता पर आधारित उस सामाजिक व्यवस्था पर भी चोट करते हैं, जिसमें लाख परिश्रम करने पर भी उसकी जरूरत नहीं बदलती। रश्मिरथी काव्य में दिनकर कर्ण– चरित्र के माध्यम से उन्होंने इस सामाजिक संरचना के विविधता की भेद वृत्ति पर प्रहार किया।

मैं उनका आदर्श कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे,
पूछेगा जग, किन्तु पिता का नाम न बोल सकेंगे,
जिनका निखिल विश्व में कोई, कहीं न अपना होगा
मैं उनका आदर्श, किन्तु, जो तनिक न घबराएंगे,
निज चरित्र–बल से समाज में पद विशिष्ट पाएंगे,
सिंहासन ही नहीं, स्वर्ग भी, जिसे देखना होगा,
धर्म हेतु, धन–धाम लूटा देना जिनका व्रत होगा।"[9]

दिनकर के राष्ट्र बोध में युद्ध और प्रेम का, स्त्री और पुरुष का, संवेदना और विचार का, कलम और तलवार का, ऊच और नीच का अमीर और गरीब का समन्वय दिखाई देता है। कुरुक्षेत्र में दिनकर ने लिखा–

जहां भुज का एक पथ हो
अन्य पंथ चिंतन का
सम्यक रूप नहीं खुलता उस
द्वंद– गस्त जीवन का[10]

दिनकर के काव्य में भविष्य के समाज दर्शन की रूपरेखा देखने को मिलती है। वे दलित समाज और स्त्री जीवन को भी अपने साहित्य में स्थान दिए। उर्वशी के संदर्भ को स्त्री– विमर्श और नारी स्वतंत्रता के संदर्भ में भी देखा जा सकता है। तथा रश्मिरथी को भारतीय समाज के अनेक जटिल संदर्भों के साथ दलित विमर्श के संदर्भ में देखे जा सकते हैं।

यह कहना न्यायसंगत होगा कि रामधारी सिंह दिनकर का राष्ट्रबोध बहुआयामी है। वह राजनीतिक स्वतंत्रता, सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक न्याय और मानवतावादी दृष्टि का समन्वित रूप है। उनका साहित्य राष्ट्र को जागृत, संघर्षशील और नैतिक रूप से सशक्त बनाने का आह्वान करता है। हिंदी साहित्य में दिनकर का राष्ट्रबोध आज भी प्रासंगिक और प्रेरणादायी है।

संदर्भ सूची

1) चक्रवाल भूमिका – लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2001 पृ. क्र. 34

2) दिनकर : चक्रवाल पृ.क्र. 6–8
3) चक्रवाल – दिनकर, किसको नमन करूँ मैं पृ.क्र. 358
4) निम के पत्ते दिनकर – पृ.क्र. 5
5) दिनकर (राष्ट्रीय भावना) : शिवबालक राय– पृ.क्र. 18
6) रेणुका : दिनकर – पृ.क्र. 7
7) रेणुका (पाटली पुत्र की गंगा से) पृ.क्र. 25
8) सामधेनु लोकभारती प्रकाशन, इलहाबाद पृ.क्र. 31
9)साहित्य, इतिहास और संस्कृति– शिवकुमार मिश्र, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण: प्रथम, पृष्ठ सं. 162
10)कुरुक्षेत्र – रामधारी सिंह दिनकर, राजपाल एण्ड संज, कश्मीरी गेट, दिल्ली, संस्करण: 2004, पृष्ठ सं. 101

Nav Jyoti, Vol. 13, No. 26, January-June 2025 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

ग्रामीण समुदायों में स्वास्थ्य और पोषण : एक विमर्श

लक्ष्मी उपाध्याय
शोधार्थिनी, समाजशास्त्र विभाग
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ वाराणसी,उत्तर प्रदेश।
प्रो0 तेजबहादुर सिंह
समाजशास्त्र विभाग
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ वाराणसी,उत्तर प्रदेश।

सारांश–
प्रस्तुत शोध ग्रामीण समुदायों में स्वास्थ्य और पोषण से सम्बन्धित एक उभरता हुआ क्षेत्र है। जो यह देखता है कि ग्रामीण जीवन शैली में महिलाओं की स्वास्थ्य सम्बन्धित आवश्कताएं किस तरह आपस में परस्पर रुप से जुड़ा हुआ है। ग्रामीण समुदायों में स्वास्थ्य और पोषण का प्रभाव। समाजशास्त्री अध्ययन के माध्यम से यह ज्ञात करना है कि ग्रामीण समुदायों में स्वास्थ्य और पोषण से महिलाएँ कैसे प्रभावित होती है? प्रस्तुत अध्ययन में ग्रामीण समुदायों पर ध्यान केंद्रित करते हुए स्वास्थ्य और पोषण के प्रभाव को जानना है।

मुख्य शब्द– ग्रामीण,स्वास्थ्य और पोषण।

प्रस्तावना– पौष्टिक भोजन स्वास्थ्य के लिए एक मजबूत और महत्त्वपूर्ण आधारशिला है। विश्वभर में कुपोषण और आहार सम्बन्धी गैर–संक्रामक बीमारियों में वृद्धि वास्तव में चिंता का विषय है। ग्रामीण भारत में आज भी पांच वर्ष से कम आयु के 68 प्रतिशत बच्चों की मौत का कारण कुपोषण है। हालांकि भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद (आई,सी,एम,आर) की एक रिपोर्ट के अनुसार 1990–2017 के बीच कुपोषण से होने वाली मृत्यु में दो–तिहाई की कमी आई है। कुपोषण से लगभग 47 प्रतिशत बच्चों में मानसिक व शारीरिक विकास मंद गति से हो रहा है। जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में 30 प्रतिशत गरीब लोग निर्धारित 2155 किलो कैलोरी से कम 1811 किलो कैलोरी का ही भोजन करते है। गर्भवती महिलाओं को पौष्टिक भोजन ना मिल पाने के कारण अक्सर उनमें खून की कमी (एनिमिया) के लक्षण के साथ उनके बच्चे कमजोर पैदा होते है जिन्हें बड़े होने पर भी समुचित भोजन नहीं मिल पाता, जो पीढ़ी–दर–पीढ़ी चलता रहता है। 2021 की एक रिपोर्ट में भारत के प्रत्येक राज्य में (ग्रामीण क्षेत्रों) पांच वर्ष से कम आयु के बच्चों में मृत्यु के लिए पोषण एक जिम्मेदार कारक है। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी बच्चों को पोषणयुक्त भोजन नहीं मिल पाता है। केंद्रीय स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय की ओर से 2022–2023 के बीच 1.2 लाख बच्चों के स्वास्थ्य एवं शारीरिक पोषण के राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित सर्वे में एक वजह मां की अशिक्षा पाई गई। सर्वे में विशेष रूप से बच्चों के भोजन की खपत, शारीरिक माप और अनुपात का अध्ययन, माइक्रोन्यूट्रिएंट्स, आयरन की कमी, गैर–संचारी रोग की जांच के अलावा जाति, धर्म, आवासीय क्षेत्र, और माताओं की स्कूली शिक्षा का अध्ययन किया गया। शरीर को लम्बे समय तक आवश्यक संतुलित आहार ना मिलना ही कुपोषण है। जो बच्चों और महिलाओं की रोग प्रतिरोधक क्षमता को कम कर देता है। कुपोषण को पोषण की उपलब्धता और उसके वितरण के नजरिए से देखा जाना चाहिए। सरकार की प्रारम्भिक जन वितरण योजनाओं का मकसद सिर्फ गरीबों का पेट भरना था। क्योंकि ज्यादातर राज्यों में केवल चावल या गेहूं वितरित होता था जिससे खाद्य सुरक्षा तो सुनिश्चित हो जाती थी, लेकिन पोषण की समस्या दूर नहीं हुई। प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष भोजन का उपभोग कम होना,

गरीबी, अन्न की बर्बादी भी कुपोषण का कारण है। पांच वर्ष से कम आयु के 70 प्रतिशत बच्चों में खून की कमी पाई गई, तथा 8.82 लाख बच्चे कुपोषण के कारण वर्ष 2023 में कालग्रसित हुए। 1000 में से 46 नवजात और 5 वर्ष से कम आयु के 56 बच्चे गांवों में जिंदा नहीं रह पाते हैं। 2–6 वर्ष के 94 प्रतिशत बच्चों को पोषणयुक्त भोजन नहीं मिल पाता है। स्त्रियों में रक्त अल्पता (एनिमिया) या घेघा रोग तथा बच्चों में सूखा रोग, रतौंधी और अंधापन भी कुपोषण के ही दुष्परिणाम है। सामुदायिक–केंद्रित प्राथमिक स्वास्थ्य देखभाल में महिलाओं, बच्चों, किशोरियों की जरूरतों को पूरा करने के साथ जन्म के समय, प्रसव–पूर्व और प्रसवोत्तर देखभाल में कमी आज भी मातृ मृत्युदर (एम,एम,आर) के प्रमुख कारण है। गंभीर रक्तस्राव, उच्च रक्तचाप, गर्भावस्था से संबंधित संक्रमण, असुरक्षित गर्भपात से जटिलताएं, और अंतर्निहित स्थितियां जैसे एच,आई,वी,एड्स, मलेरिया या अन्य संक्रमित रोगों से मातृ मृत्युदर बढ़ सकती है। देश में अब तक पांच सर्वेक्षण क्रमशः 1992–93, 1998–99, 2005–2006, 2015–2016 एवं 2019–2021 में किए है। पहले तीन सर्वेक्षणों में बाल पोषण पर तीन वर्ष और उससे कम उम्र के, और अन्य दो सर्वेक्षणों में पांच वर्ष और उससे कम उम्र के बच्चों का डेटा शामिल है। बच्चों के कुपोषण को मापने के लिए तीन प्रमुख संकेतकों – स्टंटिंग (उम्र के अपेक्षित लंबाई होना), वेस्टिंग (लंबाई की अपेक्षा कम वजन) और कम वजन (उम्र के अपेक्षित कम वजन) का उपयोग किया जाता है।

भारतीय उद्योग परिसंघ सी,आई,आई और डैनोन इंडिया ने 2021 में, आठ भारतीय शहरों में सर्वे के दौरान दो में से एक व्यस्क व्यक्ति 46.2 प्रतिशत को खराब जीवन शैली से जीने, और 60 प्रतिशत महिलाओं को एनिमिक बताया। बच्चे के आहार की गुणवत्ता में सुधार उनकी शारीरिक एवं मानसिक गतिविधियों में वृद्धि को बढ़ावा देता है। बच्चों की पोषण संबंधी आवश्यकता में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट के साथ विटामिन ए, सी, ई, डी की जरूरत होती है।

ग्रामीण समुदायों में स्वास्थ्य और पोषण की अवधारणा– ग्रामीण समुदायों में महिलाओं से सम्बन्धित स्वास्थ्य और पोषण कि आवश्कता जागरूकता से सम्बन्धित कारणों के संदर्भ में स्वास्थ्य संबंधी देखभाल और पोषण में प्रतिभा को निखारना एक बहुआयामी चुनौती है। जिसके लिए एक समग्र दृष्टिकोण की आवश्यकता है। सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता, प्रौद्योगिकी एकीकरण, शिक्षा और सरकारी नीतियों जैसी रणनीतियों के माध्यम से, हम ग्रामीण समुदायों को उनकी स्वास्थ्य देखभाल और पोषण से सम्बन्धित आवश्यकताओं की जिम्मेदारी लेने के लिए महिलाओं को सशक्त बना सकते है।

अध्ययन का उद्देश्य–

1– ग्रामीण महिलाओं की स्वास्थ्य देखभाल और पोषण संबंधी बहुमुखी मुद्दों पर प्रकाश डालना।

उपकल्पना–

1– ग्रामीण भारत में स्वास्थ्य देखभाल और पोषण का महत्त्व।

2– ग्रामीण समुदाय में स्वास्थ्य देखभाल और पोषण से सम्बन्धित जागरूकता।

शोध पद्धति– शोध पत्र में आंकड़ों को प्राथमिक एवं द्वितीयक स्रोतों से एकत्र किया गया है। प्राथमिक स्रोतों में राजातालाब के तहसील क्षेत्र ठठरा ग्रामीण कि 50 माहिलाओं का चयन असंभावित निर्देश पद्धति के उद्देश्यपूर्ण निर्देशन के माध्यम से किया गया है। महिलाओं से आंकड़ों को साक्षात्कार अनुसूची के माध्यम से एकत्र किया गया है। द्वितीयक स्रोतों के आधार पर पुस्तक, पत्रिकाओं का प्रयोग किया गया है।

सारणी– 1

क्या आप स्वास्थ्य सम्बन्धित चर्चायें आपस में एक दूसरे से करती है ?

	राजातालाब तहसील

स्वास्थ्य सम्बन्धित चर्चायें आपस में एक दूसरे से करती है ?	आवृत्ति	प्रतिशत
हाँ	35	70
नहीं	15	30
योग	50	100

सारणी– 1 के अध्ययन से स्पष्ट होता है की 70 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का कहना है की स्वास्थ्य सम्बन्धित चर्चायें एक दूसरे से कभी कभी हो जाती है,जबकि 30 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का कहना है की स्वास्थ्य सम्बन्धित चर्चायें एक दूसरे से नहीं होती है। अतः विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है की स्वास्थ्य सम्बन्धित चर्चायें एक दूसरे से अधिकांश उत्तरदात्रिया करती है।

सारणी– 2

क्या गर्भावस्था के समय परिवार के सदस्य आप का देख भाल करते है ?

गर्भावस्था के समय परिवार के सदस्य आप का देख भाल करते है ?	राजातालाब तहसील	
	आवृत्ति	प्रतिशत
हाँ	23	46
नहीं	27	54
योग	50	100

सारणी– 2 के अध्ययन से स्पष्ट होता है की 46 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का कहना है की गर्भावस्था के समय परिवार के सदस्य देख भाल करते है,जबकि 54 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का कहना है की गर्भावस्था के समय परिवार के सदस्य देख भाल नहीं करते है है। अतः विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है की गर्भावस्था के समय परिवार के सदस्य देख भाल नहीं करते है।

सारणी– 3

क्या आप स्वास्थ्य देखभाल और पोषण का महत्त्व जानती है ?

स्वास्थ्य देखभाल और पोषण का महत्त्व जानती है ?	राजातालाब तहसील	
	आवृत्ति	प्रतिशत
हाँ	27	54
नहीं	23	46
योग	50	100

सारणी– 3 के अध्ययन से स्पष्ट होता है की 54 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का कहना है की वह स्वास्थ्य देखभाल और पोषण का महत्त्व जानती है,जबकि 46 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का कहना है की वह स्वास्थ्य देखभाल और पोषण का महत्त्व नहीं जानती है। अतः विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है की उत्तरदात्रिया स्वास्थ्य देखभाल और पोषण का महत्त्व जानती है।

सारणी– 4

क्या आप कों सम्पूर्ण आहार के बारे में जानकारी है ?

सम्पूर्ण आहार के बारे में जानकारी है ?	राजातालाब तहसील	
	आवृत्ति	प्रतिशत
हाँ	20	40
नहीं	30	60
योग	50	100

सारणी– 4 के अध्ययन से स्पष्ट होता है की 40 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का कहना है की वह सम्पूर्ण आहार के बारे में जानती है,जबकि 60 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का कहना है की वह सम्पूर्ण आहार के बारे में नहीं जानती है। अतः विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है की उत्तरदात्रिया सम्पूर्ण आहार के बारे में नहीं जानती है।

सारणी– 5

क्या आप को स्वास्थ्य देखभाल और पोषण से सम्बन्धित जानकारीया मिलती है ?

स्वास्थ्य देखभाल और पोषण से सम्बन्धित जानकारीया मिलती है ?	राजातालाब तहसील	
	आवृत्ति	प्रतिशत
हाँ	27	54
नहीं	23	46
योग	50	100

सारणी– 5 के अध्ययन से स्पष्ट होता है की 54 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का कहना है की उन्हें स्वास्थ्य देखभाल और पोषण से सम्बन्धित जानकारीया मिलती है,जबकि 46 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का कहना है की उन्हें स्वास्थ्य देखभाल और पोषण से सम्बन्धित जानकारीया नहीं मिलती है। अतः विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है की स्वास्थ्य देखभाल और पोषण से सम्बन्धित जानकारीया मिलती है।

परिणाम और चर्चा– ग्रामीण महिलाओं के ग्रामीण समुदायों में स्वास्थ्य और पोषण के प्रभाव को जानने के लिए साक्षात्कार अनुसूचि के माध्यम से उत्तरदात्रियों से आंकड़े एकत्रित किए गए है। साथ ही इस अध्ययन के दौरान अधिकांश उत्तरदात्रिया 05 वर्ष से अधिक समय से ग्रामीण क्षेत्रों में रह रही थी। जिसमें उनका प्रतिशत 88 रहा। सारणी– 1 के अध्ययन से स्पष्ट होता है की 70 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का कहना है की स्वास्थ्य सम्बन्धित चर्चायें एक दूसरे से कभी कभी हो जाती है,जबकि 30 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का कहना है की स्वास्थ्य सम्बन्धित चर्चायें एक दूसरे से नहीं होती है। अतः विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है की स्वास्थ्य सम्बन्धित चर्चायें एक दूसरे से अधिकांश उत्तरदात्रिया करती है। सारणी– 2 के अध्ययन से स्पष्ट होता है की 46 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का कहना है की गर्भावस्था के समय परिवार के सदस्य देख भाल करते है,जबकि 54 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का कहना है की गर्भावस्था के समय परिवार के सदस्य देख भाल नहीं करते है है। अतः विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है की गर्भावस्था के समय परिवार के सदस्य देख भाल नहीं करते है। सारणी– 3 के अध्ययन से स्पष्ट होता है की 54 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का कहना है की वह स्वास्थ्य देखभाल

और पोषण का महत्त्व जानती है,जबकि 46 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का कहना है की वह स्वास्थ्य देखभाल और पोषण का महत्त्व नहीं जानती है। अतः विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है की उत्तरदात्रिया स्वास्थ्य देखभाल और पोषण का महत्त्व जानती है। अतः हमारी यह उपकल्पना सत्य हुयी। सारणी– 4 के अध्ययन से स्पष्ट होता है की 40 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का कहना है की वह सम्पूर्ण आहार के बारे में जानती है,जबकि 60 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का कहना है की वह सम्पूर्ण आहार के बारे में नहीं जानती है। अतः विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है की उत्तरदात्रिया सम्पूर्ण आहार के बारे में नहीं जानती है। सारणी– 5 के अध्ययन से स्पष्ट होता है की 54 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का कहना है की उन्हें स्वास्थ्य देखभाल और पोषण से सम्बन्धित जानकारीया मिलती है,जबकि 46 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का कहना है की उन्हें स्वास्थ्य देखभाल और पोषण से सम्बन्धित जानकारीया नहीं मिलती है। अतः विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है की स्वास्थ्य देखभाल और पोषण से सम्बन्धित जानकारीया मिलती है। अतः हमारी यह उपकल्पना सत्य हुयी।

निष्कर्ष– विविध आबादी और महत्वपूर्ण ग्रामीण आबादी वाले देश के रूप में भारत को अपने ग्रामीण समुदायों को गुणवत्तापूर्ण स्वास्थ्य देखभाल और पोषण सेवाएं प्रदान करने में कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। इन चुनौतियों से निपटने का एक महत्वपूर्ण पहलू इन समुदायों के भीतर प्रतिभा को निखारना है उन्हें अपनी स्वास्थ्य देखभाल और पोषण से सम्बन्धित आवश्यकताओं की जिम्मेदारी लेने के लिए सशक्त बनाना होगा। ग्रामीण भारत में स्वास्थ्य और पोषण में क्रांतिकारी बदलाव की आवश्कता है। बुनियादी ढांचे के विकास, सामुदायिक जुड़ाव, क्षमता निर्माण और सांस्कृतिक संवेदनशीलता पर ध्यान केंद्रित करके इसे और अधिक प्रभावशाली बनाया जा सकता है। अभिनव कार्यनीतियों और व्यावहारिक समाधानों के संयुक्त दृष्टिकोण के माध्यम से स्वास्थ्य और पोषण जागरूकता में काफी सुधार किया जा सकता है। जिससे अंततः ग्रामीण समुदाय स्वस्थ और अधिक जानकारी युक्त हो सके है।

सन्दर्भ सूची–

1– यूनाइटेड नेशन्स, इण्टरनेशनल कॉनफ्रेन्स ऑन पॉपुलेशन एण्ड डेवलपमेन्ट, रिपोर्ट ऑफ द इण्टरनेशनल कॉनफ्रेन्स ऑन पापुलेशन एण्ड डेवलपमेन्टश कायरो, न्यूयार्कः यूनाइटेड नेशन्स, 1994।

2– जेहरावी मेहरूख, मकबूल मुदासिर एवं आरा इरफत (2021), पोली–साइस्टिक ओवरी सिन्ड्रोम एण्ड रिप्रोडक्टिव हेल्थ ऑफ वूमेन ए क्यूरियस एसोसिएशन, इण्टरनेशनल जनरल ऑफ एडोलोसेण्ट मेडीसिन एण्ड हेल्थ।

3– यूएन एफ पीए (2019) स्वास्थ्य सम्बन्धी बुनियादी समस्याओं से जूझती महिलायें, रिपोर्ट ऑफ स्टेट ऑफ वर्ल्ड पॉपुलेशन, जिनेवा।

4– कन्ट्रासेप्टिव इन रूरल पेरू, जनरल ऑफ पॉपुलेशन काउन्सिल बाल्यूम न–4।

5– हक मोनौरल, हुसैन शर्मिन, अहमद रूमाना काजी, सुल्ताना तसलीमा, चौधरी अख्तार हसीना एवं अख्तर जैसमिन (2015), ए कम्पेयरेटिव स्टडी ऑन नॉलेज अबाउट रिप्रोडक्टिव हेल्थ एमंग अरबन एण्ड रूरल वेमन ऑफ बांग्लादेश जनरल ऑफ फैमिली एण्ड रिप्रोडक्टिव हेल्थ, वाल्यूम–9 ।

Nav Jyoti, Vol. 13, No. 26, January-June 2025 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

From Dominion to Dust: An Ecocritical Re-evaluation of Anthropocentrism in *King Lear*

Dr. Shafiqur Rahman
Assistant Professor in English
Government Degree College Dumariyaganj, Siddharthnagar
Email: rahmanshafiqur025@gmail.com

Abstract
The relationship between nature and culture forms a central concern in Shakespearean tragedy, yet it has often been treated as secondary to political or psychological themes. This essay argues that William Shakespeare's King Lear *can be productively reread as an ecological tragedy that interrogates anthropocentric assumptions and exposes the instability of hierarchical cosmology. Drawing on ecocritical theorists such as Cheryll Glotfelty, Lawrence Buell, Greg Garrard, and Simon C. Estok, the study demonstrates how the play shifts from presenting nature as passive environment to revealing it as an autonomous force that resists human authority. Through close analysis of Lear's division of the kingdom, the storm scenes, and Edmund's invocation of nature, the essay shows that Shakespeare dismantles the ideological logic of the Great Chain of Being and situates humanity within, rather than above, the natural order. The tragedy ultimately reveals that political sovereignty collapses when it ignores ecological interdependence and that human identity itself is materially dependent on environmental conditions. Far from functioning as background scenery, nature in* King Lear *acts as a structuring presence that shapes character, action, and meaning. The play therefore anticipates central insights of modern ecocritical thought by exposing the limits of human dominion and foregrounding the shared vulnerability of all living beings.*

Keywords: Ecocriticism, Anthropocentrism, Shakespeare, Ecophobia, Great Chain of Being, Environment

Introduction

Ecocriticism, as Cheryll Glotfelty famously defines it, is "the study of the relationship between literature and the physical environment" (xviii). This definition challenges the long-standing critical habit of treating nature as decorative background rather than as a meaningful force within literary texts. Lawrence Buell similarly argues that environmentally oriented literature must recognize the nonhuman world as an active presence whose existence is not reducible to human interests (25). Together, these perspectives encourage a re-examination of canonical works in which natural elements appear not merely as symbols but as agents that shape narrative structure and philosophical meaning.

William Shakespeare's *King Lear*, composed in the early seventeenth century, provides an especially fertile site for such reconsideration. Traditionally, the play has been read as a political allegory, a theological meditation, or a psychological tragedy of aging and authority. While these

approaches remain valuable, they often overlook the persistent presence of landscape, weather, animals, and bodily exposure that runs throughout the drama. An ecocritical reading reveals that these elements are not incidental; they form the structural foundation of the tragedy's ethical and philosophical vision.

The intellectual world in which Shakespeare wrote was shaped by the cosmological model known as the Great Chain of Being. This hierarchical system positioned God at the summit, followed by angels, humans, animals, plants, and minerals. Humanity, though subordinate to divine authority, was believed to possess dominion over the nonhuman world. *King Lear* interrogates this worldview by dramatizing the gradual collapse of a monarch who assumes that political power grants mastery over land, weather, and life itself. The play traces Lear's descent from sovereign ruler to exposed creature, revealing that human authority is fragile when confronted with forces beyond its control.

Greg Garrard defines anthropocentrism as an ideology that privileges human interests over ecological balance (23). Shakespeare's tragedy exposes the consequences of this ideology by portraying a ruler whose attempt to reorganize land according to personal desire initiates social chaos and personal ruin. Through Lear's transformation, the play challenges the assumption that humans occupy a stable position above nature. Instead, it presents humanity as materially embedded within ecological systems that shape both survival and perception.

Land, Power, and the Illusion of Ownership

The ecological implications of *King Lear* emerge immediately in the opening scene, where Lear announces his intention to divide the kingdom among his daughters:

"Know that we have divided In three our kingdom; and 'tis our fast intent To shake all cares and business from our age" (1.1.37–39).

This declaration transforms the land into a quantifiable object subject to royal distribution. Rather than acknowledging the kingdom as a living environment inhabited by communities, ecosystems, and histories, Lear treats it as a divisible commodity. His description of the territory—"shadowy forests," "plenteous rivers," and "wide-skirted meads" (1.1.63–65)—resembles an inventory of resources. The language catalogues natural features as assets rather than as elements of an interconnected ecological whole.

Such rhetoric reflects the logic of anthropocentrism. Lear assumes that political authority entitles him to reorganize geography at will. The map he consults symbolizes abstraction: a flattened representation of land that can be partitioned without regard for lived reality. Shakespeare thus dramatizes the conceptual distance between administrative power and environmental continuity. The division of the kingdom is not merely a political act; it is an ecological rupture that fragments a unified landscape into artificial territories.

The love-test that accompanies the division reinforces this logic of commodification. Expressions of affection become currency exchanged for land. Territory is reduced to a reward for rhetorical performance, and emotional language becomes a mechanism of property distribution. Shakespeare presents this moment as the origin of disorder. By subordinating geography to personal vanity,

Lear disrupts both political stability and ecological integrity. The fragmentation of the kingdom anticipates the fragmentation of authority that follows.

Language, Performance, and Natural Authenticity

The love-test also reveals a deeper conflict between cultural artifice and natural sincerity. Goneril and Regan employ elaborate language to exaggerate their devotion, while Cordelia refuses to engage in such performance. She explains that she cannot "heave / [her] heart into [her] mouth" (1.1.90–91). Her response asserts the limits of rhetoric and affirms the distinction between genuine feeling and verbal display. Lear, however, misinterprets her restraint as disloyalty because he equates linguistic extravagance with truth.

This misunderstanding illustrates the dangers of privileging symbolic representation over material reality. Within the court, language functions as a tool of authority. Titles, declarations, and ceremonies sustain Lear's power as long as he remains within that environment. Once expelled from it, however, he confronts a world that does not respond to words. When he later calls upon nature to curse Goneril—"Hear, Nature, hear!" (1.4.275)—he assumes that the natural world will obey his command. His invocation treats nature as subordinate to human will rather than as an independent force.

Buell argues that environmental awareness requires recognition of nature's autonomy (7). Lear's appeal fails precisely because he does not acknowledge such autonomy. He attempts to enlist nature as an ally in his personal grievances, revealing his continued belief in human supremacy. Shakespeare exposes this assumption as illusory by placing Lear in situations where language loses its power. Outside the court, rhetorical authority dissolves, and the king must confront a reality that exists beyond his control.

The Storm and the Exposure of Human Vulnerability The storm scenes in Act III represent the dramatic center of the play and the decisive turning point in Lear's transformation. Standing on the heath, he commands the elements:

"Blow, winds, and crack your cheeks! rage! blow! You cataracts and hurricanoes, spout
Till you have drenched our steeples" (3.2.1–3).

The language echoes royal proclamations, yet the storm remains indifferent. The winds neither obey nor resist him; they simply continue. Shakespeare emphasizes the contrast between human assertion and natural process. The king who once commanded armies cannot command the weather. Political hierarchy proves irrelevant in the face of environmental force.

Simon C. Estok's concept of ecophobia—the irrational fear or hostility toward nature—helps illuminate Lear's reaction (4). At first he responds with defiance, attempting to assert dominance over the storm. Gradually, however, exposure to wind and rain undermines his confidence. Stripped of shelter, attendants, and royal garments, he becomes physically vulnerable. This vulnerability culminates in his recognition that "unaccommodated man is no more but such a poor, bare, forked animal" (3.4.106–07).

The phrase "forked animal" collapses the boundary between human and beast. Humanity is reduced to biological form, dependent on environmental conditions for survival. The Great Chain of Being loses coherence when the king appears indistinguishable from other creatures in material

vulnerability. Shakespeare thus replaces hierarchical cosmology with ecological realism, presenting the human body as part of, rather than separate from, the natural world.

Competing Invocations of Nature: Edmund and Gloucester Shakespeare complicates the ecological dimension of the play through characters who interpret nature in contrasting ways. Edmund begins the drama with a striking declaration:

"Thou, Nature, art my goddess; to thy law My services are bound" (1.2.1–2).

For Edmund, nature functions as ideological justification. He invokes it to legitimize ambition and rebellion, interpreting natural law as a principle that rewards strength and cunning. His understanding is not ecological but instrumental. Nature becomes a rhetorical tool that supports self-interest.

Gloucester, by contrast, attributes social disorder to celestial events, claiming that "late eclipses in the sun and moon portend no good" (1.2.103–04). His belief reflects a traditional cosmology in which natural phenomena signify moral judgment. Shakespeare treats both perspectives critically. The eclipses do not cause betrayal, and nature does not endorse Edmund's schemes. Instead, the tragedy arises because characters project human meanings onto natural processes.

Glotfelty argues that ecocriticism seeks to expose precisely such projections, encouraging readers to distinguish between environmental reality and cultural interpretation (xix). *King Lear* dramatizes the consequences of failing to make this distinction. Edmund manipulates the concept of nature for personal gain, while Gloucester misreads it as prophecy. In both cases, misunderstanding replaces knowledge, and ideology replaces observation.

Exposure, Poverty, and Ethical Recognition Lear's confrontation with the storm produces not only self-knowledge but also ethical awareness. Experiencing cold and rain firsthand, he suddenly recognizes the suffering endured by those without shelter:

"Poor naked wretches, whereso'er you are,
That bide the pelting of this pitiless storm,
How shall your houseless heads and unfed sides… defend you?" (3.4.28–31).

This moment marks a profound shift in perspective. Lear realizes that his former life of privilege prevented him from perceiving the hardships faced by others. Significantly, this insight emerges through physical experience rather than abstract reasoning. Environmental exposure becomes the catalyst for moral understanding. Shakespeare suggests that ethical consciousness arises from recognizing shared vulnerability.

From an ecocritical standpoint, this realization links ecological awareness with social responsibility. Environmental conditions affect individuals differently depending on their resources and status. Those who lack protection suffer most from harsh weather, scarcity, and displacement. Lear's recognition anticipates modern environmental ethics, which emphasize the unequal distribution of ecological risk. The play therefore connects political justice with environmental sensitivity, implying that rulers who ignore ecological realities cannot govern wisely.

Animal Imagery and the Collapse of Human Exceptionalism

Throughout the play Shakespeare repeatedly blurs distinctions between humans and animals. Characters are compared to beasts, birds, and vermin, and such metaphors occur across social ranks. Lear calls Goneril a "kite," Kent calls Oswald a "rat," and the Fool compares Lear to a snail carrying its house. These comparisons do more than insult; they challenge assumptions about human superiority. By depicting humans in animal terms, Shakespeare emphasizes continuity rather than hierarchy among living beings.

The imagery reaches its climax when Lear removes his clothing during the storm and declares that garments are merely borrowed coverings. Clothing symbolizes social identity and cultural distinction; removing it reveals the biological body beneath. The act dramatizes a stripping away of civilization, exposing what remains when status disappears. The king's body proves as vulnerable as that of any other creature.

Jonathan Bate observes that Shakespeare frequently situates humanity within ecological systems rather than above them (66). *King Lear* exemplifies this tendency by portraying human existence as inseparable from physical environment. The play challenges Renaissance humanism's confidence in rational mastery and instead presents a vision of shared creatureliness grounded in bodily dependence.

Critical Perspectives and Interpretive Debates Some critics resist ecological readings of *King Lear*, arguing that the storm and natural imagery function primarily as metaphors for psychological states. From this perspective, the weather reflects Lear's mental turmoil rather than acting as an independent force. Such interpretations emphasize symbolism while minimizing material reality.

An ecocritical approach, however, does not exclude symbolic meaning; it incorporates it within a broader framework. The storm can simultaneously mirror Lear's inner condition and exist as a physical phenomenon. Buell notes that environmentally oriented texts often operate on multiple levels, combining metaphorical resonance with ecological presence (102). Recognizing the storm's material dimension enriches interpretation by highlighting the interaction between human emotion and environmental context.

Another concern involves historical context. Because ecological theory is modern, some scholars question whether it can be applied to early modern texts. Yet literary works frequently anticipate ideas that later gain theoretical articulation. Shakespeare did not need to know the term "ecocriticism" to explore relationships between humans and environment. His detailed attention to weather, landscape, and bodily vulnerability demonstrates an acute awareness of ecological interdependence. Reading *King Lear* ecocritically therefore illuminates dimensions already present within the play rather than imposing an alien framework.

Contemporary Resonance Although written centuries before industrialization, *King Lear* speaks powerfully to modern environmental concerns. Garrard observes that ecocriticism reveals the cultural assumptions that underlie ecological crisis (5). Lear's belief that land can be divided and controlled at will resembles contemporary attitudes toward resource extraction and territorial exploitation. The tragedy suggests that such assumptions generate instability because they ignore the limits imposed by nature.

The play also highlights the fragility of human institutions. Political authority, wealth, and status cannot shield individuals from environmental forces. In an age marked by climate change and ecological uncertainty, this insight acquires renewed significance. Shakespeare's drama reminds readers that human systems depend on environmental stability and that attempts to dominate nature ultimately expose human vulnerability.

Conclusion

King Lear offers a profound exploration of humanity's relationship with the natural world. Through the division of the kingdom, the storm scenes, and competing invocations of nature, Shakespeare dismantles the ideological foundations of anthropocentrism and exposes the fragility of hierarchical cosmology. Lear's journey from sovereign ruler to exposed creature reveals that political authority cannot transcend ecological reality. The tragedy portrays a movement from dominion to dust: from the assertion of mastery to the recognition of shared vulnerability.

By situating humanity within the biological order rather than above it, Shakespeare anticipates central insights of modern ecocritical thought. Nature in *King Lear* is not a passive backdrop but an active presence that shapes action, perception, and meaning. The play ultimately suggests that genuine wisdom arises only when humans acknowledge their dependence on forces beyond their control. In this sense, *King Lear* endures not merely as a tragedy of family and power but as a meditation on the limits of human dominion and the necessity of ecological humility.

Works Cited

Bate, Jonathan. *The Song of the Earth*. Harvard UP, 2000.

Buell, Lawrence. *The Environmental Imagination: Thoreau, Nature Writing, and the Formation of American Culture*. Harvard UP, 1995.

Estok, Simon C. *Ecocriticism and Shakespeare: Reading Ecophobia*. Palgrave Macmillan, 2011.

Garrard, Greg. *Ecocriticism*. 2nd ed., Routledge, 2012.

Glotfelty, Cheryll. "Introduction: Literary Studies in an Age of Environmental Crisis." *The Ecocriticism Reader: Landmarks in Literary Ecology*, edited by Cheryll Glotfelty and Harold Fromm, U of Georgia P, 1996, pp. xv–xxxvii.

Shakespeare, William. *King Lear*. Ed. R. A. Foakes. Arden Shakespeare, Bloomsbury, 1997.

Nav Jyoti, Vol. 13, No. 26, January-June 2025 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

वैश्वीकरण के दौर में हिन्दी की भूमिका

डॉ0 प्रसेनजीत सागर
एसो0 प्रोफेसर, हिन्दी–विभाग
डॉ0 राजेश्वर सेवाश्रम महाविद्यालय
ढिंढुई, प्रतापगढ़
मो0–9450021157

शोध सारांश–

वैश्वीकरण ने विश्व को एक वैश्विक ग्राम में परिवर्तित कर दिया है, जहाँ आर्थिक, सांस्कृतिक, तकनीकी और भाषाई आदान –प्रदान तीव्र गति से हो रहा है। इस परिवेश में हिन्दी भाषा की भूमिका बहुआयामी रूप में उभरकर सामने आई है। हिन्दी केवल भारत की राजभाषा ही नहीं, बल्कि विश्व स्तर पर व्यापक रूप में बोली और समझी जाने वाली प्रमुख भाषाओं में एक है। वैश्विक स्तर पर हिन्दी तीसरे स्थान पर है जिसका प्रयोग 180 देशों में 80 करोड़ लोगों द्वारा किया जा रहा है। हिन्दी में वे सारे तत्व विद्यमान हैं जो विचार या उत्पाद को वैश्विक बनाते है। आर्थिक दृष्टि से हिन्दी ने भारतीय बाजार को सशक्त बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियां भारतीय उपभोक्ताओं तक पहुँचने के लिए हिन्दी को प्रमुख माध्यम के रूप में अपनाती हैं। विज्ञापन, मीडिया और डिजिटल प्लेटफार्म पर हिन्दी की उपस्थिति निरन्तर बढ़ रही है। तकनीकी क्षेत्र में इंटरनेट और सोशल मीडिया ने हिन्दी प्रसार को नई दिशा दी है। हिन्दी को सिनेमा, साहित्य और संगीत ने विश्वभर में भारतीय पहचान को स्थापित किया है।

मूल शब्द–वैश्वीकरण, तकनीकी, बहुआयामी, परिवेश, इण्टरनेट, विज्ञापन, मीडिया, उत्पाद, बहुराष्ट्रीय, उपभोक्ता आदि।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहने के कारण उसे हमेशा विचार–विनियम करना पड़ता है। कभी वह शब्दों या वाक्यों से अपने आपको प्रकट करता है। कभी सिर हिलाने, आँखों की, स्पर्श की और यहाँ तक की मौन की भी अपनी भाषा होती है। समाज के उच्च शिक्षित वर्ग में लोग निमंत्रित करने के लिए निमन्त्रण–पत्र छपवाते हैं तो गांव का अशिक्षित वर्ग निमंत्रित करने के लिए हल्दी या सुपारी आदि का प्रयोग करता है। भाषा अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। किसी भी देश, समाज या समुदाय की अपनी एक भाषा होती है। उस भाषा के माध्यम से शिक्षा, सरकारी काम–काज, सोशल मीडिया, आकाशवाणी , दूरदर्शन, पत्र–पत्रिकाएं, समाचार साहित्य और बोलचाल आदि के कार्य सम्पन्न होते है। एक तरह से भाषा हमारी पहचान होती है। यह हमारी आस्मिता का प्रतीक भी है। मुनष्य अपनी भाषा का प्रयोग गंध, स्वाद, स्पर्श, दृग और कर्ण इन्द्रियों अर्थात इन पांचो ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से भी अपनी बात कह सकता है। भाषा वह साधन है जिसके माध्यम से हम सोचते है तथा अपने विचारों को व्यक्त करते हैं। भाषा उसे कहते है जो बोली और सुनी जाती है। भाषा वो है जो हमें मनुष्य बनाती है।

'भाषा' शब्द संस्कृत की 'भाष' धातु से बना है जिसका अर्थ है–
बोलना या कहना। अर्थात भाषा वह है जिसे बोला जाय। स्वीट के अनुसार ''ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचारों को प्रकट करना ही भाषा है। '' (1) हिन्दी भाषा की सम्भावनाओं की पड़ताल भाषा वर्ग का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। अकेले भारत में जहाँ 22 राष्ट्रीय भाषाएँ और अनगिनत बोलियाँ हैं, उसे देश में हिन्दी बोलने वालों की संख्या सबसे अधिक है। भाषा के नाम पर जितनी भावुकता, चेतना और अनुदारता जितना वर्तमान

युग में है उतना इससे पहले कभी नहीं रहा। हिन्दी भाषा बोलने और समझने वालों की संख्या लगभग 80 करोड़ है। भारत की जनगणना के सर्वेक्षण में 31 भाषाओं की बात होती है। दुनिया के सर्वेक्षण में 7115 भाषाओं की बात होती है। इनमें 150 भाषाएं ऐसी है कि इनको बोलने वालों की संख्या 10 से भी कम है। 6000 भाषाओं को बोलने वाली की संख्या एक लाख से भी कम है। दुनिया में हिन्दी बोलने की संख्या तीसरे स्थान पर है। अंग्रेजी और मन्दारिन के बाद हिन्दी बोलने वाले की है।

यह हिन्दी ऐतिहासिक दृष्टि से युग–युग की मध्यदेशीय भाषाओं–संस्कृत, पालि, प्राकृत की उत्तराधिकारी है। ये भाषाएँ मध्यदेशीय होते हुए भी देशव्यापी रही है। हिन्दी व्यवहार में राष्ट्रभाषा है ही, संविधान ने इसे राजभाषा बनाया है, किन्तु देश में केन्द्र से दूर के प्रदेशों के राजनीतिक लोगों के स्वार्थो के कारण राज्यों द्वारा इसे मान्यता नहीं प्राप्त हो पायी। इसीलिए अभी यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी सारे देश की भाषा है। परन्तु यह देश के सबसे बड़े भूभाग की भाषा है। ''इतनी बड़ी जनसंख्या से उसकी संस्कृति, उसकी भाषा की पहचान न तो मुगल छीन सके, न अंग्रेज। अगर किसी एक भाषा को अखिल भारतीय स्तर की भाषा का दर्जा प्राप्त है तो वह हिन्दी है। अनेक विदेशी आक्रमणों और अंग्रेजो की पराधीनता के बावजूद हिन्दी की पहचान और उसकी अस्मिता ज्यों कि त्यों बनी हुई है। भारत में अंग्रेजी शासन के लिए भारत की बहुभाषी संस्कृति प्रमुख रोड़ा थी। यहाँ की भाषिक विविधता के डर से लार्ड मैकाले ने अंग्रेजी शिक्षा की ऐसी व्यवस्था की थी, जिससे भारतीय भाषाएँ पनप न सकीं। लम्बे काल तक फारसी, अरबी तथा अंग्रेजी को शासकीय समर्थन मिला'' (3)

भाषा का समाज और संस्कृति के अतिरिक्त बाजार और व्यापार से गहरा सम्बन्ध है। भाषाओं के भी अपने–अपने बाजार–भाव होते है, जो दिन–प्रतिदिन नये समीकरण रचते हैं। अंग्रेजी फैशन में आने का एक प्रमुख कारण यह भी था। इसलिए पिछले तीन दशकों से वैश्वीकरण अर्थात बाजारवाद ने विश्व की अर्थव्यवस्था के साथ वहॉ की संस्कृति और नैतिक मान्यताओं को भी गम्भीरता से प्रभावित किया है। भूमण्डलीकरण के एजेंडे में वैश्विक अर्थव्यवस्था और वैश्विक संस्कृति दोनों शामिल है। इसीलिए विश्व साहित्य क्रम में हिन्दी साहित्य भी बाजारवाद से प्रभावित हुआ और हिन्दी भी वैश्वीकरण के दौर में जब भारत की पहचान उभरती अर्थव्यवस्था के रूप में हो रही है तो इस वैश्विक परिदृश्य में हिन्दी भाषा का आकलन आवश्यक हो जाता है। '' जब हम हिन्दी और अपनी अन्य भाषाओं की चर्चा करते हैं तब उस महत्व के पक्ष को रेखांकित करते हैं जो एक रेखीय या एकार्थी नहीं है बल्कि वह विविधता से भरा हुआ है और अपनी अनन्य बहुरेखीय जटिलताओं में ज्यादा सुलभ और बोधगम्य है।''4

हिन्दी में वे सारे तत्व विद्यमान हैं, जो किसी विचार या उत्पाद को वैश्विक बनाते हैं। सातवीं शताब्दी में अपभ्रंश से उत्पन्न हिन्दी भाषा–नागरी लिपि का स्वरूप लगातार बदलता रहा है किन्तु लिपि का वर्तमान ढाँचा 1100 ईस्वी तक स्थापित हो चुका था। अब भाषा को लिपि से अलग करके देखना और समझना गलत होगा क्योंकि दोनों के बीच शरीर और आत्मा का–सा सम्बन्ध हो चुका है। इन दो दशकों में हिन्दी ने अनेक भौगोलिक सीमाओं को पार किया है। अब यह विश्व के अनेक देशों में सुनी जा सकती है, जहॉ हिन्दी जानने वाले लोग बसे हैं।

हिन्दी का वैश्वीकरण 1990 के दशक के बाद सूचना प्रौद्योगिकी, इंटरनेट और बाजारवाद के प्रसार के साथ तेजी से बढ़ा है। आज हिन्दी न केवल भारत की मुख्य भाषा है, बल्कि वैश्विक स्तर पर सिनेमा, साहित्य, तकनीकी माध्यमों से एक सांस्कृतिक और व्यापारिक भाषा बन चुकी है। फिजी, सूरीनाम मॉरीशस, त्रिनिदाद टोबैगो, गुयाना आदि देशों में यह प्रवासी भारतीयों द्वारा सक्रिय रूप से बोली जाती है। वैश्वीकरण के युग में हिन्दी ने अपना रूप बदला है। अब वह केवल बोल–चाल की भाषा नहीं है बल्कि विज्ञापन, सिनेमा,

इंटरनेट और तकनीकी क्षेत्र की प्रमुख भाषा बन गयी है। मल्टीनेशनल कंपनियॉ अब हिन्दी का सहारा लेकर भारतीय बाजार में अपने उत्पाद को बेच रही है। विज्ञापनों में भी हिन्दी की अच्छी हिस्सेदारी है। यह उपभोक्ता संस्कृति को भी बढ़ावा दे रही है। 1975 में नागपुर में आयोजित प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन और 1976 में मॉरीशस में सम्पन्न हुए दूसरे विश्व हिन्दी सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि मंडल के सदस्य के रूप में फादर कामिल बुल्के ने कहा था कि ''संतुलन और समन्वय की विशेषता रखने वाली भारतीय संस्कृति को हिन्दी के द्वारा ही विश्व तक पहुॅचाया जा सकता है।..... किन्तु भारतीय संस्कृति विश्व में तब तक प्रतिष्ठित नहीं हो सकती, जब तक हिन्दी अपने ही देश में प्रतिष्ठित नहीं होती।''5

विदेशों में हिन्दी 19वीं शताब्दी में गिरमिटिया लोंगो द्वारा पहुॅची थी, जिनके वंशज आज बड़े गर्व से कहते हैं कि हमारे पूर्वज एक रामचरितमानस की प्रति और दूसरा तुलसी का पौधा लेकर यहॉ आये थे लेकिन अपनी मातृभाषा और अपनी संस्कृति को उन्होंने परदेश में भी जीवित रखा। हिन्दी प्रदेश से प्रवृत्तियॉ उठी और सारे देश–विदेश में फैली। भाषा के क्षेत्रों में भी जो प्रसारण हुआ वह हिन्दी के माध्यम से हुआ। हिन्दी विकासमान संस्कारों और पनपते विद्रोहों की भी भाषा रही है। अज्ञेय ने भाषा–चितंन पर अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये है। ''हिन्दी को लेकर जो बाहरी प्रभावों–विशेषकर पश्चिमी प्रभावों को लेकर जो घबराहट व्यक्त की जाती रही है– वह अज्ञेय की दृष्टि में निरर्थक चिन्ता है। हिन्दी ने हमेशा बाहरी प्रभाओं के लिए अपने को खुला रखा है और प्रभाव–ग्रहण किये है। कोई भी जीवन्त भाषा संस्कृति के अन्य प्रभावों को ग्रहण किये बगैर आगे नहीं बढ़ सकती। हिन्दी पश्चिम की नकल नहीं करेगी। लेकिन प्रभाव तो ग्रहण करेगी। क्योंकि पश्चिम हमारे साथ है। अज्ञेय की दृष्टि में आधुनिकता तथा भारतीयता में कोई बुनियादी विरोध नहीं है। यह हमारी शक्ति का प्रमाण है कि हम पश्चिम से प्रभावित ही नहीं हुए हमने पश्चिम को भी प्रभावित किया। स्वच्छंदतावाद, प्रतीकवाद, बिंबवाद के यूरोपीय आन्दोलनों के मूल स्रोतों का अध्ययन इसका पूरा प्रमाण दे सकता है।''6

आज शिक्षा स्वाध्याय और स्वान्तः सुखाय नहीं रह गयी है समय के साथ उसकी अवधारणा भी बदल गयी है। अब उसे पढ़ा जाता है जो रोजगार से जुड़ा हो। जिसके पढ़ने से रोजगार की सुविधाएं मिल सके। अंग्रेजी के अचानक उभार के पीछे यही कारण है। अंग्रेजी में दुनिया भर का ज्ञान उपलब्ध है, वह विश्व भाषा है इसलिए दूसरे देशो में रोजगार या व्यापार करने के लिए अंग्रेजी की शिक्षा जरूरी है। यही कारण है कि रूस, चीन, जापान आदि देश अपनी मातृभाषा पर ही जोर देते हैं अंग्रेजी को साम्राज्वाद का प्रतीक मानकर उसका विरोध करते हैं। चीन विश्व में सबसे अधिक उभरता राष्ट्र है, जो अपने औद्योगिक विकास के बल पर जापान और अमेरिका को टक्कर दे रहा है। मध्यवर्गीय युवक जो स्वतन्त्र भारत में पैदा हुए थे, उनके सामने केवल आगे बढ़ना, कुछ नया करना और कुछ ऐसा करना जिससे बड़े आदमी बन जाऍ यही लक्ष्य था। उन्हें भाषा को सीखने और संस्कारित होने जैसी कोई चुनौती नहीं थी। वैश्वीकरण के दौर में जो पीढ़ी आयी और आगे बढ़ी, उसके पास न तो अच्छी अंग्रेजी है और न अच्छी हिन्दी। वह जो भाषा बोल और सुन रही है वह केवल बाजार की भाषा है। आज बाजार तय कर रहा है कि किस भाषा में बोलना है। अमेरिका, चीन, रूस, हंगरी, जर्मनी या जापान आदि देशों में हिन्दी इसलिए नहीं पढ़ाई जा रही है कि हिन्दी के प्रति उनका लगाव है बल्कि इसलिए पढ़ाया जा रहा है कि भारत में बाजार के लिए हिन्दी जानने वाले युवक–युवतियों की आवश्यकता है। अपने उत्पादों को बेचने के लिए मशीनी अनुवाद का भी सहारा लिया जा रहा है। वैश्वीकरण के दौर में किसी देश–विदेश की भाषा या संस्कृति–विशेष के प्रति आग्रह किसी विशेषज्ञ या भाषा–विज्ञानी में ही हो सकता है। अब दुनिया का हर देश, चाहे जितनी भी दूर या पास हो, मित्र या शत्रु हो–बाजार और कारोबार से जुड़ गया है। इस बेहद जटिल समय में भाषा की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण और चुनौती पूर्ण हो

गयी है।'' हिन्दी को विश्व पटल पर मिली स्वीकृत बैठे–बिठाए नहीं मिल गई है इसने अपनी जमीन को उर्वर बनाया, इसे चाहने वालों ने इसे अपने खून–पसीने से सींचा है''7

भाषा चाहे जैसी हो जब वह घर से निकलती है, वह बाजार और व्यवहार की भाषा बन जाती है। आज हिन्दी, साहित्य में लिखित रचनात्मक साहित्य कहानी, उपन्यास, आत्मकथा और कविता आदि विधाओं का अंग्रेजी में तेजी से अनुवाद हो रहा है। हिन्दी को विश्वपटल पर स्वीकृत मिल गई है इसमें कोई संदेह नहीं है।

निष्कर्षः–

वैश्वीकरण के दौर में हिन्दी का स्वरूप सिर्फ एक भाषा के रूप में नहीं बल्कि एक प्रमुख विश्वभाषा और बाजार की भाषा के रूप में उभरा है। यह तकनीकी, फिल्म, इंटरनेट और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से विश्व भर में अपनी पहचान बना रही है। दुनिया भर के 200 से अधिक विश्वविद्यालयों में हिन्दी भाषा पढ़ायी जा रही है। प्रवासी भारतीयों ने हिन्दी को एक जीवंत कड़ी के रूप में संजोकर रखा है। विज्ञापनों में हिन्दी की प्रमुखता दिखाई देती है। आर्थिक लेन–देन की अनिवार्य भाषा बन गयी है। वैश्वीकरण के दौर में हिन्दी एक जीवन्त, समावेशी और रोजगारपरक भाषा के रूप में विश्व पटल पर अपनी उपस्थिति और स्वीकार्यता को दर्शाया है। जनतान्त्रिक आधार पर हिन्दी विश्व भाषा है क्योंकि इसके बोलने वाली की संख्या दुनिया में तीसरा स्थान है। विश्व के 132 देशों में जा बसे भारतीय मूल के लगभग 2 करोड़ लोग हिन्दी माध्यम से अपना कार्य निष्पादित करते है। वैश्वीकरण और बाजारवाद के सन्दर्भ में हिन्दी का महत्व बढ़ा है। वैश्वीकरण के दौर में 21वीं शताब्दी में हिन्दी के लिए चुनौती भी है कि उसे रोजगार और बाजार से जोड़ दिया जाय। मातृभाषा, राजभाषा, भाषा संस्थान, मीडिया भाषा आदि के प्रति संवेदनशील बनना होगा तभी हिन्दी का भविष्य निश्चित होगा और भविष्य का मार्ग प्रशस्त होगा।

सन्दर्भ गन्थ सूची–

1– डॉ0 भोलानाथ तिवारी भाषा विज्ञान संस्करण–1996 प्रकाशक किताब महल 22–1 सरोजनी नायडू मार्ग, प्रयागराज, पृ0 2

2– डॉ0 हरदेव बाहरी, हिन्दीः उद्भव, विकास और रूप, संस्करण 1993 प्रकाशक किताब महल, 22ए सरोजनी नायडू मार्ग, प्रयागराज,पृ0 74

3– लीलाधर मंडलोई, नया ज्ञानोदय, अंक 151 सितम्बर 2015, प्रकाशकः भारतीय ज्ञानपीठ लोदी रोड नई दिल्ली, पृ0 68

4– कैलाश दहिया, फरहत परवीन, आजकल मासिक पत्रिका सितम्बर 2013, लोदी रोड नई दिल्ली, पृ0 35

5– वही पृ0 13

6– वही पृ0 19

7– वही पृ0 28

Nav Jyoti, Vol. 13, No. 26, January-June 2025 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

जनजातीय महिलाओं की समाजिक स्थिति पर आधनुनिकता का प्रभाव

डॉ0 अरविन्द कुमार राजपूत
असि0प्रो0 समाजशास्त्र विभाग
श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
मऊरानीपुर (झॉसी) उ0प्र0

सारांश

भारत की जनजातीय आबादी अपनी विशिष्ट संस्कृति, परंपराओं और सामाजिक संरचनाके लिए जानी जाती है। जनजातीय समाज में महिलाओं की स्थिति कई बार मुख्यधारा के समाज की तुलना में अधिक समानतापूर्ण रही है। आधुनिकता–जिसमें शिक्षा, औद्यौगीकरण, नगरीकरण, वैश्वीकरण और तकनीकी विकास शामिल हैं– ने जनजातीय जीवन को गहराई से प्रभावित किया है।इस शोध का उद्देश्य यह समझना है कि आधुनिकता ने जनजातीय महिलाओं की सामाजिक स्थिति को किस प्रकार बदला है।

मुख्य शब्द– जनजातीय महिलाएँ, लड़कियों, समाज

भारत में जो विचार धाराऐं है उससे नारी की स्थिति कमजोर होती है। हमें इसी विचारधारा को बदलना है विचारधारा को आंदोलन की जीवनी शक्ति माना जाता है। विचारधारा आन्दोलन को परिभाषित करती है। भारत के स्वतंत्रता संघर्ष के समय से ही यह चिन्तन किया गया कि महिलाओं की कमजोर स्थिति को बेहतर बनाना है। यही कारण है कि 1935 के भारत सरकार अधिनियम में सीमित रूप से ही सही महिलाओं को मतदान का अधिकार दिया गया है। नारी सृष्टि का आधार मानी जाती है किसी भी देश की आधी आबादी स्त्री है। यदि देश की आधी आबादी अर्थात स्त्री को घर की चार दीवारी के अंदर बंद कर दिया जाएगा तो देश की प्रगति भी आधी ही रह जाएगी। स्त्री के बिना राष्ट्र की उन्नति संभव नहीं है। जिस राष्ट्र में उसके स्वाभिमान की रक्षा नहीं होगी, वहाँ उत्रति नहीं होगी।

स्त्री का केवल स्वतंत्र होकर निर्णय लेना या आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो जाना ही उसकी अस्मिता नहीं है। स्त्री अस्मिता का अर्थ है स्त्री के प्रति समाज के दृष्टिकोण और मानसिकता में बदलाव, जिसमें स्त्री का स्वयं का दृष्टिकोण भी शामिल है। धीरे–धीरे इनमें बदलाव आ रहा है। आधुनिकता का प्रभाव स्त्री पर भी दिखाई देने लगा है।

जनजातीय महिलाएँ अब अपने अधिकार पहचानने लगी है। वह किसी से भी ठगना नहीं चाहती। वह अपना हक चाहती है। अब वे मजदूरी करने भी जाती है तो निडर होकर। रमणिका गुप्ता के कहानी संग्रह 'बहू जुठाई की परवतिया भी अब किसी से नहीं डरती। मजदूर उसकी बहादुरी का लोहा मानने लगे थे। अबवह मजदूरों के मामले लेकर प्रायः हर रोज ठीकेदार बाबू से भी झगड़ने लगी थी। मजदूरों ने परबतिया को अपना लीडर चुन लिया। उन दिनों ठीकेदारों के खिलाफ केदला में हड़तालों का जोर था। यूनियन के साझा नेतृत्व में मजदूर, लठैतों पहलवानों का मुकाबला करते हुए कुछ कर गुजरने पर उतारू था। वे ईंट का जवाब पत्थर से देने के लिए तैयार थे। परबतिया इन सब में सबसे आगे रहती थी। वह मरदों के दंगल की सरदारिन बन गई और यूनियन में अपनी पोखरी की प्रतिनिधि।'

जनजाति नारी घर की चार दिवारी में बंद नहीं रहती। वह पुरुषों के बराबर काम करती है। आधुनिक समय में आदिवासी स्त्री हर क्षेत्र में कार्य कर रही है। जैसे परबतिया सबकी सरदारिन बन गई थी। आदिवासी नारी समाज के बंधनों में बंधी रहती है। रमणिका गुप्ता के सीता मौसी उपन्यास में सीता के बारे में आया है– सीता के गांव वाले सब रूष्ट हो गए। उन्होंने आदिवासी तरीके से बिरादरी बुलाकर उसे मरा घोषित कर,

भोज–भात कर लिया। सीता मुक्त हो गई बिरादरी से, भी पहले पति से भी और पुरानी रूढ़ियों के बंधन से भी। वह अब खटती थी। सीता जैसी स्त्री अभी भी समाज के अत्याचार का शिकार हो रही है। उसका पति दूसरी शादी करके कहीं और चला गया है। उससे सीता को एक बच्चा है। पहला पति ती अपनी जिम्मेदारी से मुँह मोडकर् उसे छोड़कर चला गया। ऐसे में सीता एक मुसलमान यासीन से विवाह कर लेती है। जो उसके बच्चे की जिम्मेदारी भी उठाता है। जनजाति महिला को समाज की परवाह किये बिना आगे बढ़ना होगा। समाज के पुराने बंधनों से आजाद होना होगा। तभी वो चौन से जी सकती है।

पुन्नी सिंह के 'सहराना' उपन्यास में सीमा की माँ अंजनी काफी सोचती है कि उसके जमाने में शादी–ब्याह की बातें बड़े ही करते थे। लेकिन जब जमाना बदल गया है। बच्चे अपनी पसंद से विवाह करने लगे है। सीमा जब चंपा से विवाह करने के बारे में कहता है तो अंजनी काकी सोचती हैं उसके जमाने में तो शादी–ब्याह की बातों को लेकर मोड़ा–मोडी मुँह नहीं खोलते थे। सही में अब जमाना बदल गया है। अब समय बदल रहा है। लोगों की सोच बदल रही है। जनजातीय महिलाओं के प्रति लोगों की सोच बदल रही है। मधु कांकरिया के 'खुले गगन के लाल सितारे में मणि इंद्र की बातों के बारे में सेचती है' बड़े–बड़े शहरों में जो दिखता है उसे ही सच मानकार नहीं बैठ जाओ अब मसय बदल रहा है। लोगों की सोच बदल रही है– आने वाले समय में तुम देखना, खेतों में पसीना बहाती एवं जीवन की लड़ाई लड़ती स्त्रियों ही सुंदर कहलाएँगी। सुंदर वह हर कोई जो अपने श्रम, ऊर्जा से और आत्मिक सौंदर्य से दूसरों के संसार को भी सुंदर बनाए ।

जैसे जैसे समय आगे बढ़ रहा है. लोगों की सोच में भी परिवर्तन आता जा रहा है। जनजातीय नारियों पर इसका प्रभाव विशेषकर हो रहा है। जो काम उन्हें पहले अच्छे नहीं लगते थे, वही काम अब वे बड़े चाँव से करती है। आदिवासी समाज में लड़कियों के जन्म पर खुशियाँ नहीं मनाई जाती है। लड़का–लड़की में पर्क किया जाता है। लेकिन पुत्री सिंह के 'सहराना' उपन्यास की अंजनी काकी एक शहरी सरदारिन के सम्पर्क में आकर अपनी सोच को बदल लेती है। और अपनी पोती के जन्म पर खुशियाँ मनाती है। पुत्री सिंह ने इसका रोचक वर्णन किया है। काकी के मन में लड़कियों के प्रति ऐसे उदार विचार हमेशा से नहीं थे। अभी कुछ साल से घाटी में एक अन्य दबंग महिला से उसका सम्पर्क हुआ है। वह महिला है सरदार लहनासिंह की माँ। उसको सब लोग प्यार से मम्मी कहते है। मम्मी का आना–जाना इधर के सहरानों में अवसर होता है। नये सहराने में वे ज्यादा आती है। जब वे आती है तब उनके साथ एक दो उनकी नातिनें भी रहती हैं। वे लड़कियों अपनी दादी के साथ जिस तरह से खुश रह रही है और दादी उनके साथ जिस तरह से बेहतर व्यवहार करती है. वह इधर घाटी की जिन्दगी में दुलर्भ है। मम्मी और उनकी नातिनों को जो भी देखता है उससे प्रेरणा जरूर मिलती है।

शहरी लोगों का प्रभाव आदिवासी स्त्रियों पर ज्यादा हुआ है। जिस प्रकार अंजनी काकी एक शहरी महिला के सम्पर्क में आने से अपने विचारों में परिवर्तन कर लेती है। उसी प्रकार अन्य स्त्रियों पर भी इसका प्रभाव हुआ है। शहरियों के सम्पर्क में आने पर पुरुषों की सोच में स्त्रियों को लेकर बदलाव आया है। रभणिका गुप्ता के 'बहू–जुठाई' कहानी संग्रह में संकलित कहानी जिरवा में जिरवा का पति उसे छोड़कर शहर चला जाता है। शहर में दर–दर की ठोकरें खाने के बाद वह लौट आता है, परन्तु इसके बाद स्त्रियों को लेकर उसकी सोच में परिवर्तन आ जाता है।

वर्तमान समय में सांस्कृतिक विखण्डन हो रहा है। जनजाति स्त्रियाँ शहरी महिलाओं के सम्पर्क में आने पर उनका जैसा बर्ताव करने लगती है। शहरी सभ्यता को अपनाने लगी है। मैत्रेयी पुषा के झूलानट उपन्यास में शीलो की सास शहरी महिलाओं पर क्रोध करते हुए बोल रही है 'इस गाँव में भी शहरी औरतों

ने आ–आकर बवाल मचा दिया है। नहीं तो हमारे घर कलह होती ? वे तो अपने आदमियों का नाम लेकर ऐसे बुलाती है. जैसे बच्चों को बुला रही हो।' एक आदिवासी नारी को ऐसा कहना अटपटा जरूर लगता होगा, लेकिन धीरे–धीरे आधुनिकता का प्रभाव उस पर भी हो रहा है। जनजाति स्त्रियों अब खेत–खलिहानों से निकलकर फेक्ट्रियों में काम करने लगी है। फेक्ट्रियों में काम में आगे होने के साथ–साथ वह आन्दोलनों में भी भाग लेने लगी है।

आज हर जनजाति स्त्री को सीता जैसा बनना पड़ेगा। उसे अपने अधिकारों की लड़ाई स्वयं लड़नी होगी। स्वयं अपने अधिकारों के बारे में सचेत होना पड़ेगा। तभी जाकर इन महिलाओं की दशा सुधरेगी। रमणिका गुप्ता के 'सीता–मौसी' उपन्यास में सीता के पुत्र जन्म पर उसका आदिवासी नाम वई, दिन या महीने पर न रखकर शहरी नाम सुनील रखा। आधुनिक समाज का प्रभाव अब इनके जन–जीवन पर भी हो है। इनमें भी अब जागृति आने लगी है। यह समय अब दूर नहीं, जब इन नारियों के जीवन में भी पूरा सवेरा होगा। आदिवासी जंगलों में निवास करते है। अब इन जंगलों पर पूँजी पतियों की आँखे जम गई है। इन पूँजीपतियों के प्रवेश से आदिवासियों में सामाजिक–आर्थिक परिर्वन होने लगे है। इनके सम्पर्क में आने से आदिवासी अपनी मौलिकता खोते जा रहे है। इनके रीति–रिवाजों और संस्कारों में अब घालमेल शुरू हो गया है। ये दिल्ली, मुम्बई, कलकत्ता जैसे महानगरों में दाई, आया का काम करती है आदिवासी महिलाओं का एक बड़ा वर्ग पलायन करने को विवश है क्योंकि उनका शोषण होता है। राँची की रमणिका गुप्ता ने सीता–मौसी उपन्यास में आदिवासी ईंट भट्टों में मजदूरी करती है। इन जगहों पर महिलाओं का शारीरिक और मानसिक शोषण का वर्णन बेबाकी से किया है। अराँधी की जनजाति महिलाएँ प्रायः अकेले ही काम करने आती थी। छैली का यह दल झारखण्डी नेता संत के नेतृत्व में बाहरी–भीतरी का सवाल उठाकर, इन महिलाओं का कापी भयदोहन और शोषण करता था। एक दहशत–सी फैल गई थी कोलियरी क्षेत्र में खासकर औरतों और प्रेमी युगलों में। ये नेतागण औरतों व लड़कियों को बदमाश व बदचलन कहकर, उनका शौषण गाहे–बगाहे स्वयं भी कर लेते थे। इस क्षेत्र के स्थानीय लोगों के लिए यह एकदम नया हथियार था। कोलियरी में ठेकेदारों, पहलवानों की दादागीरी चलती थी, अपराधियों और सूदखोरों की पठानगीरी भी प्रचलित थी, पर भयादोहन से लोग अनजान थे। कोलियरियों सरकारी होने के बाद वहीं ठेकेदार, पैटी ठेकेदार और पहलवान या तो कोलियरिखों में मुंशी, सुपरवाईजर नौकरियों में घुस गए या हाजिरीबाबू की। इन्होने मजदूर जमात का अलग तरीके से शोषण कर दिया। सूदखोरी, दारू की भट्टी, पुलिस और बंदूक का भय दिखाकर, ये नेता के रूप में उभरने लगे। जब तक पुरूष वर्ग आदिवासी महिलाओं को मनुष्य नहीं समझेगा तब तक उनका शारीरिक व मानसिक शोषण होता रहेगा। आदिवासी नारी को लड़ना होगा आपने अस्तित्व व अस्मिता की रक्षा के लिए अपनी जमात के लिए अपने समाज के लिए उसे आगे बढ़ना होगा संकीर्ण सोच से।

स्त्री चाहे किसी भी वर्ग या वर्ण की हो। कैसी भी धार्मिक, सामाजिक स्थिति की हैसियत वाली हो, उसे अपना फैसला करने का हक देना, समाज अपनी तौहीन मानता है। मध्यम वर्ग की महिलाओं में यह सब कुछ सामाजिक सुरक्षा के नाम पर होता है, तो उच्च वंश, संस्कार और प्रतिष्ठा के नाम पर होता है, जनजाति नारियों में आर्थिक परिस्थितियों उनकी मजबूरी होती है। एक आदिवासी स्त्री जानती है कि उसकी आर्थिक हालात जब तक नहीं बदलेंगे जब तक उनमें शिक्षा का विकास नहीं होगा। रमणिका गुप्ता के 'सीता–मौसी उपन्यास में मौसी अपने भाई के बेटे के लिए सोचती है– उसका सपना था, मोहना पढ़–लिखकर खूब बड़ा आदमी बने। पुलिस का हवलदार नहीं तो कोलियरी का मुशी या ठेकेदार जरूर बने। खेत में नहीं खटेगा मेरा मोहना। खेत हमनी के पेट भी तो नहीं भर सकत है। न ही पढ़ाई का खर्च दे सकते है। मछुआ चुनकर,

सखुआ बीनकर, कुसुम–पुल सिझाकर, कैसे सालो भर पेट भरतै ? अब महुआ–सखुआ पर भी तो बहुतों की नजर लगी रहती है।

इन महिलाओं को अब ये समझ में आने लगा है कि शिक्षा के अभाव में ये आगे नहीं बढ़ सकती। इसलिए अब ये अपने बच्चों को पढ़ने के लिए शहर भेजने लगी है। जिससे अपने वाले समय में इनको परेशानियों का सामना न करना पड़े। जमाने के बदलने के साथ–साथ इनमें में भी परिवर्तन होने लगे है। गैर आदिवासियों ने इनके उद्योग, व्यापार, संचार और शिक्षा पर प्रभुत्व कायम कर लिया है। सभ्य समाज के लोग इन्हीं आदिवासी महिलाओं के चित्र बनाते है और उन्हें ऊँचे दामों में प्रदर्शनियों में बेच देते है। इसके लिए जागरूक इन्हें ही होना पड़ेगा। जनजाति स्त्रियों को अपने हक की लड़ाई अकेले लड़नी होगी। कोई उन्हें राह नहीं दिखाएगा, उन्हें स्वयं अपनी राह बनानी होगी। अकेले साहस करना होगा। अपनी पहचान बनाने के लिए। रमणिका गुप्ता के सीता–मौसी उपन्यास में सीता समय के साथ चलती है और अपने उद्देश्यों को पहचानती है। रमणिका गुप्ता ने सीता का वर्णन इस प्रकार किया है 'सीता लड़ती, झुकती नहीं है। वह नहीं जानती उद्देश्य क्या होता है. लक्ष्य क्या होता है ? पर वह जानती है, उसे दूसरों की खातिर लड़ना है। एकता करनी है–संगठन बनाना है।'

इसी तरह एक स्त्री को आगे बढ़ना है। अपनी जमात में एकता लानी है। संगठित होकर अपनी लड़ाई लड़नी है। तभी उन्हें सम्मान मिलेगा। जिसकी वे हकदार है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष में पहुँचते है कि जनजाति नारियों पर भी आधुनिकता का प्रभाव हो रहा है। वे हर क्षेत्र में अपने कदम बढ़ा रही है। अब देखना ये है किये अपने को शोषित होने से कैसे बचाती है। और बिना किसी की परवाह किये बगैर अपने को सक्षम करती है। आधुनिक शिक्षा ने जनजातीय महिलाओं में साक्षरता, जागरूकता और आत्मविश्वास को बढ़ाया हैं। विद्यालयों और छात्रवृत्तियों तक पहुॅच से वे सामाजिक बंधनों को समझने और चुनौती देने में सक्षम हुई हैं। औधौगीकरण, स्वंय सहायता समूहों और सरकारी योजनाओं ने जनजातीय महिलाओं को आय के नाए स्त्रोत प्रदान किए हैं। आर्थिक स्वावलंबन से उनकी पारिवारिक और सामाजिक स्थिति में सुधार हुआ है। आधुनिक स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता से मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य में सुधार हुआ है। हालांकि पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों की उपेक्षा और पोषण संबंधी असंतुलन जैसी समस्याएँ भी उभरी हैं। मीड़िया, मोबाइल और इंटरनेट के प्रभाव से जीवन शैली, पहनावा और विचारधारा में बदलाव आया है। इससे एक और आधुनिक मूल्यों का प्रसार हुआ, तो दूसरी ओर सांस्कृतिक पहचान पर दबाब भी बढ़ा।

संदर्भ सूची :–

1. रमणिका गुप्ता, बहू–जुठाई
2. रमणिका गुप्ता, सीता–मौसी
3. चुन्नी सिंह, सहराना
4. मधु कांकरिया, खुले गगन के लाल सितारे, किताबघर प्रकाशन
5. मासिक अंतरराष्ट्रीय पियर रिव्यूड एवं रेफर्ड जर्नल
6. मैत्रेयी पुष्पा, झूलानट, राजकमल प्रकाशन
7. सिंह, डॉ0 अमिता, लिंग और समाज
8. बिन्दु अग्रवाल, हिन्दी उपन्यासों में नारी चिन्तन
9. विद्यालंकर, सत्यकेतु, 'प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन' श्री सरस्वती सदन, नई दिल्ली
10. डॉ0 देवराज, भारतीय दर्शन
11. सिंह, योगेन्द्र, मोडर्नाइजेशन ऑफ इण्डियन ट्रैडीशन
12. दुबे, एस.सी., भारतीय समाज
13. कुरूक्षेत्र, मार्च–2007

Nav Jyoti, Vol. 13, No. 26, January-June 2025 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

ग्रामीण भारत में डिजिटल क्रांति

डॉ. दुर्गेश कुमार पांडेय
असिस्टेंट प्रोफेसर (समाजशास्त्र विभाग)
महाराज बलवंत सिंह पीजी कॉलेज गंगापुर, वाराणसी

सारांश

आज से कुछ वर्ष पहले ही जहां एक सूचना पहुंचने में महीनों लग जाते थे वही आज वो काम पलक झपकते संभव हो गया है। सेस्कया शेषन के शब्दों में आज पूरा विश्व एक गांव बन गया है अर्थात आज चाहे आप कही भी रहे सूचना प्रौद्योगिकी में आई क्रांति ने सब दूरियां मिटा दी है। यही कारण है की वर्तमान युग अर्थात

21वीं सदी को सूचना और तकनीक का युग कहा जाता है। इस युग में डिजिटल तकनीक ने मानव जीवन के सामाजिक आर्थिक राजनीतिक या ये कहे की प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया है। भारत जैसे विशाल और ऐसा देश जहां कि लगभग 60प्रतिशत लोग आज भी गांवों में रहती हैं में डिजिटल क्रांति ने सामाजिक, आर्थिक और प्रशासनिक संरचना में व्यापक परिवर्तन किए हैं। इंटरनेट, स्मार्टफोन और डिजिटल सेवाओं के प्रसार ने भारत को एक नए युग में लाकर खड़ा कर दिया है। आज देश के गांव से लेकर महानगर तक सभी जगह डिजिटल क्रांति का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता हैं।

डिजिटल क्रांति

डिजिटल क्रांति के कारण होने वाले अमूल चूल परिवर्तन के कारण ही इसे तीसरा औद्योगिक क्रांति भी कहा जाता है। इसने यांत्रिक तकनीक को हटाकर कम्प्यूटर, इंटरनेट, तथा स्मार्टफोन के माध्यम डिजिटल तकनीक को हमारे जीवन का आधार बना दिया है। अर्थात ये सूचनाओं को कागज और टेपरिकॉर्डर से विस्थापित कर संगणक की भाषा यानी 0और 1के रूप में संचित कर सूचनाओं को संग्रहित करता है।

डिजिटल क्रांति की पृष्ठभूमि- वैसे तो डिजिटल क्रांति की शुरुआत भारत में 20वी सदी के पहले से ही है।

किंतु एक कार्यक्रम के रूप में

भारत में डिजिटल परिवर्तन को संगठित रूप से आगे बढ़ाने के लिए 1 जुलाई 2015 को Digital India कार्यक्रम की शुरुआत की गई। इसका मुख्य उद्देश्य भारत को डिजिटल रूप से सशक्त समाज और ज्ञान-आधारित अर्थव्यवस्था में परिवर्तित करना था। इस अभियान के तीन प्रमुख स्तंभ हैं—

1. प्रत्येक नागरिक को डिजिटल अवसंरचना उपलब्ध कराना।
2. सरकारी सेवाओं को मांग पर उपलब्ध कराना।
3. नागरिकों को डिजिटल रूप से सशक्त बनाना।

इस पहल के माध्यम से ई-गवर्नेंस, डिजिटल लॉकर, आधार आधारित सेवाएँ, और ऑनलाइन प्रमाणपत्र जैसी सुविधाएँ शुरू की गईं। इंटरनेट और स्मार्टफोन का विस्तार पिछले कुछ वर्षों में भारत में इंटरनेट उपयोगकर्ताओं की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। सस्ते डेटा प्लान और किफायती स्मार्टफोन ने डिजिटल क्रांति को गति दी है। आज करोड़ों लोग सोशल मीडिया, ऑनलाइन बैंकिंग, ई-कॉमर्स और डिजिटल शिक्षा से जुड़े हैं। डिजिटल प्लेटफॉर्म ने संचार को सरल और तेज बना दिया है। अब लोग वीडियो कॉल, ई-मेल और सोशल मीडिया के माध्यम से तुरंत संवाद कर सकते हैं।

डिजिटल भुगतान प्रणाली में बदलाव

भारत में डिजिटल भुगतान प्रणाली ने आर्थिक क्षेत्र में क्रांति ला दी है। विशेष रूप से Unified Payments Interface (UPI) ने लेन-देन को अत्यंत सरल, सुरक्षित और त्वरित बना दिया है। इसके माध्यम से लोग अपने मोबाइल फोन से ही पैसे भेज और प्राप्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त BHIM ऐप ने आम जनता को डिजिटल भुगतान की सुविधा प्रदान की। आज छोटी दुकानों, सब्जी विक्रेताओं और रिक्शा चालकों तक ने डिजिटल भुगतान को अपनाया है। इससे नकदी पर निर्भरता कम हुई है और पारदर्शिता बढ़ी है।

शिक्षा के क्षेत्र में परिवर्तन

डिजिटल क्रांति ने शिक्षा के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण बदलाव लाए हैं। ऑनलाइन कक्षाएँ, ई-लर्निंग प्लेटफॉर्म और डिजिटल पुस्तकालयों ने विद्यार्थियों को नई संभावनाएँ प्रदान की हैं। कोविड-19 महामारी के दौरान ऑनलाइन शिक्षा ने छात्रों की पढ़ाई को निरंतर बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अब विद्यार्थी घर बैठे ही राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय संस्थानों के पाठ्यक्रमों का लाभ उठा सकते हैं। इससे शिक्षा का लोकतंत्रीकरण हुआ है और दूरदराज के क्षेत्रों के छात्रों को भी समान अवसर प्राप्त हो रहे हैं।

स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार

स्वास्थ्य क्षेत्र में भी डिजिटल तकनीक का व्यापक उपयोग हो रहा है। टेलीमेडिसिन के माध्यम से मरीज डॉक्टर से ऑनलाइन परामर्श ले सकते हैं। डिजिटल हेल्थ रिकॉर्ड और ऑनलाइन अपॉइंटमेंट प्रणाली ने स्वास्थ्य सेवाओं को अधिक व्यवस्थित और सुलभ बनाया है। सरकार की विभिन्न स्वास्थ्य योजनाओं में डिजिटल पहचान और डेटा प्रबंधन का उपयोग पारदर्शिता और दक्षता को बढ़ा रहा है।

ग्रामीण भारत में डिजिटल प्रभाव

डिजिटल क्रांति का प्रभाव ग्रामीण भारत में भी दिखाई दे रहा है। कॉमन सर्विस सेंटर (CSC) के माध्यम से ग्रामीण नागरिकों को विभिन्न सरकारी सेवाएँ ऑनलाइन उपलब्ध हो रही हैं। किसान मोबाइल ऐप के जरिए मौसम की जानकारी, फसल के दाम और आधुनिक कृषि तकनीकों की जानकारी प्राप्त कर रहे हैं। इससे उनकी उत्पादकता और आय में वृद्धि हो रही है। डिजिटल बैंकिंग सेवाओं ने ग्रामीण क्षेत्रों में वित्तीय समावेशन को मजबूत किया है।

प्रशासन और पारदर्शिता

ई-गवर्नेंस के माध्यम से सरकारी प्रक्रियाओं में पारदर्शिता और जवाबदेही बढ़ी है। ऑनलाइन आवेदन, डिजिटल प्रमाणपत्र और सार्वजनिक सूचना पोर्टल ने भ्रष्टाचार को कम करने में सहायता की है। नागरिक अब घर बैठे सरकारी सेवाओं का लाभ उठा सकते हैं, जिससे समय और संसाधनों की बचत होती है।

चुनौतियाँ

हालाँकि डिजिटल क्रांति के अनेक लाभ हैं, फिर भी कुछ चुनौतियाँ मौजूद हैं।

डिजिटल साक्षरता की कमी अभी भी कई क्षेत्रों में समस्या है।

साइबर अपराध और डेटा चोरी की घटनाएँ बढ़ रही हैं।

इंटरनेट कनेक्टिविटी की असमानता भी एक बड़ी चुनौती है।

इन समस्याओं के समाधान के लिए सरकार और समाज दोनों को मिलकर प्रयास करने होंगे। साइबर सुरक्षा के प्रति जागरूकता और मजबूत कानूनों की आवश्यकता है।

निष्कर्ष

भारत में डिजिटल क्रांति ने देश को नई दिशा और गति प्रदान की है। इसने आर्थिक विकास, सामाजिक समावेशन और प्रशासनिक पारदर्शिता को मजबूत किया है। डिजिटल तकनीक ने आम नागरिक के जीवन को सरल, सुविधाजनक और आधुनिक बनाया है। यदि

डिजिटल साक्षरता को बढ़ावा दिया जाए और साइबर सुरक्षा को मजबूत किया जाए, तो भारत विश्व में डिजिटल नेतृत्व की भूमिका निभा सकता है।

अतः कहा जा सकता है कि डिजिटल क्रांति केवल तकनीकी परिवर्तन नहीं, बल्कि सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की भी आधारशिला है, जिसने भारत को आत्मनिर्भर और सशक्त राष्ट्र बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम बढ़ाया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ– सूची–

1. सहाय निरंजन, जनसंचार माध्यम और विशेष लेखन, लोकभारती प्रकाशन 2021।
2. कुमार जे.केवल, भारत में जनसंचार जायको पब्लिशिंग हाउस 2023।
3. अमर उजाला वाराणासी संस्करण 30 नवम्बर 2024 पृष्ठ संख्या 4।
4. कुमार, डॉ0 चन्द्र 2007 जनसंचार माध्यमों में हिन्दी नई दिल्ली क्लासिकल पब्सिषिंग कंपनीं
5. कुमार, अनिल 2009 मीडिया कर्मियों का समाजशास्त्र एवं समाचार पत्रों विषयवस्तु में विविधता पर एक अध्ययन।
6. कुलश्रेष्ठ डॉ0 विजय 1988 जनसंपर्क प्रधार एवं विज्ञापन जयपुर राजस्थान प्रकाषन।

Nav Jyoti, Vol. 13, No. 26, January-June 2025 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

महिला सशक्तिकरण की दिशा में विविध सरकारी योजनाऐं

रीता राजपूत,
शोधार्थी, पी.के. विश्वविद्यालय, शिवपुरी (म.प्र.)[1]
डॉ0 सथी रॉय,मण्डल,
शोध निदेशक, पी.के. विश्वविद्यालय, शिवपुरी (म.प्र.)[2]

महिला सशक्तिकरण से आशय है। महिलाओ में स्वंय निर्णय लेने की क्षमता को बढाना व स्वंय के लिए उचित व अनुचित का बोध कराना। आजादी के 75 सालों में देश की स्थिति के साथ महिलाओं की स्थिति में जो बदलाव आया है उसमें उच्च शिक्षा, देश में महिलाओं के लिए आधुनिक सोच के साथ शासन द्वारा चलायी जा रही विभिन्न योजनाओं और उनके सफल क्रियान्वयन का योगदान भी है। आज महिलाओं को वोट देने से लेकर सेना, सिविल सेवा, राजनीति में दिये जा रहे अवसरों का योगदान भी है।

हर युग और हर समाज में कुछ महिलाऐं ऐसी भी होती है जो समाज की हर परपाटी को तोड़कर अपनी राह स्वंय बनाती है ऐसी महिलाओं में छत्तीसगढ़ की फूलवासन देवी का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है। जिन्होने अशिक्षित होते हुए भी लोगों को रोजगार से जोड़ा है और आज भी लोगो को शिक्षा से जोड रही है अत्यंत गरीब परिवार के लिए स्व सहायता समूह में बीस–बीस रूपये जमा कराये। समूह की महिलाओं को यही राशि मुसीबत आने पर दो प्रतिशत ब्याज की दर से दी जाती थी और इस तरह राशि बढ़ती भी थी और महिलाओं को महाजनों से छुटकारा मिल गया था। इनकी इस तरह की कोशिश को देखकर शासन ने उन्हे लधु उद्योगों के लिए लोन दिया और आज इस समूह से जुड़कर ढाई हजार महिलाऐं लाभान्वित हो रही है और सच कहे तो शासन की ग्रामीण महिलाओं को ऊपर उठाने, उन्हे समृद्ध करने का एक मंत्र दिया। आज लगभग ढाई हजार महिलाऐं फूलवासन देवी की स्व सहायता समूह से जुड़कर अपने आप को स्वालंबी बना रही है।

विश्व पटल पर हमारा देश भारत महाशक्ति के रूप में उभर रहा है। आज कल महिला हर क्षेत्रों में पुरूषों की प्रतियोगी है फिर भी वह पहले से कहीं ज्यादा असुरक्षित है स्वच्छन्द वातावरण जीने का अधिकार तो उससे हमेशा से छीना गया है बचपन में पिता व भाई, शादी के बाद पति व पत्नी के बाद पुत्र के संरक्षण में ही उसे जीवन बिताना होता है। विश्व के लगभग सभी समाजों में महिलाओं का स्तर पुरूषों के समान नहीं है वर्तमान सामाजिक ढांचे में पुरूषों को अधिक अधिकार संसाधन और निर्णय लेने की शक्ति प्राप्त है। महिलाओं को परंपरागत भूमिकाय सौपी गई हैं। गॉवों में महिलाऐं खेती का अधिकांश कार्य बीज छीटना, पौधारोपण, खाद–पानी, फसल की कटाई एवं उन्हें घर लाने तक सभी कार्य करती है तो भी महिलाओं को कृषक की श्रेणी में नहीं रखा गया है। एक समान कार्य के लिए पुरूषों की अपेक्षा महिलाओं को कम वेतन व मजदूरी दी जाती है। नौकरियों में भर्ती एवं पदोन्नति में भी भेदभाव किया जाता है जीवन भी मॉ–पिता की सेवा के बाबजूद मुखाग्नि देने का अधिकार केवल पुरूषों को है। आर्थिक रूप से स्वतंत्र होने पर भी घर के मुख्य निर्णयों की जिम्मेदारी उन्हे नहीं सौपीं जाती है।

सशक्तिकरण एक व्यापक शब्द है जिसमें अधिकारों और शक्तियों का स्वाभाविक रूप से समावेश है। महिला सशक्तिकरण से तात्पर्य है एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया से है जिसमें महिलाओं के लिए सर्व सम्पन्न और विकसित होने हेतु संभावनाओं के द्वार खुले नये विकल्प तैयार हो, भोजन, पानी, घर, शिक्षा, स्वास्थ्य

सुविधायें, शिशुपालन, प्राकृतिक संसाधन, बैकिंग सुविधाऐ, कानूनी हक और प्रतिभाओं के विकास हेतु पर्याप्त रचनात्मक अवसर प्राप्त है।

शोषण एवं उत्पीड़न के वावजूद महिलाओं ने प्रत्येक क्षेत्र में अपनी भागीदारी सुनिश्चित की है चाहे वो राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, संगीत, लेखन, फिल्मजगत, गायन, नृत्य, खेलजगत व जनसंचार का क्षेत्र चाहे वो समाज के अन्य क्षेत्र हो सभी क्षेत्रों में अपना परचम लहराया है। भारतीय अनुच्छेद 15 महिलाओं को समानता का अधिकार प्रदान करता है। अनुच्छेद 16 सभी नागरिकों को रोजगार का समान अवसर देता है। अनुच्छेद 39 सुरक्षा तथा रोजगार का समान कार्य के लिए समान वेतन भी स्थापित करता है। पहली महिला आई.पी.एस. किरण वेदी और उनके काम से हर भारतवासी वाकिफ है आज भी अनेकों लोगो का उदारहण बनकर लोगों को पुलिस सेवा में आने के लिए प्रेरित करती है। इंदिरा यूनी (तत्कालीन पेप्सिको की सीईओ) जैसी महिलाओं ने घर में नहीं बल्कि विदेशी धरती पर बड़े–बड़े पदों पर आसीन होकर विदेशों में भारत की महिलाओं की घरेलू महिला वाली छवि को विदेश में तोड़ा है। ये महिलाऐं मजबूत पारिवारिक पृष्ठभूमि से आती है और इन्होनें सिद्ध कर दिया है कि महिलाऐं अवसर मिलने पर देश की कानून व्यवस्था और कम्पनी दोनो बखूबी निभा सकती है।

महिला सशक्तिकरण के लिए सरकार द्वारा चलायी गई कुछ योजनाऐं–

बेटी पढ़ाओं बेटी बचाओं योजना – केन्द्रीय शासन की यह योजना बालिकाओं के लिंग भेदभाव को दूर करने के साथ उन्हे वित्तीय सहायता द्वारा शिक्षा से जोड़कर मानसिक आर्थिक और शारीरिक रूप से स्वस्थ और मजबूत बनाना है।

किशोर बालिका स्कीम – 11–18 वर्ष की आयु वर्ग की किशोर बालिकाओं के लिए शुरू किया गया। यह एक विशेष कार्यक्रम है। जिसका उद्देश्य बालिकाओं की पोषाहार, स्वास्थ्य, शिक्षा तथा कौशल विकास के क्षेत्र सम्बन्धित विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। इस स्कीम के अन्तर्गत ब्लाकों के माध्यम से 3.91 लाख किशोर बालिकाएं लाभान्वित है।

महिला मण्डल कार्यक्रम – 1961–1962 उन क्षेत्रों में प्रारम्भ हुए थे जहां महिलाओं की कल्याण सेवाएं देने के लिए स्वैच्छिक संगठन नहीं थे। महिलाओं के ये ग्रुप गैर सरकारी संगठनों की ही तरह कार्य करते हैं तथा बुनियादी सेवाएं देते है।

विधवा पेंशन – भारत वर्ष में प्राचीनकाल से ही विधवाओं की समाज में दैनीय स्थिति रही है। विधवाओं को समाज के अन्तर्गत उपेक्षा और तिरष्कार की दृष्टि से देखा जाता था, परिवार में ही उन्हें विभिन्न कारणों से उपेक्षित किया जाता था उनके ऊपर अपने सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक निर्योग्ताएं थोप दी जाती थी जिसके कारण अधिकांश विधवाओ को आर्थिक विपन्नता एवं निराक्षितता की स्थिति में जीवन यापन करना पड़ता है। विधवा महिलाओं की इन समस्याओं को दूर करने हेतु या इन्हे कुछ राहत प्रदान करने के लिए विधवा पेंशन कार्यक्रम चलाया गया जिसके अन्तर्गत किसी भी आयु की विधवा की जिसकी आयु 60 वर्ष से कम हो, जो गरीबी रेखा से नीचे एवं निराश्रित हो उन्हें विधवा पेंशन स्कीम के अन्तर्गत रखा जाता है।

वृद्धावस्था पेंशन – भारतीय संविधान की धारा 41 में उल्लिखित राज्य के नीति निर्देशक सिद्धातों के अन्तर्गत केन्द्र तथा राज्य सराकारों ने वृद्धों की सहायता की दृष्टि से वृद्धावस्था पेंशन योजना 1957 में प्रारम्भ हुआ इस योजना को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने वाली योजना में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। भारतवर्ष में विभिन्न काल में इनकी आयु में परिवर्तन होता रहा, वर्तमान समय में 60 वर्ष से ऊपर की आयु के वृद्धों को इस योजना का लाभ मिल रहा है।

महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार योजना – राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारन्टी अधिनियम, 2005, को संसद द्वारा 5 सितम्बर 2005 को पारित किया गया। 2 फरवरी, 2006 से ग्रामीण विकास मंत्रालय द्वारा क्रियान्वित इस अधिनियम में संशोधन कर 2 अक्टूबर, 2009 से इसका नाम 'महात्मा गाँधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारन्टी अधिनियम, 2005' (महात्मा गाँधी नरेगा) कर दिया गया है। यह सरकार का प्रमुख कार्यक्रम है जो सीधे गरीबों के जीवन से जुड़ा है तथा समावेशी विकास को बढ़ावा देता है। इस योजना का श्रीगणेश 02 फरवरी, 2006 को प्रधानमंत्री डॉ० मनमोहन सिंह ने आन्ध्र प्रदेश के अनन्तपुर जिले के बादूपल्ली गाँव में सफलतापूर्वक क्रियान्वयन के साथ प्रारम्भ किया। यह माँग आधारित योजना हैं। अर्थात् प्रत्येक रोजगार के लिये इच्छुक श्रमिक को इस योजना के तहत रोजगार उपलब्ध कराया जायेगा।

कन्या सुमंगला योजना – भारत का सामाजिक तानाबाना स्वयं में जटिल और संवेदी है। सामाजिक, धार्मिक, शैक्षिक और पारिवारिक परिस्थितियां महिलाओं और बालिकाओं के लिए अनादिकाल से भेदभाव पूर्ण रही है। समाज में प्रचलित कुरीतियां एवं भेद–भाव जैसेः कन्या भ्रूण हत्या, असमान लिंगानुपात, बाल विवाह एवं बालिकाओं के प्रति परिवार की नकारात्मक सोच जैसी प्रतिकूलताओं के कारण प्रायः बालिकायें/महिलायें अपने जीवन, संरक्षण, स्वास्थ एवं शिक्षा जैसे मौलिक अधिकारों से वंचित रह जाती हैं। इन सामाजिक कुरीतियों को दूर करने हेतु सरकारी और गैर–सरकारी स्तर पर निरन्तर प्रयास भी किये जा रहे हैं। इस परिवेश के दृष्टिगत उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा मुख्यमंत्री कन्या सुमंगला योजना के रूप में नई पहल की जा रही है जो अत्यन्त आवश्यक है। राज्य सरकार द्वारा बालिकाओं एवं महिलाओं को सामाजिक सुरक्षा के साथ–साथ विकास हेतु नये अवसर प्रदान करने के लिए यह योजना प्रारम्भ की जा रही है। इसके फलस्वरूप जहाँ एकतरफ कन्या भ्रूण हत्या एवं बाल–विवाह जैसी कुरीतियों के रोकथाम के प्रयासों को बल मिलेगा वहीं दूसरी ओर बालिकाओं को उच्च शिक्षा व रोजगार के अवसरों की ओर बढ़ने का अवसर प्राप्त होगा। महिला सशक्तिकरण वर्तमान उत्तर प्रदेश सरकार की प्रतिबद्धता है। पोर्टल का उद्घाटन श्री योगी आदित्य नाथ, माननीय मुख्यमंत्री, उत्तर प्रदेश, राज्यपाल श्रीमती आनंदी बेन पटेल और माननीय कैबिनेट मंत्री स्मृति जुबिन ईरानी, महिला एवं बाल विकास, भारत सरकार द्वारा दिनाँक 25 अक्टूबर 2019 को किया गया।

प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना – इस योजना का प्रारंभ 1 मई 2016 में किया गया है। यह योजना महिलाओं को रसोई गैस की सुविधा प्रदान करने के लिए किया गया है, इसके साथ ही महिला के स्वास्थ्य की सुरक्षा करना भी है। इस योजना के तहत गृहणियों को मुफ्त एल.पी.जी. कनेक्शन प्रदान किया जाता है।

सुकन्या समृद्धि योजना – केन्द्रीय शासन की यह योजना बालिकाओं के विवाह और उच्च शिक्षा में मदद करने के उद्देश्य से केन्द्र सरकार ने जनवरी 2022 से शुरू की है। इस योजना में बालिका के माता–पिता किसी भी राष्ट्रीय बैक या पोस्ट ऑफिस में 250 रूपये से खाता खुलवा सकते हैं और यह बालिका के दस वर्ष के होने तक किया जा सकता है।

निष्कर्ष – राज्य और केन्द्र सरकार दोनों के द्वारा महिलाओं को आर्थिक मजबूती प्रदान करने हेतु अनेक योजनाऐं चलाई जा रही है। जिसमें शहरी महिलाओं के साथ ग्रामीण महिलाऐं भी मजबूत बन सके और इन योजनाओं से महिलाओं को फायदा भी हुआ है लेकिन यह भी देखा जा रहा है कि इन योजनाओं से महिलाओं को मिलने वाले लाभ का प्रतिशत मुश्किल से बीस फीसदी है। उपरोक्त योजनाएं भी महिलाओं के न केवल कल्याण बल्कि उन्हें आर्थिक उन्नति के साथ मानसिक और नैतिक मजबूती देती है। शासन की मंशा तब पूर्ण समझी जायेगी जब इन योजनाओं से अधिसंख्य महिलाओं को फायदा मिले लेकिन शासन की इन योजनाओं का सही और ईमानदार क्रियान्वयन के अभाव में यह योजनाऐं पात्र महिलाओं तक नहीं पहुच पाती। प्रचार प्रसार किया तो जाता है परन्तु सघन प्रचार प्रसार के अभाव में और जिम्मेदार अधिकारियों और कर्मचारियों

द्वारा अपने पंसदीदा लोगों को फायदा देने के उद्देश्य प्रचार प्रचार को मात्र औपचारिक बनाया जाता है शासन को चाहिए कि शासन की योजनाओं को लोगो तक पहुचाने वाली संस्था या एजेंसी की मानिंटरिंग हो और कुछ दोषी अधिकारियों और कर्मचारियों को सजा भी सजा भी मिले जिससे शासन की महिला कल्याणकारी योजनाओं से किसी प्रकार की छेड़छाड न की जा सके। इन योजनाओं की मानिटरिंग उन सेवानिवृत्त होने वाले अधिकारियों से कराई जाऐ। जिनका सर्विस रिकार्ड बेदाग रहा हो जिससे इन योजनाओं को सचमुच पात्र लोगों तक पहुंचाया जा सके और शासन की महिलाओं को आर्थिक मजबूती देने की मंशा पूरी हो सके। महिला सशक्तिकरण की सार्थकता भी इसी में है कि उन्हे इतना समर्थ बनाया जाये कि वे अपनी क्षमताओं एवं योग्याताओं को पहचान सके और इसका उपयोग अपने जीवन में कर सकें।

संदर्भ ग्रंथ सूची –

1. मीनाली निशांत सिंह, आधुनिकता एवं महिला उत्पीड़न
2. डॉ0 वीरेन्द्र सिंह यादव, इक्कीसवी सदी का महिला सशक्तिकरण : मिथक एवं यथार्थ
3. डॉ0 निशांत सिंह, भारतीय महिलाएँ एक सामाजिक अध्ययन
4. स्त्री विमर्श : साहित्यिक एवं व्यवहारिक सन्दर्भ – डॉ0 करूणा उभरे
5. प्रो. कमला प्रसाद स्त्री : मुक्ति का सपना
6. रजनी पामदत्त, आज का भारत
7. स्त्री और समाज – प्रदीप पंत
8. डॉ0 विनय कुमार पाठक, स्त्री विमर्श –
9. https://sarkaryojana.in/mahilao-ke-liye-sarkari-yojanaye
10. https://sarkaryojana.in/pm-free-yojana

Nav Jyoti, Vol. 13, No. 26, January-June 2025 **ISSN : 2249-7331**
Peer Reviewed Journal, Impact Factor *6.0* (IIFS)

केंद्रीय माध्यमिक विद्यालयों और मध्य प्रदेश माध्यमिक विद्यालयों में यौगिक तथा गैर-योगिक छात्रों के बीच नैतिक मूल्यों का तुलनात्मक अध्ययन

शैलेन्द्र कुमार सेन,

पीएचडी स्कॉलर, शारीरिक शिक्षा विभाग,
एपीएस विश्वविद्यालय, रीवा, मध्य प्रदेश,
email- shailendradabbang786@gmail.com
डॉ भरत कुमार विश्वकर्मा
सहायक प्राध्यापक, शारीरिक शिक्षा विभाग,
एपीएस विश्वविद्यालय, रीवा, मध्य प्रदेश

सारांश

*यह शोध पत्र केंद्रीय माध्यमिक विद्यालयों (केवी) और मध्यप्रदेश माध्यमिक विद्यालयों में योगिक छात्रों के बीच नैतिक मूल्यों के स्तर की तुलनात्मक जांच प्रस्तुत करता है। अध्ययन का उद्देश्य यह समझना है कि विभिन्न शैक्षिक प्रणालियों में योगिक अभ्यास करने वाले छात्रों में नैतिक मूल्यों का स्तर किस प्रकार भिन्न हो सकता है। **प्रतिभागियों का चयन:** अध्ययन में कुल **150** छात्रों को शामिल किया गया, जिनमें प्रत्येक समूह (केवी और मध्यप्रदेश स्कूल) से **75** छात्र थे, जिनकी आयु **10** से **16** वर्ष के बीच थी। प्रतिभागियों का चयन यादृच्छिक रूप से किया गया, ताकि विभिन्न सामाजिक-आर्थिक और शैक्षिक पृष्ठभूमियों का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित हो। **शोध पद्धति**: नैतिक मूल्यों को मापने के लिए डॉ. डॉ. सुरभि अग्रवाल द्वारा विकसित "नैतिक मूल्यों की सूची" का उपयोग किया गया, जो विशेष रूप से किशोरों में नैतिक मूल्यों के स्तर को मापने के लिए डिज़ाइन किया गया है। **सांख्यिकीय विश्लेषण**: डेटा संग्रहण के लिए सर्वेक्षण-आधारित शोध पद्धति अपनाई गई, और डेटा का विश्लेषण सांख्यिकीय सॉफ्टवेयर **SPSS** का उपयोग करके टी-टेस्ट के माध्यम से किया गया। **परिणाम**: केवी स्कूल का मध्यमान 14.24 है, जबकि मध्यप्रदेश सरकार स्कूल के छात्रों का मध्यमान 13.94 है। केवी स्कूल में स्कोरों का फैलाव अधिक है, जिसका मानक विचलन 2.87 है, जबकि मध्यप्रदेश सरकार स्कूल में यह 2.62 है। दोनों स्कूल के मध्यमान के बीच का अंतर .297 हैए जिसका मानक त्रुटि .639 है। ष्जष् मान .376 दिखाता है कि दोनों स्कूल के बीच यह अंतर सांख्यिकीय रूप से इतनां महत्वपूर्ण नही है। **निष्कर्ष**: केवी स्कूल के विद्यार्थियों का प्रदर्शन मध्यप्रदेश सरकार स्कूल के विद्यार्थियों का प्रदर्शन लगभग सामान है। यह परिणाम यह संकेत देता है कि दोनों स्कूलों के बीच योग्यता या प्रदर्शन में कोई सार्थक अंतर नही है। लेकिन इसके प्रभाव को और गहराई से समझने के लिए अतिरिक्त शोध की आवश्यकता है।*

मुख्य शब्द: नैतिक मूल्यों, योगिक छात्र, विद्यालय

परिचय

शिक्षा का स्वास्थ्य और कल्याण पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। यह व्यक्ति को स्वस्थ जीवनशैली अपनाने और स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं से निपटने के लिए आवश्यक जानकारी प्रदान करती है। शिक्षित व्यक्ति स्वस्थ रहने के महत्व को समझता है और वह अपने और अपने परिवार के स्वास्थ्य का बेहतर ख्याल रख सकता है।

केंद्रीय माध्यमिक विद्यालय (केवी): केंद्रीय माध्यमिक विद्यालय, जिसे केवी के नाम से जाना जाता है, भारतीय सरकार द्वारा संचालित एक प्रमुख शैक्षणिक संस्थान है। केवी विद्यालयों की स्थापना 1963 में की गई थी और ये भारत सरकार के विभिन्न विभागों के कर्मचारियों

के बच्चों के लिए विशेष रूप से स्थापित किए गए थे। इन विद्यालयों का मुख्य उद्देश्य पूरे देश में एक समान और उच्च गुणवत्ता वाली शिक्षा प्रदान करना है। केवी विद्यालयों में उच्च गुणवत्ता की शिक्षा प्रदान करने के लिए एक सुव्यवस्थित पाठ्यक्रम, सक्षम शिक्षक, और उत्कृष्ट शैक्षणिक वातावरण सुनिश्चित किया जाता है। केवी विद्यालयों की विशिष्टता उनकी एकरूप पाठ्यचर्या, समग्र शिक्षा दृष्टिकोण, और नैतिक मूल्यों की शिक्षा में निहित है। यहाँ पर शिक्षा के विभिन्न स्तरों के लिए एक ही परिसर में सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं, जिससे छात्रों को एक निरंतर और व्यवस्थित शैक्षणिक अनुभव प्राप्त होता है।

मध्य प्रदेश के राज्य माध्यमिक विद्यालय: मध्य प्रदेश के राज्य माध्यमिक विद्यालय राज्य सरकार द्वारा संचालित होते हैं और ये स्थानीय जरूरतों, सांस्कृतिक संदर्भों, और सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए कार्य करते हैं। यहाँ पर प्राथमिक से लेकर उच्च माध्यमिक स्तर की शिक्षा प्रदान की जाती है और प्रत्येक स्तर के लिए अलग-अलग पाठ्यक्रम और शैक्षणिक दृष्टिकोण अपनाया जाता है। राज्य माध्यमिक विद्यालयों की संरचना में विविधता पाई जाती है, जो स्थानीय भाषाओं, सांस्कृतिक मान्यताओं, और सामाजिक जरूरतों पर आधारित होती है। यहाँ की शिक्षा प्रणाली स्थानीय सांस्कृतिक संदर्भों के आधार पर पाठ्यक्रम की सामग्री और शिक्षण विधियाँ निर्धारित करती हैं।

यौगिक विद्यालय: यौगिक विद्यालय वे विद्यालय होते हैं जो प्राथमिक से लेकर उच्च माध्यमिक स्तर की शिक्षा एक ही परिसर में प्रदान करते हैं। ये विद्यालय एक ही स्थल पर विभिन्न शैक्षणिक सेवाओं और सुविधाओं की पेशकश करते हैं, जिससे विद्यार्थियों को सभी शैक्षणिक स्तरों पर एक ही परिसर में शिक्षा प्राप्त होती है। यौगिक विद्यालयों की संरचना में प्राथमिक, मध्य, और उच्च माध्यमिक शिक्षा के लिए एक ही स्थान पर सभी सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं, जो एक व्यवस्थित और समन्वित शैक्षणिक अनुभव प्रदान करती हैं।

नैतिक मूल्य: नैतिक मूल्य बच्चों के व्यक्तिगत और सामाजिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये मूल्य बच्चों को निम्नलिखित तरीकों से मदद करते हैं:

सामाजिक संबंधों में सुधार: नैतिक मूल्य बच्चों को सामाजिक संबंधों में सुधार करने में मदद करते हैं।

व्यक्तिगत विकास: नैतिक मूल्य बच्चों के व्यक्तिगत विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

निर्णय लेने में मदद: नैतिक मूल्य बच्चों को निर्णय लेने में मदद करते हैं।

समाज में योगदान: नैतिक मूल्य बच्चों को समाज में योगदान करने में मदद करते हैं।

नैतिक मूल्य बच्चों के व्यक्तिगत और सामाजिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। डॉ. सुरभि अग्रवाल द्वारा डिज़ाइन की गई नैतिक मूल्यों की सूची बच्चों के नैतिक मूल्यों का आकलन करने का एक महत्वपूर्ण उपकरण है। माता-पिता और शिक्षकों को बच्चों को नैतिक मूल्यों के बारे में शिक्षित करना चाहिए ताकि वे अपने जीवन में इन मूल्यों को अपना सकें।

नैतिक मूल्यों की सूची में निम्नलिखित प्रमुख नैतिक मूल्य शामिल किए गए हैं:

1. **ईमानदारी**: यह मूल्य सच्चाई और पारदर्शिता के महत्व को दर्शाता है। प्रश्नावली में ऐसे प्रश्न शामिल हैं जो बच्चों के ईमानदार व्यवहार और झूठ बोलने के प्रति उनके दृष्टिकोण को मापते हैं।
2. **दया**: यह मूल्य दूसरों के प्रति सहानुभूति और करुणा को महत्व देता है। प्रश्नावली में दया से संबंधित प्रश्न यह समझने में मदद करते हैं कि बच्चे दूसरों की कठिनाइयों और दर्द को कितना समझते हैं और उनके प्रति कितनी सहानुभूति दिखाते हैं।
3. **सहनशीलता**: यह मूल्य विभिन्न दृष्टिकोणों और विचारों को स्वीकार करने की क्षमता को मापता है। इसमें प्रश्न शामिल हैं जो बच्चों के विभिन्न विचारों और मान्यताओं के प्रति उनके दृष्टिकोण को दर्शाते हैं।
4. **सम्मान**: यह मूल्य दूसरों की भावनाओं और अधिकारों का सम्मान करने को संदर्भित करता है। प्रश्नावली में ऐसे प्रश्न शामिल हैं जो बच्चों के सम्मानजनक व्यवहार और दूसरों के प्रति उनकी आदरभावना को मापते हैं।
5. **सहानुभूति**: यह मूल्य दूसरों की भावनाओं को समझने और साझा करने की क्षमता को मापता है। इसमें प्रश्न शामिल हैं जो बच्चों की सहानुभूति और उनकी भावनात्मक समझ को मापते हैं।

नैतिक मूल्यों की सूची का उपयोग बच्चों के नैतिक विकास को समझने और मूल्यांकन करने के लिए किया जा सकता है। इस सूची के माध्यम से प्राप्त डेटा का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो सकता है कि बच्चे किस हद तक विभिन्न नैतिक मूल्यों को अपनाते हैं और उनके सामाजिक व्यवहार पर इन मूल्यों का क्या प्रभाव है। इसके परिणाम बच्चों की नैतिक शिक्षा और विकास के लिए रणनीतियों को सुधारने में सहायक हो सकते हैं (अग्रवाल, न.d.)।

उद्देश्य-केंद्रीय और मध्य प्रदेश माध्यमिक विद्यालयों में योगिक छात्रों के नैतिक मूल्यों का तुलनात्मक अध्ययन।

शोध पद्धति

अध्ययन में कुल 150 छात्रों को शामिल किया गया था, जिनमें से प्रत्येक 75 छात्र केंद्रीय विद्यालय (केवी) और मध्य प्रदेश सरकार के स्कूलों से थे। प्रतिभागियों को 10 से 16 वर्ष की आयु सीमा के भीतर विभिन्न ग्रेडों से प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के लिए यादृच्छिक रूप से चुना गया था। इस चयन प्रक्रिया में, यह सुनिश्चित किया गया था कि अध्ययन के लिए प्रतिनिधित्वित छात्र विभिन्न सामाजिक और शैक्षिक पृष्ठभूमियों से हों।

नैतिक मूल्यों के मापन के लिए प्रयुक्त प्रश्नावली:

डॉ. सुरभि अग्रवाल द्वारा विकसित "नैतिक मूल्यों की सूची" प्रश्नावली विशेष रूप से नैतिक मूल्यों को मापने के लिए तैयार की गई है। इस प्रश्नावली का उद्देश्य यह समझना है कि व्यक्ति या समूह के लिए कौन-कौन से नैतिक मूल्य महत्वपूर्ण हैं और वे इन मूल्यों को किस हद तक अपनाते हैं। ताकि यह सुनिश्चित हो सके कि यह उपकरण छात्रों की नैतिक मूल्यों को सटीक रूप से माप सके।

मापदंड माप

मापदंड माप	विवरण	मापन विधि
डॉ. सुरभि अग्रवाल	नैतिक मूल्यों के मापन	बच्चों के लिए नैतिक मूल्यों की सूची

प्रश्नों की संरचना:

इस प्रश्नावली में विभिन्न प्रकार के प्रश्न शामिल हैं जो नैतिक मूल्यों के विभिन्न आयामों को मापते हैं।

प्रश्न आमतौर पर बहुविकल्पीय (Multiple Choice) या स्केल आधारित (Likert Scale) होते हैं, जहां उत्तरदाता को अपनी भावना और प्रतिक्रिया को रेट करना होता है।

मापन के आयाम:

यह प्रश्नावली नैतिक मूल्यों के कई आयामों को कवर करती है, जैसे सत्य, ईमानदारी, समानता, न्याय, करुणा, सम्मान, और जिम्मेदारी। प्रत्येक आयाम के लिए विशिष्ट प्रश्न तैयार किए गए हैं जो उत्तरदाताओं की नैतिक मान्यताओं और व्यवहारों को मापने में सक्षम होते हैं।

विश्वसनीयता और वैधता:

इस प्रश्नावली की विश्वसनीयता (Reliability) और वैधता (Validity) का परीक्षण विभिन्न अध्ययनों और नमूनों पर किया गया है। परिणामस्वरूप, यह उपकरण विश्वसनीय माना जाता है और विभिन्न सांस्कृतिक और सामाजिक संदर्भों में उपयोग के लिए उपयुक्त है।

प्रश्नावली का उपयोग

प्रश्नावली का उपयोग विभिन्न शैक्षणिक और पेशेवर सेटिंग्स में किया जा सकता है, जैसे स्कूल, कॉलेज, और संगठनात्मक अनुसंधान।शिक्षकों, मनोवैज्ञानिकों, और प्रबंधन विशेषज्ञों द्वारा इस प्रश्नावली का उपयोग नैतिक मूल्यों का मूल्यांकन करने और नैतिक शिक्षा और प्रशिक्षण के लिए उपयुक्त हस्तक्षेप विकसित करने के लिए किया जाता है।

परिकल्पना

केंद्रीय माध्यमिक विद्यालयों और मध्य प्रदेश माध्यमिक विद्यालयों दोनों में योगिक छात्रों के बीच नैतिक मूल्यों में महत्वपूर्ण अंतर है।

सांख्यिकीय विश्लेषण

सर्वेक्षण डेटा के मात्रात्मक विश्लेषण के लिए टी-टेस्ट जैसे सांख्यिकीय परीक्षणों का उपयोग करने के लिए सांख्यिकीय सॉफ़्टवेयर नियोजित करने का निर्णय लिया था। टी-टेस्ट सांख्यिकीय तकनीक का उपयोग करने का निर्णय लिया था क्योंकि यह दो समूहों के बीच के औसत का तुलना करने के लिए अत्यंत उपयुक्त होता है। यह परीक्षण यह निर्धारित करने में मदद करता है कि क्या दो समूहों के बीच का अंतर सांख्यिकीय रूप से महत्वपूर्ण है या नहीं।

शोधकर्ता ने एसपीएसएस (SPSS) सॉफ़्टवेयर का उपयोग किया क्योंकि यह डेटा विश्लेषण और सांख्यिकीय परीक्षणों के लिए व्यापक रूप से मान्यता प्राप्त और उपयोग किया जाने वाला टूल है। एसपीएसएस की मदद से, उन्होंने डेटा को कुशलतापूर्वक प्रबंधित और विश्लेषण किया, जिससे सटीक और विश्वसनीय परिणाम प्राप्त हुए।

परिणाम

Table 1

वर्णनात्मक विश्लेषण: एमपीएस योगिक छात्रों में नैतिक मूल्यों का अध्ययन

		MPS yogic
N	Valid	37
	Missing	1
Mean		13.94
Std. Error of Mean		.431
Std. Deviation		2.62
Variance		6.88
Skewness		-.152
Std. Error of Skewness		.388
Kurtosis		-1.202
Std. Error of Kurtosis		.759
Range		8.00
Minimum		10.00
Maximum		18.00

टेबिल नं--**5** को देखने से ज्ञात होता है कि (MPBS) मध्य प्रदेश बोर्ड स्कूल के योगिक छात्र के नैतिक मूल्य के आंकड़ों का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि कुल **38** नमूनों में से **37** मान्य हैं और **1** मान अनुपलब्ध है। इन आंकड़ों का औसत स्कोर **13.94** है**,** जिसका अर्थ है कि अधिकतर (MPBS) मध्य प्रदेश बोर्ड स्कूल के प्रतिभागियों का स्कोर इस स्तर के आसपास है। मानक विचलन **2.62** है**,** जो बताता है कि स्कोरों में मध्यम स्तर की विविधता पाई गई है।

आंकड़ों का वितरण थोड़ा बायाँ झुका हुआ है (पक्षाघात **-0.152),** जबकि (MPBS) मध्य प्रदेश बोर्ड स्कूल के योगिक छात्रों की मानक त्रुटि **0.388** थी। विषमता के ये मान महत्वहीन है क्योंकि ये उनकी मानक त्रुटि के दो गुना से अधिक नहीं है। जिससे यह संकेत मिलता है कि कुछ प्रतिभागियों के स्कोर अपेक्षाकृत कम हैं। कुर्तोसिस **-1.202** है**,** जबकि (MPBS) मध्य प्रदेश बोर्ड स्कूल के योगिक खिलाड़ियों की मानक त्रुटि **0.759** है जो दर्शाता है कि वितरण अपेक्षाकृत सपाट है और चरम मान कम हैं। कर्टोसिस के ये मान महत्वहीन है क्योंकि वे अपने मानक त्रुटि से दो गुना से अधिक नहीं है। इसलि**,** (MPBS) मध्य प्रदेश बोर्ड स्कूल के योगिक खिलाड़ियों का प्रदर्शन उच्च स्तर पर है।

उसी नैतिक मूल्य **श्रेणियों** में**,** न्यूनतम और अधिकतम मान (MPBS) मध्य प्रदेश बोर्ड स्कूल के योगिक खिलाड़ियों (**10** और **18)**। विचर.ा Ûु.ाांक के मान को देखने पर यह पता चला कि (MPBS) मध्य प्रदेश बोर्ड स्कूल के योगिक खिलाड़ियों में भिन्नता (**6.8)** अधिक है। कुल मिलाकर**,** ये आंकड़े (MPBS) मध्य प्रदेश बोर्ड स्कूल के योगिक के स्कोरों में सामान्य समानता और मध्यम फैलाव को दर्शाते हैं**,** साथ ही कुछ कम स्कोर वाले प्रतिभागियों की उपस्थिति को भी इंगित करते हैं।

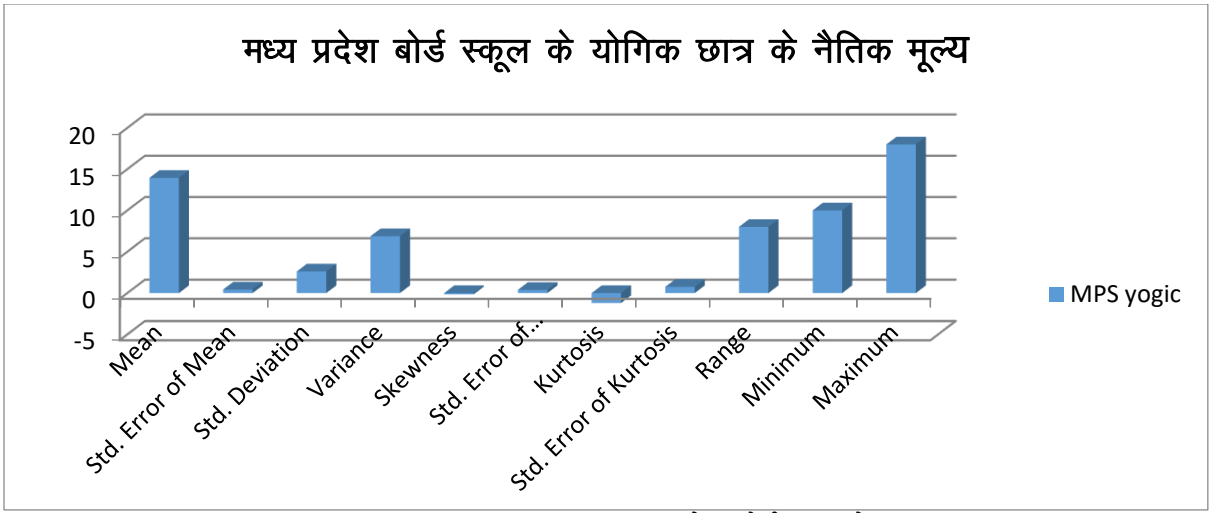

xzkQ ua-&1 o.kZukRed vkadM+ksa ds vk/kkj ij मध्य प्रदेश बोर्ड स्कूल के ;ksfxd Nk= ds uSfrd ewY; dk fo'ys"k.k

Table 2

वर्णनात्मक विश्लेषण: केवीएस योगिक छात्रों में नैतिक मूल्यों का अध्ययन

variables		KVS Yogic
N	Vaild	38
	Missing	0
Mean		10.74
Std. Error of Mean		.328
Std. Deviation		2.02
Variance		4.09
Skewness		.070
Std. Error of Skewness		.383
Kurtosis		-.699
Std. Error of Kurtosis		.750
Range		8.00
Minimum		7.00
Maximum		15.00

टेबिल नं--2 को देखने से ज्ञात होता है कि (KVS) केंद्रीय विद्यालय स्कूल के योगिक छात्र के नैतिक मूल्य के आंकड़ों का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि कुल 38 नमूनों में से 38 नमूनये मान्य उपलब्ध है। इन आंकड़ों का औसत स्कोर 10.74 है, जिसका अर्थ है कि अधिकतर (KVS) केंद्रीय विद्यालय स्कूल के प्रतिभागियों का स्कोर इस स्तर के आसपास है। मानक विचलन 2.02 है, जो बताता है कि स्कोरों में मध्यम स्तर की विविधता पाई गई है।

नैतिक मूल्यों के आंकड़ों का वितरण थोड़ा बायाँ झुका हुआ है (पक्षाघात -0.070), जबकि (KVS) केंद्रीय विद्यालय स्कूल के योगिक खिलाड़ियों की मानक त्रुटि 0.383 थी। विषमता के ये मान महत्वहीन है क्योंकि ये उनकी मानक त्रुटि के दो गुना से अधिक नहीं है । जिससे यह संकेत मिलता है कि कुछ प्रतिभागियों के स्कोर अपेक्षाकृत कम हैं। कुर्तोसिस -.699 है, जबकि (KVS) केंद्रीय विद्यालय

स्कूल के योगिक खिलाड़ियों की मानक त्रुटि 0.750 है जो दर्शाता है कि वितरण अपेक्षाकृत सपाट है और चरम मान कम हैं। कर्टोसिस के ये मान महत्वहीन है क्योंकि वे अपने मानक त्रुटि से दो गुना से अधिक नहीं है। इसलि, (KVS) केंद्रीय विद्यालय स्कूल के योगिक खिलाड़ियों का प्रदर्शन उच्च स्तर पर है।

उसी नैतिक मूल्य श्रेढियों में, न्यूनतम और अधिकतम मान (KVS) केंद्रीय विद्यालय स्कूल के योगिक खिलाड़ियों (7 और 15)। विचर.ा Ú.ाा◌ंक के मान को देखने पर यह पता चला कि (KVS) केंद्रीय विद्यालय स्कूल के योगिक खिलाड़ियों में भिन्नता (4.09) अधिक है। कुल मिलाकर, ये आंकड़े (KVS) केंद्रीय विद्यालय स्कूल के योगिक के स्कोरों में सामान्य समानता और मध्यम फैलाव को दर्शाते हैं, साथ ही कुछ कम स्कोर वाले प्रतिभागियों की उपस्थिति को भी इंगित करते हैं।

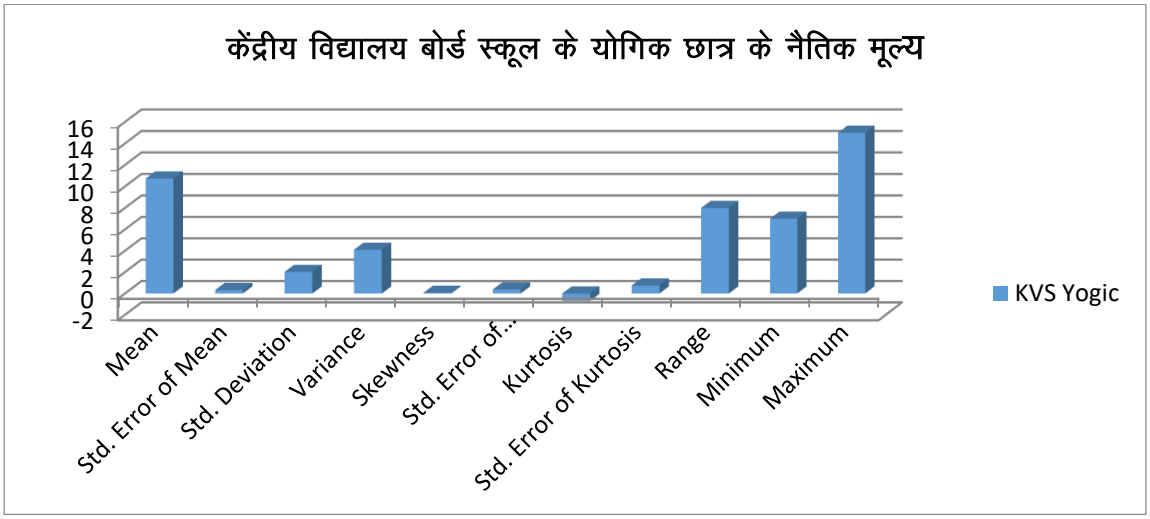

xzkQ ua-&1 o.kZukRed vkadM+ksa ds vk/kkj ij dsaæh; fo|ky; स्कूल के ;ksfxd Nk= ds uSfrd ewY;ks dk fo'ys"k.*k*

Table-3

केन्द्रीय विद्यालय संगठन और मध्य प्रदेश बोर्ड स्कूलों के योगिक समूहों के बीच नैतिक मूल्य के औसत स्तर में अंतर की सांख्यिकीय महत्वपूर्णता

Groups	Mean	SD	SE Mean	DM	SE Mean Diff.	"t" ratio
KV School	14.24	2.87	.472	.297	.639	.376
MP Govt. School	13.94	2.62	.431			

***Significant at 0.05 level**

$t_{.05}(73) = 1.99$

यह तालिका दो समूहों कृ केवी स्कूल और मध्यप्रदेश सरकार स्कूल कृ के योगिक छात्रों का नैतिक मूल्यों (Mean), मानक विचलन (SD), मानक त्रुटि (SE Mean), और दोनों समूहों के औसत में अंतर (Mean Difference) के सांख्यिकीय विश्लेषण को दर्शाती है।

केवी स्कूल का मध्यमान 14.24 है, जबकि मध्यप्रदेश सरकार स्कूल के छात्रों का मध्यमान 13.94 है। केवी स्कूल में स्कोरों का फैलाव अधिक है, जिसका मानक विचलन 2.87 है, जबकि मध्यप्रदेश सरकार स्कूल में यह 2.62 है। दोनों स्कूल के मध्यमान के बीच का अंतर .297 हैए जिसका मानक त्रुटि .639 है। ष्जष् मान .376 दिखाता है कि दोनों स्कूल के बीच यह अंतर सांख्यिकीय रूप से इतनां महत्वपूर्ण नही है। अर्थातए केवी स्कूल के विद्यार्थियों का प्रदर्शन मध्यप्रदेश सरकार स्कूल के विद्यार्थियों का प्रदर्शन लगभग सामान है। यह परिणाम यह संकेत देता है कि दोनों स्कूलों के बीच योग्यता या प्रदर्शन में कोई सार्थक अंतर नही है।

प्राप्त परिणामों का रेखाचित्रीय विश्लेषण करने के उद्देश्य से ग्राफ नं.-15 निर्मित किया गया है। जिसमें हम योगिक छात्रों का दोनों केवी स्कूल और मध्यप्रदेश सरकार छात्रों के मध्यमानों से नैतिक मूल्यों का आधार तुलनात्मक विश्लेषण करेंगे।

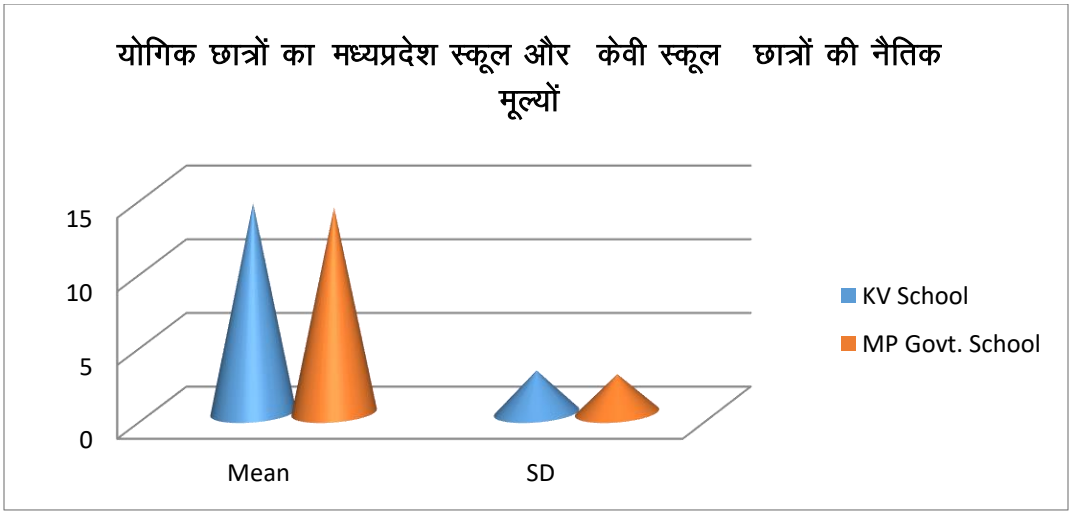

xzkQ ua-&3 e/;ekuksa ds vk/kkj ij ;ksfxd Nk=ksa dk मध्यप्रदेश स्कूल vkSj केवी स्कूल Nk=ksa dh uSfrd ewY;ksa dk rqyukRed v/;;u

निष्कर्षों की चर्चा

नैतिक मूल्यों के संदर्भ में, KVS में योगिक छात्रों का औसत स्कोर 14.24 है । इसी प्रकार, MPBS में योगिक छात्रों का औसत स्कोर 13.95 है, जिसमें 't' मान .396 सांख्यिकीय रूप से महत्वपूर्ण है। ये परिणाम दर्शाते हैं कि योग अभ्यास नैतिक मूल्यों को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

यह निष्कर्ष जोशी और शर्मा (2019) के अध्ययन से समर्थन प्राप्त करता है, जिन्होंने बताया कि योग अभ्यास, विशेष रूप से यम (सत्य, अहिंसा, आदि) और नियम (स्वच्छता, संतोष, आदि) जैसे नैतिक सिद्धांत, छात्रों में आत्म-नियंत्रण, करुणा, और नैतिक जागरूकता को बढ़ावा देते हैं। उनके शोध में यह भी उल्लेख किया गया कि योग का दार्शनिक दृष्टिकोण छात्रों को नैतिक निर्णय लेने और नैतिक व्यवहार को अपनाने में प्रेरित करता है। इसके अतिरिक्त, पांडे और वर्मा (2020) ने अपने अध्ययन में पाया कि योग आधारित हस्तक्षेप नैतिक निर्णय लेने की क्षमता को बढ़ाते हैं, क्योंकि यह आत्म-जागरूकता और भावनात्मक बुद्धिमत्ता को प्रोत्साहित करता है।

शैक्षिक नीतियों और प्रथाओं पर प्रभाव

नैतिक मूल्यों के संदर्भ में, यह अध्ययन दर्शाता है कि योग अभ्यास नैतिक जागरूकता और व्यवहार को बढ़ावा देता है। हालांकि, KVS और MPBS के बीच नैतिक मूल्यों में कोई सार्थक अंतर न होने से यह संकेत मिलता है कि नैतिक शिक्षा को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए स्कूलों को अपने पाठ्यक्रम में नैतिकता से संबंधित गतिविधियों और चर्चाओं को शामिल करना चाहिए। शिक्षकों को नैतिक शिक्षा के लिए प्रशिक्षित करना और छात्रों को नैतिक दुविधाओं पर चर्चा करने के अवसर प्रदान करना भी महत्वपूर्ण है।

परिकल्पना पर चर्चा

परिकल्पना : जो छात्र योगाभ्यास करते हैं उनमें नैतिक मूल्यों का स्तर उन छात्रों की तुलना में अधिक होगा जो ऐसा नहीं करते हैं, खासकर जब केंद्रीय विद्यालयों और मध्य प्रदेश विद्यालयों की तुलना की जाती है।

यह परिकल्पना तालिका 1 और 2 के परिणामों से पूरी तरह पुष्टि होती है। तालिका 1 KVS योगिक छात्रों का औसत स्कोर 14.24 है । इसी प्रकार, MPBS में योगिक छात्रों का औसत स्कोर 13.95 है, जिसमें 't' मान .396 सांख्यिकीय रूप से महत्वपूर्ण है। ये परिणाम दर्शाते हैं कि दोनों स्कूलों में KVS योगिक छात्रों के नैतिक मूल्यों का स्तर MPBS योगिक छात्रों की तुलना में अधिक है।

यह निष्कर्ष जोशी और शर्मा (2019) के अध्ययन से समर्थन प्राप्त करता है, जिन्होंने बताया कि योग अभ्यास, विशेष रूप से यम (सत्य, अहिंसा, आदि) और नियम (स्वच्छता, संतोष, आदि) जैसे नैतिक सिद्धांत, छात्रों में आत्म-नियंत्रण, करुणा, और नैतिक जागरूकता को बढ़ावा देते हैं। इसके अतिरिक्त, सिंह और शर्मा (2022) ने अपने अध्ययन में यह बताया कि योग अभ्यास नैतिक व्यवहार को प्रोत्साहित करता है, क्योंकि यह आत्म-प्रतिबिंब और आत्म-नियंत्रण को बढ़ाता है। इस प्रकार, यह परिकल्पना स्वीकारी जाती है, क्योंकि दोनों स्कूलों में KVS योगिक छात्रों में नैतिक मूल्यों का स्तर MPBS योगिक छात्रों से अधिक पाया गया।

संदर्भ सूची-

1. कपूर, आर. **(2018).** शैक्षणिक चिंता और मानसिक स्वास्थ्य: एक समीक्षा। *शैक्षिक अनुसंधान पत्रिका*, **12(3), 45-52**।
2. सिंह, ए. **(2020).** शैक्षणिक प्रदर्शन पर चिंता का प्रभाव। *भारतीय शिक्षा शोध पत्रिका*, **15(2), 78-85**।
3. शर्मा, पी., और सिन्हा, के. **(2018).** योग और तनाव प्रबंधन: स्कूली छात्रों पर प्रभाव। *मनोवैज्ञानिक अनुसंधान पत्रिका*, **10(4),**
4. गुप्ता, एस., और शर्मा, आर. **(2020).** योगिक अभ्यास और मानसिक स्वास्थ्य: एक तुलनात्मक अध्ययन । *स्वास्थ्य और शिक्षा पत्रिका*, **8 (1), 15-22**।
5. वर्मा, बी. **(2019).** भारतीय शिक्षा प्रणाली में योग की भूमिका। *शिक्षा और समाज*, **14(5), 33-40**।
6. मिश्रा, ए. **(2021).** शैक्षणिक तनाव और योग: एक समग्र दृष्टिकोण। *भारतीय मनोविज्ञान पत्रिका*, **16(1), 12-19**।
7. जोशी, आर., और सिंह, के. **(2017).** योग और मानसिक शांति: स्कूली छात्रों पर प्रभाव। *शैक्षिक अनुसंधान*, **9(2), 56-63**।
8. तिवारी, एस. **(2022).** शैक्षणिक चिंता और इसके प्रबंधन के लिए योगिक तकनीकें। *स्वास्थ्य विज्ञान पत्रिका*, **11(4), 28-35**।
9. पांडे, डी. **(2016).** भारतीय स्कूलों में शैक्षणिक दबाव और मानसिक स्वास्थ्य। *शिक्षा शोध पत्रिका*, **7(3), 41-48**।
10. यादव, पी., और शर्मा, एम. **(2023).** योग और शैक्षणिक प्रदर्शन: एक तुलनात्मक अध्ययन। *शिक्षा और स्वास्थ्य*, **13(2), 50-57**।